भारत में प्रतीक-पूजा का आरंभ और विकास

(BHARAT ME PRATIK PUJA KA ARAMBH AUR VIKAS)

भारत में प्रतीक-पूजा का आरंभ और विकास

लेखक
श्री साँवलियाबिहारी लाल वर्मा



बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत-सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या : ९८

प्रथम संस्करण : फरवरी, १९७४
२,०००

मूल्य : रु० ११-०० (ग्यारह रुपये) मात्र

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
कदमकुआँ, पटना—८०००३

मुद्रक :
पाण्डेय प्रेस,
पटना—८०००४

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप मे विश्वविद्यालयों मे उच्चतम स्तरो तक भारतीय भाषाओ के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ कराने के उद्देश्य से भारत-सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है और मौलिक ग्रथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत-सरकार, विभिन्न राज्य-सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यो मे इस योजना के परिचालन के लिए भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य-सरकार द्वारा स्वायत्त-शासी निकायो की स्थापना हुई है। बिहार मे इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रथ अकादमी के तत्वावधान मे हो रहा है।

योजना के अतर्गत प्रकाश्य ग्रथो मे भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक सस्थाओ मे समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रथ भारत में प्रतीक-पूजा का आरम्भ और विकास श्री सॉवलिया विहारी लाल वर्मा की मौलिक रचना है, जो भारत-सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रथ पाठको के लिए लाभदायक सिद्ध होगा, ऐसा विश्वास है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रथो के प्रकाशन-संबधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रो मे स्वागत किया जाएगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

पटना, — अध्यक्ष

दिनाक २८-२-७४ — बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रंथ भारत में प्रतीक-पूजा का आरंभ और विकास श्री सांवलिया विहारी लाल वर्मा की मौलिक कृति है। सांवलिया बाबू वरिष्ठ विद्वान् और अनुभवी लेखक है। यह ग्रंथ इन्होने बड़े परिश्रम से तैयार किया है। आशा है, इस ग्रथ से पाठको को यथोचित लाभ मिलेगा।

इसका मुद्रण-कार्य पाण्डेय प्रेस, पटना ने किया है। प्रूफ-संशोधन का कार्य श्री रामकिशोर ठाकुर ने किया है। इसके आवरण-चित्र का निर्माण तथा उसकी छपाई नेशनल ब्लोक एण्ड प्रिंटिंग वर्क्स, पटना ने की है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

शिवनन्दन प्रसाद

निदेशक

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना,

दिनाक २८-२-७४



देशरत्न स्वर्गीय डा० राजेन्द्र प्रसाद

समर्पण

भारतीय शील एवं संस्कृति

के प्रतीक

भारत के प्रथम राष्ट्रपति

देशरत्न स्वर्गीय

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

को

उनकी पुण्य स्मृति मे

सादर समर्पित !

—लेखक

मेरे दो शब्द

लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व 'विश्वधर्म-दर्शन' नामक ग्रंथ के प्रणयन के संदर्भ में मुझे चारों वेद, १७९ उपनिषद्, महाभारत, रामायण, पुराणादि धार्मिक ग्रंथ तथा अवेस्ता, बाइबल, कुरान, गुरुग्रंथ साहब आदि के अध्ययन-मनन का अवसर प्राप्त हुआ था। उन्हीं दिनों भारत में 'प्रतीक (मूर्ति)-पूजा का आरंभ और विकास' पर ग्रंथ लिखने की प्रेरणा जगी थी, किन्तु सन् १९६४ ई० तक कुछ ऐसी व्यस्तता रही कि उस प्रेरणा को मैं मूर्त रूप नहीं दे सका। व्यस्तता कोई जागतिक नहीं थी। 'अंतर्राष्ट्रीय विधि' नामक ग्रंथ प्रकाशनार्थ प्रेस में भेजना था, संस्कृति-संस्थान, बरेली से प्रकाशित होनेवाले 'गीता का समन्वयवादी भाष्य' को अंतिम रूप देना था तथा बदरीनाथ, रामेश्वरम्, द्वारिकापुरी आदि की यात्रा में अनुभूत भारत की धार्मिक गरिमा को 'भारत के तीर्थ और मंदिर' नामक पुस्तक में लिपिबद्ध करना था। और, जब 'अंतर्राष्ट्रीय विधि' प्रेस में प्रकाशनार्थ चली गई तथा 'भारत के तीर्थ और मंदिर' तथा 'गीता का समन्वयवादी भाष्य' की पाडुलिपियाँ प्रेस के लिए तैयार हो गईं, तब वह गुप्त प्रेरणा पुन. अपनी पूरी शक्ति के साथ जगी और लगभग पाँच वर्षों के निरंतर अन्वेषण, अध्ययन तथा संयोजन के पश्चात् यह ग्रंथ पूरा हो सका।

अनेक भावुक हिंदुओं का विश्वास है कि मूर्ति-पूजा वेदकाल के आर्यों में प्रचलित थी। इस धारणा की पुष्टि के लिए कतिपय विद्वान् वेदादि प्राचीन ग्रंथों के मंत्रों तथा श्लोकों का मनमाने ढंग से अनुवाद कर मूर्ति-पूजा को वैदिक काल के आर्यों में प्रचलित प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। उनके ऐसे तर्क में आस्था और भावना ही प्रबल है, ऐतिहासिक यथार्थ नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ में उसी ऐतिहासिक तथ्य एवं यथार्थ का सप्रमाण प्रतिपादन करने का प्रयास है।

इस ग्रंथ का अंतिम परिच्छेद, हिंदी के विद्वान् चिंतक, प्राचार्य श्री नवलकिशोर गौड़ (लंगटसिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर) के सुझाव का परिणाम है। सीतामढ़ी आने पर उन्होंने इस ग्रंथ की पांडुलिपि देखी और पढ़कर प्रभावित हुए। उन्होंने सुझाव दिया कि यदि 'मूर्ति-पूजा की चित्रकला, स्थापत्य-कला तथा मूर्तिकला पर प्रभाव' नामक एक परिच्छेद जोड़ दिया जाता तो और भी

उत्तम होता। अत इस ग्रथ का अंतिम परिच्छेद उन्ही के सुझाव का कलात्मक परिणाम है। इस सुझाव के लिए मैं उनका आभारी हूँ।

बिहार के लोकायुक्त डाक्टर श्रीधर वासुदेव सोहोनी, आई० सी० एस० (अवकाश-प्राप्त) भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ एव विख्यात विद्वान् है। भारतीय सस्कृति के सूक्ष्म तत्त्वो के वे निष्णात पारखी हैं। अतः उपयुक्त व्यक्ति समझकर मैंने जब उनसे इस ग्रथ की भूमिका लिखने के लिए अनुरोध किया तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस कृपा के लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

यशस्वी कवि एव गोयनका महाविद्यालय, सीतामढी के विद्वान् प्राध्यापक डॉ० मदनमोहन पूर्णेन्दु, डी० लिट्० ने अपने स्मरणीय किन्तु अबतक अप्रकाशित शोध-ग्रथ (कला-विवेचन के सदर्भ मे मध्ययुगीन हिंदी-काव्य) मे विवेचित प्रतीक एव बिब-विधान के आधार पर इस ग्रंथ के कई स्थलो के लिए मौलिक सुझाव देकर इसकी उपयोगिता बढाई है। अत वे मेरे स्नेह के विशेष अधिकारी है।

मेरे जामाता श्री रामनारायण गौड, बी० ए० ने प्रेस के लिए पाडुलिपि तैयार की है। अत मेरी शुभकामनाएँ उनके लिए हैं।

इस ग्रथ मे भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न स्व० डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का जो चित्र दिया गया है, उसको बिहार-सरकार के जनसपर्क विभाग के वरिष्ठ कलाकार, मेरे कनिष्ठ पुत्र श्री विजय कुमार वर्मा ने बनाया है। यही इस चित्र की विशेषता है।

इस ग्रथ के लिखने मे वेदादि प्राचीन ग्रथो के अतिरिक्त कतिपय प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण ग्रथो एव लेखो से मुझे सहायता मिली है। अत मै उन सबके लेखको का आभारी हूँ।

प्रस्तुत विषय पर मुझे कोई प्रामाणिक ग्रथ हिंदी या अग्रेजी मे देखने को नही मिला। अत. इस महत्वपूर्ण विषय का मैने सक्षेप मे दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। मेरा ज्ञान सीमित है, अत मैं यह कहने की धृष्टता नही कर सकता कि मेरा विचार अकाट्य है। मेरा मुख्य उद्देश्य विद्वानो का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकृष्ट करना है।

श्री मथुरा प्रसाद स्मारक गीताभवन
सीतामढ़ी कोर्ट
चैत्र शुक्ल रामनवमी, सं० २०३१ (१-४-'७४) सांवलियाबिहारी लाल वर्मा

भूमिका

I

मेरे ज्ञानवृद्ध सन्मित्र श्री साँवलिया विहारी लाल वर्मा जी ने गत ५० वर्षों से अधिक की अवधि मे श्रीशारदा की उपासना की है, और ऐसे दीर्घकाल मे, उनके अविरत परिश्रम के आधार पर उनकी लेखनी अस्खलित गति से चलती आ रही है। न केवल महाभारत (१९१५) और रामायण (१९६६) पर उनके ग्रथ प्रसिद्ध हुए हैं, बल्कि धार्मिक यात्राओ के अनेक वर्णनात्मक ग्रंथ उन्होने लिखे हैं—'बद्री-यात्रा' (१९४८), 'दक्षिण-भारत की यात्रा' (१९५६), 'रामेश्वरम्-यात्रा (१९६०)। उनके दर्शन-विषयक ग्रथ भी सुप्रसिद्ध है : 'इस्लाम की झाँकी' (१९४८), 'विश्वधर्म-दर्शन' (१९५३) और लगभग चालीस उपनिषदों पर भाष्य ('नई धारा' मे धारावाहिक)। उनके दो अप्रकाशित ग्रथ भी मुद्रण की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जिनमे शकराचार्य मे लेकर डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् तक, गीता का समन्वयवादी भाष्य प्रमुख है। इन कृतियो के अतिरिक्त उनका उल्लेखनीय ग्रथ, 'अतर्राष्ट्रीय विधि', सन् १९६५ ई० मे प्रकाशित हुआ, जो उनके व्यवसाय के व्यासग मे जो अध्ययन हुआ, उसका परिचय देता है। श्री वर्माजी का जीवन विधायक दृष्टिकोण के आधार पर बहुत प्रयत्नशील और क्रियाशील होने से दूसरो के लिए आदर्शभूत हो चुका है। कवि ने कहा है—'न ह्येकस्मिन् अतिशयवतां सन्निपातो गुणानाम्'। परन्तु श्री वर्माजी को इस नियम का अपवाद मानना चाहिए। विशेषत. वर्तमान प्रसग मे यह दिखाई पड़ता है कि श्री वर्माजी के इस ग्रंथ की निर्मिति की भूमिका वर्षों से समृद्ध हो रही थी, और अपने सतुलित तथा गभीर चितन और मनन से परिपूर्ण यह विश्लेषण उन्होने हिंदी-साहित्य के क्षेत्र मे उपस्थापित किया है।

इस ग्रंथ का नाम है 'भारत मे प्रतीक (मूर्ति)-पूजा का आरभ और विकास', और इसमे तीन खडो मे बाँटे हुए सोलह अध्याय हैं। ग्रंथ के केवल नाम से इसके अतरंग की पहचान नहीं होगी, क्योंकि ग्रथकर्त्ता ने प्रतीक-पूजा का ही विचार नही किया है, बल्कि मूर्ति-विज्ञान, भारतीय धार्मिक पथ और सप्रदाय तथा यात्रा-स्थलो का भी विवरण दिया है। अत मे ५३ सदर्भ-ग्रथो की सूची है।

II

किसी वन्य पशु-विशेष का जब मानव के रूप मे कायापलट होकर उसकी बुद्धि का विकास होने लगा तब मानव-संस्कृति और सामाजिक जीवन का आरभ हुआ। परन्तु उस काल से अबतक ऐसी परिस्थिति कभी भी नहीं रही, जिसमे मानव-समूह में भिन्न-भिन्न स्तरो पर विचार, और उनसे बँधे हुए आचार, भिन्न-भिन्न प्रकार के नहीं रहे। मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना—यह एक अकाट्य और चिरंतन अनुभव है; और यही कारण है कि किसी विशिष्ट कालखड के लिए यह कदापि नही कहा जा सकता है कि उसके किसी विशिष्ट समाज के विचारों मे एकवाक्यता थी या उनके आचार भी एक ही प्रकार के थे। इस कसोटी पर यदि हम वैदिक काल और समाज की ओर देखेगे तो ऐसा कहना साहस होगा कि उस युग मे मूर्तिपूजा कहीं थी भी नही। विद्वानो मे इस विषय पर एकमत नही हुआ है जैसाकि स्वाभाविक ही है। इस बिंदु पर चर्चा करते हुए डॉ० जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने अभिप्राय दिया है कि वैदिक धर्म की प्राथमिक अवस्था मे मूर्ति-पूजा को स्थान नहीं मिला। यह बात यदि स्थूल रूप मे सही है, तो स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक वाङ्मय एक सीमित स्तर के लोगो के हाथ मे था, जो उस काल के बुद्धिजीवी थे, और उन्हे छोड़कर अन्य स्तरो के लोगो के बारे मे वैसा ही समझना भ्रम होगा (देखे Development of Hindu Iconography, pp. 66—6, 2nd edition, 1956)।

ग्रथकर्ता ने इस विषय पर यह निष्कर्ष निकाला है कि "वैदिक काल मे प्रतीक (मूर्ति)-पूजा आर्यों मे नहीं थी। ज्ञान और कर्म-सपत्ति का, प्रभु-अनुग्रह के साथ, सामञ्जस्य ही वैदिक भक्ति का स्वरूप था" (पृ० १४)। जैसाकि मैंने ऊपर बतलाया है, वैदिक काल का अधिकाश वाङ्मय इस ग्रथकर्ता के सिद्धात की पुष्टि अवश्य देता है, यद्यपि कही-कही मूर्तिपूजा के संकेत भी उसमे मिलते है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद मे रुद्र की रगीन मूर्ति (II. xxxiii 9), वरुण का सोने का कवच (I. xxv. 13) तथा मारुतो की मूर्तियो (V LII. 155) के भी उल्लेख मिलते है। यह अनुमान निकालना सही नहीं होगा कि तत्कालीन मूर्तिपूजा केवल अनार्यों मे ही प्रचलित थी या वैदिक युग के पश्चात् साधारण जनता मे ही स्वीकृत थी।

वैदिक संस्कृति तथा मोहेंजोदडो या हडप्पा-सस्कृति के बीच क्या संबध थे और कितना कालांतर हुआ, यह भी एक अत्यत विवादग्रस्त प्रश्न है। हो

सकता है कि वेदों में जो परिस्थिति दिखाई गई है वह मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की संस्कृति के बहुत पहले के काल की होगी। ग्रंथकर्ता ने 'अनार्य देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात्' नामक अपने द्वितीय परिच्छेद में इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है। उनका निष्कर्ष यह है कि "सिंधु-घाटी के पुरुष-देवता और वैदिक रुद्र के समीकरण का एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ कि आर्यधर्म में देवों की उपासना का आरम्भ हुआ" (पृ० ३६)। विद्वान् लेखक यह भी कहते हैं कि "सिंधु-घाटी के लोगों का आर्यजाति से सम्मिश्रण का दूसरा महान् परिणाम हुआ कि भारत में मंदिरों और मूर्तियों की स्थापना आरम्भ हुई ....इस प्रकार देवालय और उसमें स्थापित मूर्ति की पूजा का श्रीगणेश हुआ ....रुद्र की उपासना ने जो स्वरूप धारण किया उसमें लिंगोपासना शुरू हो गई ... .इस सम्मिश्रण का एक और प्रभाव यह पड़ा कि निम्न कोटि के लोगों ने कुछ नए देवी-देवताओं को अपनाया। ऐसे देवी-देवता असभ्य जंगली अनार्यों द्वारा सर्वत्र पूज्य थे" (पृ० ३७)।

मेरी अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार की है। जब आर्यों का आक्रमण भारत में हुआ तब सिंधु-घाटी-हड़प्पा संस्कृति से उनका संपर्क और संघर्ष तो हुआ ही। परन्तु इस प्रकार ये घटनाएँ हुई कि तत्कालीन उस प्रदेश के भारतीयों के सब स्तर के लोग आर्यों के सब स्तरों के साथ संबंधित हुए, और ऐसा संपर्क या संघर्ष कई शतकों तक चालू रहा, जिससे उसके परिणामों का वर्गीकरण इतनी आसानी से नहीं किया जा सकता है। साथ-साथ यह भी मानना आवश्यक है कि पूर्वी भारत में केवल जंगली जातियाँ नहीं थी—वहाँ के लोग अनार्य तो थे ही, परन्तु सुसंस्कृत भी थे। अत उनके साथ आर्यों का संघर्ष भी सीमित नहीं रहा। सामाजिक परिवर्तन अल्प अवधि में नहीं होता है। दर्शन और कर्म-कांड के बारे में, इस परिस्थिति में, आर्यों और अनार्यों में क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हुईं, यह निश्चित रूप से कहना अभी तक कठिन ही रहा है। स्मरण रहे, स्वयं 'पूजा' शब्द, देववाणी का नहीं, बल्कि द्राविड़ भाषा का है। आर्यों के भारतीय आक्रमण के युग में, देश में सुसंस्कृत अनार्य अवश्य थे। नहीं तो व्रात्य स्तोम का प्रयोजन ही क्या रहता। व्रात्य संस्कृति में यक्षों की, वृक्षों की और पक्षियों की पूजा होती थी। अनेक कलाएँ परिणत अवस्था में थीं। व्रात्यों के पूजा-प्रतीकों से, नि.संदेह, आर्य-संस्कृति पर परिणाम हुआ है।

ग्रंथकर्त्ता के तर्क के अनुसार रामायण-काल मे, "मंदिर और उसमे स्थापित मूर्ति की कहीं झलक भी नहीं है" (पृ० ५२)। परन्तु विपक्ष मे कहा जा सकता है कि ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देवताओ के मंदिरो के उल्लेख वाल्मीकि-रामायण मे मिलते हैं। उदाहरण के लिए देखा जाए III, xii, 72-73, जहाँ ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र इत्यादि देवताओ के पूजा-स्थान का उल्लेख है और II ıv. 30 मे 'देवतागार' का।

जहाँ तक महाभारत-काल का प्रश्न है, ग्रंथकर्त्ता ने स्व० श्री चिंतामणि विनायक वैद्य महोदय के विचार उद्धृत किए है, "महाभारत-काल मे यद्यपि मदिर और मूर्तियाँ भी रही हो तथापि आर्यों के आह्निक धर्मकृत्य मे अबतक देवताओ की पूजा न थी। यह बात महाभारत और गृह्यसूत्रो से भी निश्चित दीख पडती है। वैदिक देवता कुल ३३ माने गए थे। परन्तु तैंतीस देवताओ में से बहुत की प्रतिमाएँ बनी अथवा मदिर तैयार हुए।" परन्तु महाभारत मे मूर्तिपूजा के विपुल उल्लेख मिलते हैं, उदाहरणार्थ वन-पर्व के ८२, ८३, एव ८४ अध्यायो मे। इस सबध मे मैकडोनेल का ग्रंथ 'A History of Sanskrit Literature', पृ० २१० भी देखा जाए।

ग्रंथकर्त्ता का निष्कर्ष यह है कि पाणिनि के युग मे भारत मे भक्तिधर्म का उदय हुआ, जो इस देश के धार्मिक इतिहास की अत्यत महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है, जिसका व्यापक परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर हुआ (पृ० ७५)। उन्होने यह भी बतलाया है कि भक्तिधर्म के उदय का दूसरा प्रभाव, पूजा की पद्धति पर पड़ा, जो प्राचीन यज्ञविधि से सर्वथा भिन्न थी। ऐसे निष्कर्ष ग्रंथ-लेखक ने डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक शोध-प्रबंध के आधार पर दिए हैं। परन्तु, ऐसा तर्क निकालना अनुचित नहीं होगा कि व्याकरण-विषयक ग्रंथो मे जो सामाजिक परिस्थिति प्रतिबिंबित होती है वह दीर्घकालीन उत्क्रांति का ही परिचय है—न कि उसी समय या दशक या शतक से उत्पन्न हुई परिस्थिति का।

इसके पश्चात् जो कालखंड आता है, उसकी प्रतीक-पूजा-विषयक जानकारी प्राचीन मुद्राओ से, विशेषत. आहत मुद्राओ से, पर्याप्त मिलती है। हाल ही मे, अगेथोक्लीज नाम के एक यवन राजा की रजतमुद्राएँ अफगानिस्तान मे प्राप्त हुई हैं, जिनपर गणपति, कृष्ण तथा बलराम देखने मे आते हैं। कुषाण-

सम्राटो की मुद्राओं पर देवताओ की मानो चित्रमाला ही अंकित हुई है। गुप्त-सम्राटो ने भारतीय संस्कृति के पुनरुज्जीवन का प्रयत्न किया और उनकी मुद्राओ पर अनेक देवताओ का चित्रण हुआ है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपना एक महत्त्व रखता है। नीराजन-विधि के अनेक प्रसग अकित हुए हैं। सिंहवाहिनी दुर्गा है। नरसिंह का अवतार भी कुमार गुप्त (प्रथम) की मुद्रा की एक भाँति पर मुद्रित है। प्रत्येक राजवश ने अपनी-अपनी मुद्राओ पर अपने निजी श्रद्धा और भक्ति के अनुसार पूजनीय वस्तु, प्रतीक, चिह्न या देवी-देवताओ को अकित किया है, जो अभ्यसनीय है।

भारतीय सस्कृति के सबध मे पुराणो के कालखड मे विस्तृत, निश्चित और परिपूर्ण जानकारी मिलने लगी, और मूर्तिविज्ञान तथा मूर्तिपूजा—इन दो विषयो पर भी प्रभूत प्रमाण मे पुराणो से प्रकाश पडता है। ग्रथकर्त्ता ने इस सामग्री का समुचित उपयोग किया है—यहाँ तक कि उनका निष्कर्ष है कि "पुराण ही वर्त्तमान हिंदू-धर्म की आधारशिला है" (पृ० ८६)। आगे चलकर उन्होने पाशुपत मत, पाञ्चरात्र (भागवत) मत, वैखानस मत, शाक्त मत—इन महत्त्वपूर्ण मतो की चर्चा प्रतीक-पूजा के सदर्भ मे की है। अवतारवाद के परिच्छेद मे दशावतारो की चर्चा है। जैन तथा बौद्ध धर्मों मे मूर्तिपूजा के स्थान के सबध मे सातवें तथा आठवें परिच्छेद मे सक्षिप्त विवरण दिया गया है।

ग्रथ के तीसरे खड मे सतमत और गुरुपूजा का विवरण है। ग्रथकर्त्ता का यह निष्कर्ष है कि "मनुष्य-मात्र की एकता और समता, तथा जातिवाद का खडन, मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का विरोध—सत-संप्रदाय का मौलिक आधार था" (पृ० १४६)। ग्रथकर्त्ता ने यह भी बतलाया है कि श्रीराम की उपासना श्रीकृष्ण की उपासना के बाद प्रचलित हुई। किन्तु श्रीराम की भक्ति-भावपूर्वक पूजा का प्रचार भारत मे दसवी शताब्दी के अनतर ही हो पाया (पृ० १३०)।

ग्रथ का अवशिष्ट भाग वर्णनात्मक है। इतनी विपुल जानकारी इतनी कम संख्या के पृष्ठो मे क्वचित् ही देखने मे आती है। ग्रथकर्त्ता ने दक्षिण-भारत के एक विलक्षण मदिर-मस्जिद का वर्णन दिया है। यह स्थान "दक्षिण-भारत के दक्षिणी छोर पर स्थित नागपट्टिणम् बदरगाह से छह मील दूर नागूर मे स्थित है और 'नागूर आडवन' के नाम से प्रसिद्ध है। 'आडवन', तमिल का शब्द है,

जिसका अर्थ है, 'भगवान' ।'''' '''' इस मदिर-मस्जिद के सात फाटक हैं। वे इस बात के प्रतीक माने जाते हैं कि अगर कोई व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, बीमारी, बुढापा और असत्य नामक सात द्वारों को पार कर ले, तो उसे भगवान के दर्शन होगे ।" श्री वर्माजी ने मार्मिक अभिप्राय लिखा है, "नागूर-आडवन, हिंदुत्व और इस्लाम को ही नही, उत्तर और दक्षिण भारत को भी जोडनेवाली कडी है" (पृ० २२५-२२६)। केरल प्रदेश की कुछ वर्तमान विशेषताएँ विद्वान ग्रथकर्त्ता ने जो पृ० २२८—२३१ पर दी हैं तथा दुर्योधन और रावण के मदिर और उनकी पूजा के बारे मे पृ० २३१-२३२ पर जो जानकारी दी है, वह प्राय अन्यत्र दुर्लभ मानी जा सकती है ।

प्रतीक पूजा का भिन्न-भिन्न शिल्पकलाओ पर प्रभाव कैसे हुआ, यह तृतीय खंड के तीसरे परिच्छेद मे सु दर ढग से दिग्दर्शित हुआ है ।

III

यह कहने की आवश्यकता नही है कि श्री वर्माजी ने निगम तथा आगम ग्रथो का आवश्यक परिशीलन करने और दीर्घकाल के विचार-मथन के पश्चात् इस ग्रथ की रचना की है। निर्गुण-निराकार का छोडकर साकार-सगुण का आधार परमेश्वर के तत्त्व का माननेवाला व्यक्ति क्यो लेता है, इसका उत्तर विष्णुपुराण मे बहुत सु दर शब्दो मे मिलता है—

ध्यात्वार्कमण्डले विष्णु वेदमंत्रैरभिष्टुतम् ॥
धार्यमाणे तथैवाग्नौ जुहुयात् कार्यसिद्धये ।
तत्र यत्र केवल ध्यान वेदान्तोक्तमनाश्रयम् ॥
न तत्रेन्द्रियदौर्बल्यात् कर्मस्थस्याधिकारिता ।
यथा गिरितटाग्रस्थवनस्पतिफलेच्छया ॥
उपायो वर्ततेऽश्रान्तस्तथामौ यत्नमाचरेत् ।
सर्वत्र क्रमवान् यत्न कार्यो नेच्छैव केवला ॥
तत् कायवाङ्मनोवेगै क्रमादिच्छेत् परांगतिम् ।
निराकारे तु या भक्त्या पूजेष्टा ध्यानमेव वा ॥
रमणीयमिवाभाति तदनर्थस्य कारणम् ।
स्थूलभावप्रसङ्गेन जन्मनार्थेन्द्रियाणि हि ॥
सूक्ष्मार्थं न प्रपद्यन्ते चिराच्च किमुताचिरात् ।
न च रूप विना देवो ध्यातु केनापि शक्यते ॥

सर्वकर्मनिवृत्ता हि बुद्धिः कुत्रास्य तिष्ठति ।
निवृत्ता ग्लायते बुद्धि निद्रया वा परीयते ।।
तस्माद् विद्वानुपासीत बुद्ध्या साकारमेव तम् ।
अस्ति तस्य परोक्षं तदिति किञ्चिदनुस्मरेत ।।
सर्वथाकारमुद्दिष्टं न परित्यज्य पण्डितः ।
परं देवमुपासीत मुक्तये वा फलाय वा ।।

—विष्णुपुराण २१ : ४९ब—५८

श्री वर्माजी ने अपने इस नवीनतम ग्रंथ में भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करते हुए प्रतीक-विज्ञान तथा पूजा से संबंधित प्रश्नों का ऊहापोह ऐतिहासिक काल-खंडों के आधार पर प्रस्तुत किया है। दर्शन और धर्म, संप्रदाय और पंथ, रूढ़ि और आचार—इन सबकी आपस में प्रक्रियाएँ क्या होती रही, यह दिखाना अत्यंत कठिन काम है। श्री वर्माजी ने संबंधित वाङ्मय का अध्ययन करके यह सारगर्भित ग्रंथ हिंदी वाचकों के सामने रखा है, जिससे हिंदी-साहित्य में एक नया प्रांगण खोला गया है। हिंदी-जगत् इसका स्वागत करेगा, यह निस्संदेह है। मैं विद्वान् मनीषी का अभिनंदन करता हूँ और परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि भविष्य में भी उनकी प्रतिभा द्वारा उनकी कीर्तिलता के नए-नए अनेक प्रतान पल्लवित होते जाएँगे। मैं उनका आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे यह भूमिका लिखने का अवसर देकर कृतार्थ किया है।

श्रीधर वासुदेव सोहोनी

4, कौटिल्य मार्ग, पटना-1
5 ज्येष्ठ-शुक्ल, सं० 2031
26 मई, 1974

विषय-सूची

पहला खंड

दूसरा खंड



पहला खंड

प्रथम परिच्छेद

वैदिक काल

भारत मे मूर्ति-पूजा का आरम्भ कब और किस अंचल मे हुआ, यह कहना कठिन है। भारत की सभ्यता प्राचीनतम सभ्यता मानी जाती है। विद्वानों का मत है कि सिन्धु-सभ्यतावाले प्रतीक(मूर्ति) पूजक थे। मोहेंजोदडो तथा हडप्पा मे एक प्रकार की मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं, जिन्हे पुरातत्त्व-शास्त्री मातृ-देवी की मूर्ति मानते है। ये मूर्तियाँ प्राय नग्न है। मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल मे ईजियन प्रान्त से सिन्धु-प्रान्त के बीच के सभी देशों—फारस (ईरान), मिस्र, सीरिया, इराक, ट्रासकास्पिया, लघु एशिया आदि मे प्रचलित थी। इन देशो की मूर्तियों मे इतनी विशिष्ट समानताएँ हैं कि यह धारणा स्वीकार करनी पडती है कि प्रागैतिहासिक युग मे मातृ-पूजा का भूमध्य सागर से भारत तक प्रचार था। बलूचिस्तान मे भी कुछ मातृदेवी की मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं। मातृदेवी की पूजा की उत्पत्ति धरती माता की पूजा से हुई होगी। बेबिलोन की कुछ मुद्राओ पर मातृदेवी अनाज की बाल के डठल के साथ दिखलाई गई है। मेसोपोटेमिया के लेखो से ज्ञात होता है कि मातृदेवी हर प्रकार से नगर-निवासियो की रक्षा करती थी। इन्ही दृष्टिकोणो से सिन्धु-प्रान्त मे मातृदेवी की पूजा होती रही। ऋग्वेद मे मातृदेवो के लिए 'अदिति', 'प्रकृति' या 'पृथ्वी' शब्द का प्रयोग हुआ है।

इन खुदाइयो से ऐसी भी मुद्रा मिली है, जिसे पुरातत्त्व-पण्डित प्रागैतिहासिक शिव का चित्रण मानते हैं। इस आकृति मे शिव के मुख हैं। शिवजी हाथ दोनो ओर घुटनो के ऊपर रखे हुए हैं, और पलथी मारकर पूर्णयोग की अवस्था मे एक तिपाई पर बैठे हैं। तिपाई की दाईं ओर चीते तथा बाईं ओर गैंडे और भैंस के चित्र हैं। शिवजी के सम्मुख द्विश्रृंगी हिरन खडे हैं। शिवजी के सिर पर दो सीग है, जो सिरबन्द से बँधे हैं। प्राचीन काल मे सीग धार्मिक प्रतीक समझे जाते थे। सम्भवत, सिन्धु-प्रान्त के शिव के सींग भी किसी ऐसी ही धार्मिक भावना के प्रतीक हो सकते हैं। सर जॉन मार्शल की राय है कि ऐतिहासिक युग मे यही त्रिभग प्रतीक त्रिशूल के रूप मे आया।

मोहेंजोदडो की शिव-आकृति में सम्भवत किन्ही तीन देवताओ को एक करने का प्रयत्न किया गया है। शिवजी को दूसरे प्रकार को मूर्ति एक ताम्रपत्र पर अंकित है। इसमे शिव योगासन मे हैं। शिवजी के दोनो घुटनों के पास दो भक्त बैठे हैं। दो सर्प सम्मुख बैठे हैं। शिवजी अपने गले मे भी सर्प धारण किए हुए हैं। कुछ प्रतिमाएँ ऐसी भी हैं, जिनमे आधा भाग नारी का और आधा भाग पुरुष का है। इन्हे 'अर्धनारीश्वर' के नाम से पुकारा गया है। मोहेंजोदडो मे लिंग और योनि की कई वस्तुएँ मिली हैं। इनके अतिरिक्त इन स्थानो पर पत्थर के अनेक लिंग प्रतीक मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु-घाटी मे भी लिंगोपासना का प्रचार था। इन प्रतीको के जननेन्द्रिय-सम्बन्धी होने मे कोई सन्देह नही है।[1]

अत सिन्धु-घाटी मे जो कुछ पाया गया है, वह विशेष रूप से बडे महत्त्व का है, क्योकि उससे भारत के आर्य-पूर्व युग के इतिहास पर कुछ प्रकाश पडता है। किन्तु श्री पु० ना० ओक का कथन है कि "मोहेंजोदडो मे शिव-फलक की उपलब्धि एवं सिन्धु-घाटी की लिखावट मे वेदो के नामो के स्पष्टोल्लेखो ने पश्चिम के विद्वानो की मान्यताओ को पूर्णरूप से मूल-रहित कर दिया है। अब यह नहीं कहा जा सकता है कि मोहेंजोदडो की सभ्यता द्राविडो की तथा वेद-पूर्व की थी।" मेरे विचार मे मोहेंजोदडो की सभ्यता भले ही वेद-पूर्व न हो, किन्तु वह आर्य-सभ्यता नही थी, क्योकि आर्य-सभ्यता मे मूर्ति-पूजा का प्रचलन भारत मे निश्चित रूप से पहले नही था। और, अनार्यों की लिंग पूजा का वेद के दो स्थलो पर उपहास किया गया है।[2] ज्ञात होता है कि आर्य-सभ्यता और मोहेंजोदडो की सभ्यता समकालीन सभ्यताएँ थी, क्योकि आर्य और अनार्य के संघर्ष का इतिहास लम्बा था और संघर्ष-काल मे दोनो सभ्यताएँ विभिन्न अंचलो मे फलती-फूलती रही। केरल निश्चित रूप से द्राविड सभ्यता का प्रमुख अंचल था। वहाँ अनादि काल से शिव तथा लिंग के प्रति श्रद्धा, नाग पूजा, अनंग पूजा, जीव-बलि तथा नरबलि आदि की प्रथा मोहेंजोदडो की सभ्यता से मेल खाती है न कि आर्य-सभ्यता से। सबसे महत्त्व की बात यह है कि सिन्धु-घाटी की खोजों से हमें अप्रत्याशित सुराग मिले हैं, जो भारतीय धर्म और

1. *Swami Sankaranand* 'Pre-historians Indus', Vol. I & II.
   ,, ,, —**Indus People Speak.**

2. ऋग्वेद ७/२१/५, १०/९९/३

संस्कृति के बहुत-से ऐसे पहलुओं को समझने में सहायक हुए हैं। शैवधर्म के इतिहास के लिए तो इन सिन्धु-घाटी की खुदाई सम्बन्धी खोजों का महत्त्व है। इससे शैवमत के उन्हीं रूपो का समुचित समाधान हो जाता है, जिनका उद्‌भव हम वैदिक धर्म मे नही पा सकते, और जिनको अभी तक संतोषजनक ढंग से समझाया नही जा सका है।

"सर्वप्रथम हम शैवमत के सबसे प्रमुख रूप लिंग-पूजा को लेते हैं। यह तो निश्चित है कि जिस लिंग-रूप मे भगवान शिव की उपासना सबसे अधिक होती है, वह प्रारम्भ मे जननेन्द्रिय सम्बन्धी था। यह ठीक है कि कुछ विद्वान ऐसा नही मानते और उन्होने लिंग को अन्य प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। उनके समस्त तर्कों का आधार यही है कि वैदिक युग के अपरकाल मे लिंग का जननेन्द्रिय से कोई सम्बन्ध नही था और वैदिक धर्म मे भी जननेन्द्रिय की उपासना का कोई संकेत बिल्कुल नही मिलता। परन्तु ये सब तर्क उन अखंडनीय प्रमाणो के आगे अमान्य हो जाते हैं, जो निश्चित रूप से यह सिद्ध कर देते हैं कि प्रारम्भ मे लिंग जननेन्द्रिय सम्बन्धी था। कुछ अति प्राचीन और यथार्थ रूपी बडी-बडी लिंग-मूर्तियाँ तो हमे मिलती ही हैं। इनके अतिरिक्त महाभारत मे स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से कहा गया है कि लिंग-मूर्ति मे भगवान शिव की जननेन्द्रिय की ही उपासना होती थी। प्राचीन पुराणो मे भी लिंग-मूर्ति को जननेन्द्रिय सम्बन्धी माना गया और उसकी उपासना का कारण बताने के लिए अनेक कथाएँ रची गई।"[1]

जननेन्द्रिय की उपासना का प्राचीन सभ्य संसार मे बहुत प्रचार था। प्रायः सभी देशो मे लिंग और योनि की किसी-न-किसी रूप मे प्रतिष्ठा थी। एक ओर मिस्र मे उसकी उपासना होती थी, जहाँ विशाल और यथार्थ-रूपी लिंगो के जुलूस खुलेआम और बडे समारोह के साथ निकाले जाते थे, तो दूसरी ओर जापान मे भी वे पूजे जाते थे और साधारणतया लिंग-मूर्तियाँ अलग कर ली जाती थी और पूजा के लिए सडको के किनारे उन्हे स्थापित कर दिया जाता था। किन्तु, लिंगोपासना का प्रमुख केन्द्र पश्चिम एशिया था, जहाँ बेबिलोन और असीरियन लोगो की महान् सभ्यता की उत्पत्ति हुई और जहाँ वे फूली-फली। ज्ञात होता है कि लिंग पूजा का प्रचलन दक्षिण पूर्व में तथा अरब और ईरान मे भी था।

---

1. शैवमत : डॉक्टर यदुवंशी पृ०, २५

किन्तु सन् १९५४ ई० मे जब मुख्य भूमि और काठियावाड प्रायद्वीप को जोडनेवाले दालान का सर्वेक्षण किया गया तो लोथल के बन्दरगाह नगर का पता चला। इस स्थान पर सन् १९५५ से १९६१ ई० तक जो खुदाई हुई है, उससे हड़प्पा-कालीन संस्कृति की अनेक नई बातो पर प्रकाश पडा है। यह सभ्यता ईसा से २,४५० वर्ष पूर्व की है।

ऐसे पर्याप्त प्रमाण मिले हैं, जो यह बताते हैं कि यहाँ के निवासी किसी-न-किसी रूप मे अग्नि-पूजक थे। लोथल के लोगो के धार्मिक कृत्य सिन्धु-घाटी के निवासियो के धार्मिक कृत्यो से बहुत भिन्न थे। लोथल मे मातृदेवी की उपासना का बिल्कुल प्रचलन नही था, और न वहाँ तथाकथित लिंग-पूजा के चिह्न प्राप्त हुए हैं। लोथल मे प्राप्त हुए मुहरो-ठप्पो पर किसी भी मानवीय अथवा दैवी आकृति का चित्रण नही है। इसलिए इनकी आकृतियो के साथ सिन्धु-घाटी की सभ्यता के सीगवाले देवता का सामजस्य स्थापित करने का प्रश्न ही नही उठता।

हड़प्पा, रोपड आदि की तरह लोथल में भी लोग मृतक को दफनाते थे, पर लोथल मे अन्त्येष्टि-क्रिया की एक अद्‌भुत बात यह थी कि एक से अधिक मृतको को एक साथ दफनाया जाता था। इस हालत मे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ सती-प्रथा प्रचलित थी। लोथल मे पशु-बलि की प्रथा थी, इसका भी प्रमाण मिला है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भारत के सब अचलो मे आदि निवासियो मे समान रूप से मातृ पूजा तथा लिंग पूजा प्रचलित नही थी। ऋग्वेद मे आए दो मत्रो का हवाला देकर कतिपय विद्वानो का कहना है कि भारत के अनार्यों मे लिंग-पूजा का प्रचलन था।[1] अधिकाश पूर्वी एव पश्चिमी इतिहासज्ञो तथा दार्शनिको का मत है कि आर्यों मे मूर्ति-पूजा का चलन जैन-बौद्ध काल मे हुआ। पुराणो के आधार पर भारतीयो की धार्मिक भावना के अनुसार मूर्ति-पूजा भले ही अनादिकाल से चली आती हुई जान पडती है, किन्तु जहाँ तक ऐतिहासिक खोज का सबध है, इसका समय जैन-बौद्ध काल से पहले

. न यातव इन्द्र-जुजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥

ऋग्वेद, मण्डल ७, सूक्त २१, मंत्र ५

अर्थ—हे इन्द्र! राक्षस हमारा घात-पात न करें। हे बलशाली वीर!

नही जाता। इस धारणा की पुष्टि का एक बहुत बडा प्रमाण यह है कि विभिन्न अचलो की खुदाई में बौद्ध और जैन-धर्म की मूर्तियो से प्राचीनतर किसी हिन्दू देवता की मूर्ति प्राप्त नही हुई है। मूर्ति-पूजा का प्रचलन जब कभी हुआ हो, आज अधिकतर हिन्दू किसी-न-किसी रूप मे मूर्ति पूजक है। वेदो के मत्रो का अनुवाद मूर्तिपूजा के विरोधियो तथा समर्थको द्वारा विभिन्न दृष्टिकोण से हुआ है। मुझे दोनो दृष्टिकोणो से अनुवादित वेदो के अनेक सस्करणो को पढ़ने का सुअवसर मिला है। मेरी धारणा है कि इस सम्बन्ध मे स्थल-स्थल पर दोनो दृष्टि-कोणो से किए गए अनुवाद पर वास्तविकता के बदले उनके अपने अपने दृष्टिकोण की छाप स्पष्ट रूप से दीख पडती है। मुझमे क्षमता नही है कि किस अनुवाद को ठीक मानूँ। अत उदाहरणार्थ कुछ मत्रा को, विभिन्न दृष्टिकोण से किए गए अनुवाद के साथ नीचे प्रस्तुत कर रहा हूँ। विज्ञ पाठक इससे स्वयं निर्णय कर सकते है :

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पयीति त्वो अनुत्वो गृणाति वन्दारुस्ते तन्व वन्दे अग्ने:॥

ऋग्वेद, १/१४७/२, वा० स० १२/४२

हे युवा और अन्नवाले अग्नि! मेरी अत्यन्त पूज्य और अच्छी तरह से सम्पादित स्तोत्र का ग्रहण करो। कोई तुम्हारी हिंसा करता है और कोई तुम्हारी पूजा करता है। मै तुम्हारा उपासक हूँ। मै तुम्हारी मूर्ति की पूजा करता हूँ। (श्री रामगोविन्द त्रिवेदी)

— — — —

वदन करके हमारे अन्दर रहनेवाले हमारे अन्त शत्रु उनके जानने के साधनो से हमारा नाश न कर सके। वह आय इन्द्र विषम मनुष्य-प्राणियो पर भी अधिकार चलाने की इच्छा करता है। शिश्न पूजक, ब्रह्मचर्य का पालन न करनेवाले, हमारे यज्ञ के पास न आ जाएँ।

स वाजं यातापदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परि षदत्सनिष्यन्।
अनर्वायच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत्॥

ऋग्वेद, १०/९९/३

अर्थ

वह इन्द्र सुन्दर गति से जाकर युद्ध-क्षेत्र मे अवस्थित होते हैं। वह अविचल होकर सौ दरवाजोवाली शत्रुपुरी से धन ले आते हैं और लिंग-पूजक दुरात्माओ को अपने तेज से हराते हैं।

हे अत्यन्त युवा अग्नि ! मेरे इस आदर योग्य स्तोत्र को सुनो। एक मनुष्य आपको पीड़ा पहुँचाता है, एक स्तुति करता है। मैं तो आपकी स्तुति करनेवाला हूँ। (आचार्य श्रीराम शर्मा)

हे धनवान युवा-रूप अग्नि ! मेरे इस महान बारम्बार कथन करने से श्रवण-पथ को प्राप्त हुए वचन के अभिप्राय को जानो। कोई तुम्हारी निन्दा करे, कोई पुरुष तुम्हारी स्तुति करे, यह मनुष्यों का स्वभाव है; परन्तु स्तुति करने के स्वभाववाला मैं तुम्हारे शरीर को प्रणाम करता हूँ।

(ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा)

ऋग्वेद के अनुवादक एच० एo विलसन ने इस मंत्र का निम्नांकित अनुवाद किया है :

"Youthful (agni) to whom oblations are due, appreciate this my reverencing and earnest prayer one man *Evils* (thee), another propitiates (thee) ; I thy worship and glorify thy person."

भावार्थ : ओ युवक अग्नि ! जिसको हवि माना है, हमारी आदर-सूचक और हार्दिक प्रार्थना को ग्रहण करो। कोई तुम्हारी निन्दा करता है और कोई स्तुति करता है। तुम्हारा पूजक मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ।

यह मंत्र ज्यों-का-त्यों शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में आया है। आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नोद्धृत प्रकार का अनुवाद करते हैं :

"जब कोई किसी को पढ़ावे वा उपदेश करे तब पढ़नेवाला ध्यान देकर पढ़ें या सुने। जब सत्य वा मिथ्या का निश्चय हो जाए तब सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग कर देवे। ऐसा करने में यदि कोई निन्दा और स्तुति करे तो कभी न छोड़ें और मिथ्या ग्रहण कभी न करे। यही मनुष्यों के लिए विशेष गुण है।"

आर्यसमाज के दृष्टिकोण से वेदों के अनुवाद करनेवाले श्री जयदेव शर्मा इस मंत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं —

"हे युवतम ! हे बलवान ! हे स्वच्छ शरीर को धारण करने योग्य अन्न के स्वामिन् ! मुझ इस प्रार्थी के अत्यन्त अधिक आवश्यक रूप से कहने योग्य और उत्तम रीति से यथाविधि आप तक पहुँचाए गए वचन को यथावत जानो। इस न्याय-कार्य में कोई तेरी निन्दा करेगा और कोई दूसरा तेरी स्तुति करेगा।

अथवा मेरे इस वचन को एक काटे और दूसरा इसके पक्ष में कहे। इस प्रकार दोनों पक्षों को सुनकर आप निर्णय करें। और मैं वन्दना करनेवाला विनीत प्रार्थी हूँ। हे ज्ञानवान ! सत्य-असत्य के विवेक करनेवाले विद्वान ! राजन ! तेरे शरीर या विस्तृत शासन का गुणानुवाद करता हूँ। राजा का विवेकी विद्वान धर्माध्यक्ष के पास जाकर कोई अपना वचन, लिखित प्रार्थना-पत्र आदि उचित रीति से कहे। एक पक्ष मे और एक विपक्ष में कहे। फैसला होने पर विनीत प्रार्थी आदरपूर्वक विदा हो।"

अत उपर्युक्त अनुवादो से स्पष्ट है कि इस मंत्र में मूर्ति-पूजा का भाव कही नही आता जैसाकि श्री रामगोविन्द त्रिवेदी ने अनुवाद किया है।

इस प्रकार ऋग्वेद मे आए कुछ अन्य मंत्रों में भी त्रिवेदी जी को मूर्ति-पूजा की झलक मिली है। यथा—

ईर्मान्यद्वपुषे वपुश्चक्रं रथस्य येमथुः ।
पर्यन्या नाहुषा युगा मह्‌नारजांसि दीयथः ॥

ऋग्वेद, ५।७३।२

त्रिवेदी जी इस मत्र का निम्नांकित प्रकार से अनुवाद करते हैं :

" हे अश्विनीकुमारो ! सूर्य की मूर्ति को प्रदीप्त करने के लिए तुम दोनो ने रथ के एक दीप्तमान चक्र को नियमित किया है। अपनी सामर्थ्य से मनुष्यो के अहोरात्रादि काल को निरूपित करने के लिए अन्य चक्र द्वारा (तीनो) लोको मे परिभ्रमण करते हो।"

आचार्य श्रीराम शर्मा इस मंत्र मे कही मूर्ति का उल्लेख नही पाते और इस मत्र का अनुवाद इस प्रकार करते हैं :

" हे अश्विनीकुमारो ! सूर्य को प्रकाशित करने के लिए तुमने रथ के एक ज्योतिर्मान पहिए को योजित किया। तुम अपने पराक्रम से प्राणियो के लिए दिवस, रात्रि आदि को प्रकट करने के लिए अन्य पहिए द्वारा लोको मे घूमते हो।"

सनातनधर्मी उपर्युक्त श्रीराम शर्मा के अनुवाद के बाद दूसरा और अनुवाद देना व्यर्थ ज्ञात होता है।

भारत के विख्यात सनातन-धर्मावलम्बी विद्वान श्री माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ "क्यो ?" के दूसरे खण्ड के पृष्ठ ४७२ पर मूर्ति-पूजा की चर्चा की है और प्रमाण मे वेदो के कुछ मंत्रो का उल्लेख किया है। कतिपय उल्लिखित मंत्रो मे

'अर्चत' या 'प्रतिमा' शब्द आया है और उन्ही के आधार पर आप उन मंत्रो मे मूर्ति-पूजा का समर्थन पाते हैं। किन्तु विभिन्न सनातन-धर्मावलम्बी विद्वानो के अनुवाद से भी आपके विचार का समर्थन नही मिलता।

वेदो मे (ऋग्वेद ८। ५८।६६।८, सामवेद ३।६२, अथर्व २०।६२।५) मंत्र—**अर्चत प्रार्चत प्रियं मेधासः अर्चत** आया है। माधवाचार्य जी इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं : "हे बुद्धिमान मनुष्यो! इस प्रतिमा का पूजन करो, भलीभाँति पूजन करो।"

किन्तु अन्य सनातन धर्मावलम्बी विद्वान निम्नांकित प्रकार इसका अनुवाद करते हैं "हे अध्वर्युओ! इन्द्र का पूजन करो।"

(आचार्य श्रीराम शर्मा)

"हे अध्वर्युओ, तुमलोग इन्द्र की पूजा करो। विशेष रूप से पूजा करो।"

टिप्पणी—'अर्चत' शब्द का अनुवाद विद्वानो ने 'पूजा' कियाहै, किन्तु माधवाचार्य जी 'अर्चत' का अर्थ प्रतिमा-पूजा लगाते है। वेदो मे अनेक वैदिक देवताओ की स्तुति आई है और उसी प्रकार का मत्र यह भी है।

इसी प्रकार माधवाचार्य जी अथर्ववेद के मत्र (२।१३।४) **एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः। कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्**) का अनुवाद करते हुए लिखते हैं— "हे परमात्मन! तुम आकर इस पाषाण मे विराजमान हो। यह आपका शरीर बन जावे और सब देवता सैकडो वर्ष-पर्यन्त इसमे आपकी विभूति को स्थिर करें।"

किन्तु अन्य भाष्यकार इसका निम्नलिखित प्रकार से अनुवाद करते हैं

हे बालक! अपने दक्षिण पाद द्वारा पाषाण पर चढ और इसी के समान दृढ तथा निरोग विश्वेदेवा तुझे शतायुष्य करें। (**आचार्य श्रीराम शर्मा**)

"यहाँ आ। इस शिला पर खडा रह, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बने, और इससे सब देव तेरी आयु सौ वर्ष की बनावें।"

—**वेदज्ञ श्रीसातवलेकर**

माधवाचार्य जी ने यजुर्वेद के मत्र (१५।६५) **सहस्रस्य प्रतिमा असि** का अनुवाद "हे परमेश्वर, आप सहस्रो की प्रतिमा, मूर्ति हैं।" किया है।

इस मत्र का अनुवाद विभिन्न विद्वान निम्नांकित प्रकार से करते हैं।

"हे अग्ने। तुम सहस्र इष्टकाओ के समान हो।"—**आचार्य श्रीराम शर्मा**

"हे अग्ने ! तुम सहस्र इष्टकाओं का प्रमाण हो।"

(ब्र० कु० रामस्वरूप शर्मा)

"हे विद्वान पुरुष ! जिस कारण तू असंख्य पदार्थों से युक्त जगत के प्रमाण अर्थात् ज्ञान के तुल्य हो।"

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

एक मंत्र **ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम्** (अथर्ववेद ५।३०।१३) का अनुवाद माधवाचार्य जी करते हैं कि "इस प्रतिमा में प्राण आवे, मन आवे, नेत्र और बल आवे।" किन्तु किसी भी भाष्यकार के अनुसार प्रतिमा का भाव नहीं आता। यथा—

"प्राण इसको प्राप्त हो, मन और नेत्र इसको प्राप्त हो, मैंने इसकी देह को मंत्र शक्ति से पुण्यवान किया है। यह अपने पैरों पर खड़ा हो जाए।"

—आचार्य श्रीराम शर्मा

"प्राण, मन, चक्षु, बल ये सब शक्तियाँ शरीर में फिर से निवास करें और यह शरीर अपने पाँव से खड़ा रह सके।"

—वेदमूर्ति श्रीपाद सातवलेकर

माधवाचार्य जी ने वेद में मूर्ति-पूजा के समर्थन में एक मंत्र **ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय।** (अथर्व १६।२।६) का अनुवाद "हे प्रतिमे ! तू ऋषियों का पाषाण है, तुमने दिव्य पाषाण के लिए नमस्कार" किया है। किन्तु दूसरे अनुवादकों का विचार देखिए—

"तुम ऋषियों का प्रस्तर है। देव-रूप प्रस्तर को नमस्कार।"

—आचार्य श्रीराम शर्मा

अथर्ववेद के एक और मंत्र (११।२।५६)

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव।
त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥

का आप किस प्रकार अनुवाद करते हैं: "हे पशुपति शिव ! आपके मुँह को, तीन नेत्रों को, त्वचा को, अंगों को, उदर, दाँतों को और नासिका को नमस्कार है।" किन्तु अन्य अनुवादक आपसे सहमत नहीं हैं।

"हे भवदेव ! तुम्हारे मुख, चक्षु, त्वचा और नील-पीत वर्ण को नमस्कार है। तुम्हारे समान रूपवाली दृष्टि को नमस्कार है। हे देव ! मेरा नमस्कार ग्रहण करो।"**—आचार्य श्रीराम शर्मा**

"हे पशुपते ! हे भव ! तेरे मुख के लिए नमस्कार है, जो तेरी आँखें हैं। उनको नमस्कार है। तेरे त्वचा-रूप, दर्शन और पीठ के लिए नमस्कार है। तेरे अंगों, उदर, जिह्वा और मुख के लिए नमस्कार है। तेरे दाँतो के लिए और तेरी गंध के लिए नमस्कार है।"

(श्री सातवलेकर जी)

वेदों मे ईश्वर के स्वरूप की कल्पना की गई है, जिसकी पराकाष्ठा पुरुष-सूक्त मे है। इसी प्रकार इस मंत्र मे रुद्र के रूप की कल्पना है। इससे मूर्ति-पूजा का समर्थन नही होता। 'तीन नेत्र' का कही भाव नही है।

श्री माधवाचार्य ने तैत्तरीय अनु, ५ मे आए हुए मंत्र मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि का अर्थ किया है— "तुम ईश्वर की प्रतिमा हो।" किन्तु किसी को ईश्वर की प्रतिमा का भाव नही आता। आपने 'तीन नेत्र' शब्द का व्यवहार किया है। किन्तु 'चक्षुषि' का अर्थ तीन नेत्र कदापि नहीं हो सकता। पौराणिक ग्रन्थो मे शिव को तीन नेत्रवाला कहा गया है। अत आपने जबर्दस्ती 'चक्षुंषि' शब्द का अर्थ तीन नेत्र लगा लिया है। हाँ, एक मंत्र मे (ऋग्वेद ७।५९।१२, अथर्ववेद १४।१।१७; यजुर्वेद ३।६० 'त्र्यम्बक' शब्द आया है, जिसको लेकर भी विद्वानो मे मतभेद है। यथा—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

"हम सुगन्धि-प्रसारित पुण्यकीर्ति और पुष्टिवर्द्धक, जगत् बीज वा आनमादि शक्ति-वर्धन त्र्यम्बक (ब्रह्मा, विष्णु और महेश को पिता वा आदि कारण), की पूजा या यज्ञ करते हैं। रुद्रदेव उर्वारुक फल की तरह हमे मृत्यु-बन्धन (संसार) से मुक्त और अमृत (चिरजीवन या स्वर्ग) से मन-मुक्त करो।"

(श्री रामसुन्दर त्रिवेदी)

"दिव्य गन्ध-युक्त मर्त्यधर्म-हीन उभय लोको का फल देनेवाले धन-धान्यादि की पुष्टि बढानेवाले पूर्वोक्त तीन नेत्रोवाले शिव को हम पूजते हैं। वह हमको संसार के मरण से छुडावे, बन्धन से कर्करी फल के जैसा अर्थात् जैसे पका हुआ फल अपनी घुजी से छूटकर भूमि पर गिर जाता है, वैसे ही शिव की कृपा से मैं जन्म-मरण रहित हो जाऊँ।"

(ऋ० कु० श्रीरामस्वरूप शर्मा)

"हम सुरक्षित, पुष्टिवर्धक त्र्यम्बक का पूजन करते हैं। हे रुद्र! हमें मृत्यु के पाश से छुड़ाओ और अमृत से दूर मत रखो।"

—आचार्य श्रीराम शर्मा

"उत्तम यशस्वी पोषण-साधनों का संवर्धन करनेवाले, तीन प्रकार से संरक्षण करनेवाले देव की हम उपासना करते हैं। यह देव ककड़ी को मुक्त करते हैं, इस तरह मृत्यु के बन्धन से हमें मुक्त करें, परन्तु हमें अमरत्व से कभी न छुड़ावें, परन्तु हमें अमरत्व से संयुक्त करें।"

—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

"हमलोग जो शुद्ध गंधयुक्त शरीर, आत्मा और समाज के बल को बढ़ानेवाला (त्र्यम्बकम्) जगदीश्वर है, उसकी निरंतर स्तुति करें। इसकी कृपा से जैसे खरबूजा फल पककर लता के सम्बन्ध से छूटकर अमृत के तुल्य होता है, वैसे हमलोग भी प्राण वा शरीर के वियोग से छूट जाएँ और मोक्ष-रूप सुख से श्रद्धा-रहित कभी न हों।"

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

"(त्र्यम्बकम्) शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर की हम उपासना करें, जिससे मैं मृत्यु के बन्धन से मुक्त होऊँ और अमृत अर्थात मोक्ष से दूर न होऊँ। परम पालक को प्राप्त करानेवाले इस ईश्वर की पूजा करें, जिससे हम इस देह-बन्धन से छूटें, उस परम मोक्ष से वंचित न रहें।"

आर्यसमाजी भाष्यकार पं० जयदेवजी शर्मा

टिप्पणी—यजुर्वेद(वा०स०) में इस मंत्र के साथ एक चरण और भी आया है·

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

अर्थ—वैसे ही इस रुद्र की कृपा से हम जन्म-मरण के पाश से मुक्त हों और स्वर्ग-रूपी सुख से विमुख न हों। मुझे दोनों लोकों का फल प्राप्त हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'त्र्यम्बक', शब्द का अर्थ किसी ने तीन नेत्रवाला शिव, किसी ने तीन प्रकार से संरक्षण करनेवाला, किसी ने शक्तित्रय से युक्त और श्री रामसुन्दर त्रिवेदी ने तीन देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश—के पिता या आदि कारण अर्थ लगाया है।

ईश्वर की प्रतिमा नहीं है, इसको स्पष्टतया यजुर्वेद (३२। ३) घोषित करता है। इस स्पष्ट मंत्र का अनुवाद भी विभिन्न दृष्टिकोण से हुआ है। मंत्र है—

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद् यशः ।

उस महानारायण पुरुष का प्रतिमान उपमान कोई नही है, जिसका नाम महादेव महान है । अथवा जिसका प्रसिद्ध बडा यश है ।

—ऋ० कु० श्री रामस्वरूप शर्मा

उस पुरुष की कोई प्रतिमा नही है । उसका नाम ही अत्यन्त महान है । सबसे बडा उसका यश है । **—आचार्य श्रीराम शर्मा**

हे मनुष्यो ! जिसका (महत्) पूज्य बडा यश नाम स्मरण है, उस परमेश्वर की प्रतिमा परिमल उसके तुल्य अवधि का साधन प्रतिकीर्ति मूर्ति या आकृति नही है । **—स्वामी दयानन्द सरस्वती**

श्री कृष्णमणि त्रिपाठी ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'पुराण तत्वमीमासा' (पृष्ठ ४३८—५३) मे मूर्ति-पूजा की चर्चा करते हुए वेदो के मन्त्रो सेवैदिककाल मे मूर्ति पूजा को प्रमाणित करने का विफल प्रयास किया है । सवप्रथम अपने अथववेद के निम्नाकित मत्र (काण्ड १,सूक्त १३, मत्र १) का हवाला दिया है ।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥

अर्थात—मैं विद्युत्-रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ । मै गर्जन-रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ और मैं पाषाण-रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ, जिस पाषण से चोट लगती है ।

इस मत्र का अनुवाद विभिन्न वेदज्ञ निम्नाकित प्रकार से करते है :

"दमकती हुई विदयुत को मेरा प्रणाम पहुँचे । विद्युत् की गडगडाहटकारी ध्वनि तथा अशनि को मेरा प्रणाम पहुचे । आपके व्यापन-स्थान मेघ को मेरा नमस्कार पहुँचे । आप दुखदायियो एव आततायियो पर वज्र प्रहार करके इन्हे दूर फेकती है ।" **—आचार्य श्रीराम शर्मा**

"हे देवि ! ईश्वरी ! तू बिजली आदि मे अपना तेज प्रकट करती है । मेघो मे गर्जना कराती है ओर अपनी शक्ति से ओले भी बरसाती है । इन सब बातो से तू हमारे सब दु खो को दूर करती है । इसलिए, तुझे हम सब प्रणाम करते हैं ।" **—वेदज्ञ श्री सातवलेकर**

यजुर्वेद (अध्याय ३२, मंत्र ३) मे आया है —

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यश ।
हिरण्यगर्भऽइत्येषः मा माहिंसीदित्येषा यस्मान्न जातऽइत्येष ॥

यद्यपि इस मंत्र से मूर्ति की झलक कहीं भी नहीं मिलती, जैसाकि सनातन-धर्मावलम्बी टीकाकार श्रीराम शर्मा अथवा ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा की टीका से स्पष्ट है, तथापि हठात् त्रिपाठी जी को इस मंत्र में वेद में मूर्ति-पूजा का स्पष्टतया आभास मिलता है। आपका कथन है कि 'हिरण्यगर्भ' इस मंत्र मे ईश्वर को सशरीरी बतलाता है। 'मार्माहिंसो' मंत्र मे ईश्वर को संसार की मूर्तियो मे व्यापक बतलाकर मूर्तिमान सिद्ध कर उससे रक्षा की प्रार्थना की गई है। 'यस्मान्जात' मंत्र मे ईश्वर को व्यापक एवं मूर्तिमान बतलाकर यह दिखलाया गया है कि ईश्वर से उत्कट ज्ञानी कोई नहीं है। किन्तु इस मंत्र का मनगढन्त अर्थ करते हुए स्वयं शायद त्रिपाठी जी का अगले चौथे मंत्र **एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वा पूर्वो ह जातः स ऽ उ गर्भे ऽअन्तः। सऽ एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुख** की ओर ध्यान नहीं गया। इस मंत्र मे स्पष्टतया कहा गया है कि वह प्रसिद्ध देव सब दिशाओ को व्याप्त कर स्थित है। हे मनुष्यो! सबसे पहले वही पुरुष प्रकट हुए हैं। गर्भ मे यही स्थित होते है। जन्म लेनेवाले भी वही है। सब पदार्थों मे व्याप्त और सब ओर मुख-वाले भी वही हैं।

अतः यदि हठ न कर निष्पक्ष भाव से देखा जाए तो स्पष्टतया ज्ञात हो जाएगा कि इस तीसरे मंत्र मे स्पष्टतया कहा गया है कि जो सब जगत मे व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्ति नहीं है; क्योकि जो कुछ दृश्य और अदृश्य है वह सब जगह व्याप्त है।

अन्त मे त्रिपाठी जी वेद के निम्नांकित मंत्र मे मूर्तिपूजा करने का स्पष्ट आदेश पाते हैं:—

प्रचित प्रिय मेधासो अर्चत। अर्चिन्तु पुत्रकर उत्पुटं न धृष्वर्चत।

आप इस मंत्र का अर्थ करते हैं—हे अध्वर्यु आदि! तुम स्तुति-विशेष से परमात्मा इन्द्र का पूजन करो। प्रिय मेधा के गोत्रवान् तुम पूजन करो और पुत्र भी विशेष रूप से इन्द्र का पूजन करें।

त्रिपाठी जी ने उल्लेख नहीं किया है कि उपर्युक्त मंत्र ऋग्वेद के किस मण्डल या सूक्त मे है। "ऋग्वेद-मन्त्राणाम् वर्णानुक्रम सूची" में खोजने पर भी मुझे इस मंत्र का उल्लेख नहीं मिला। अतः इस मंत्र का अन्य सनातनी वेदज्ञो का किया हुआ अर्थ देने मे मैं असमर्थ हूँ। किन्तु जो अर्थ त्रिपाठी जी ने किया है, उसमें आए 'पूजन' शब्द से अर्थ नहीं निकलता कि इन्द्र की मूर्ति का

पूजन कहा है। वेदकालीन आर्य भगवान की प्रत्यक्ष विभूति अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वायु आदि की उपासना करते थे। वह भी पूजा थी। निराकार ब्रह्म अथवा ब्रह्म स्वरूप ओ३म की उपासना भी पूजा की कोटि मे आ जाती है।

पाठकों के भ्रम-निवारण के लिए यह उल्लेख करना आवश्यक मालूम पड़ता है कि मैं स्वयं मूर्तिपूजक हूँ। हम वस्तुत पत्थर नही पूजते, लेकिन पत्थर मे मंत्र द्वारा ईश्वर की सत्ता लाकर ईश्वर को पूजते हैं। भगवान ने गीता मे स्पष्टतया कहा है कि निराकार की उपासना कठिन है। अत जबतक प्राणी-मात्र मे ब्रह्ममय भावना न हो जाय तबतक मन, वाणी और शरीर से मूर्ति मे भगवान की भावना की उपासना करते ही रहना चाहिए। किन्तु जिस समय मनुष्य अभ्यास करते-करते तत्त्वज्ञान का प्राप्त कर सारी सृष्टि मे और जीव-मात्र मे उसकी सत्ता का अनुभव करने लगे तो उस समय सिर्फ मूर्ति पूजन ही नही छूट जाता, बल्कि उसके समस्त कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं। अत मूर्ति पूजा मे आस्था रहने के कारण और निराकार ईश्वर की अनुभूति का साधन समझकर ही मैंने अनेक बार चारो धाम, सप्तपुरि तथा सुदूर अमरनाथ की यात्रा और पूजा की। अभी कुछ वर्ष पूर्व (सन् १९६६ ई० मे) मैंने चौथी बार श्री बदरीनाथ की यात्रा की और पूजन किया। मूर्ति-पूजा की प्रथा बहुत ही लाभ-प्रद है और अनेक साधक मूर्तिपूजा द्वारा ईश्वरानुभूति प्राप्त करने मे समर्थ है। सच्चे हृदय से प्रेमपूर्वक मूर्ति-पूजन करने से प्रत्यक्ष फल अवश्य मिलता है, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है। किन्तु मूर्तिपूजा मे आस्था रहने पर भी हमे भावना के आवेश मे वास्तविकता को तिलाञ्जलि नही देनी चाहिए। मूर्ति-पूजा की प्रणाली भले ही वैदिक काल मे प्रचलित न हो, किन्तु लाभप्रद और भगवत्प्राप्ति का सुगम मार्ग होने के कारण सर्वथा ग्राह्य है। अत इसे इसी दृष्टिकोण से देखना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक काल मे प्रतीक-पूजा (मूर्ति पूजा) आर्यों मे नही थी। ज्ञान और कर्म—सम्पत्ति का प्रभु अनुग्रह के साथ सामंजस्य ही वैदिक भक्ति का स्वरूप था। धारणा थी कि स्तुति, प्रार्थना और उपासना-रूपी भक्ति-मार्ग ही साधक को प्रभु के घर पहुँचा देता है—मुक्त कर देता है। वेद के शब्दो मे इस घर पर पहुँचने के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है। वैदिक धर्म के दो मान्य अंग थे—ईश-स्तुति अथवा स्वाध्याय और यज्ञ। अत वैदिक आर्य अग्नि मे घी, यव आदि का हवन कर प्रभु को सर्वव्यापक समझते हुए उनकी किसी

विभूति की स्तुति एवं प्रार्थना करते थे। वह प्रभु निश्चित रूप से एक है। वह एक होकर भी अनेक नामो से पुकारा जाता है। ऋग्वेद (१/१६४/४८) मे कहा गया है कि इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र, सुपर्ण, गरुत्मान आदि विविध नाम एक परमेश्वर के हैं। वेदों ने स्वयं इस तथ्य की घोषणा समय-समय पर प्रसंगवश करते हुए स्पष्ट कर दिया है :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य. स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

यजुर्वेद मे भी विभिन्न नामो मे एक ही प्रभु की एकता दर्शाते हुए स्पष्टतया कहा गया है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽ आप स प्रजापति ॥
(यजुर्वेद ३२/१)

अर्थ—अग्नि वही है, आदित्य वही है, वायु, चन्द्रमा और शुक्र वही है, जल, प्रजापति और सर्वत्र व्याप्त भी वही है।

इसी प्रकार अथर्ववेद (२/१/३) भी कहता है—यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्न भुवनायन्ति सर्वा ।

अर्थ—विभिन्न देवताओ का नामधारी वही एक ब्रह्म है। उसी उत्तम प्रकार से पूछने योग्य परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण भुवन पहुँचते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद (३।३७।३)[1] की घोषणा के अनुसार ईश्वर का नाम एक वाणी मे ही नही, किन्तु विविध वाणियो मे विविध प्रकार का है।

कुछ विद्वानो के मत मे भारत मे मूर्ति-पूजा विदेशियो से सम्पर्क के बाद चल निकली। इतिहास से ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक काल मे यूनान और मिस्र से भारत का सम्पर्क हुआ। इन दो देशो के निवासी बहुदेववाद मे विश्वास रखते थे और देवी-देवताओ की प्रतिमाएँ बनाकर उनकी पूजा करते थे। अत सम्भव है कि उन्हीं लोगो के सम्पर्क के बाद मूर्ति पूजा की प्रथा इस देश मे फैली और सर्वप्रथम जैनधर्म के अनुयायियो ने अपने तीर्थंकरो की मूर्तियाँ

---

1. नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे ।
इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥

मन्दिरो में प्रतिष्ठित की। भगवान बुद्ध के निर्वाण के सैकडो वर्ष बाद जब बौद्ध धर्मावलम्बियो के स्पष्टतया दो सम्प्रदाय—हीनयान और महायान—हो गए तब महायान, जो बुद्ध का ईश्वर के रूप मे ध्यान और उनकी प्रार्थना करते थे, बुद्ध की मूर्ति को स्थान-स्थान पर मन्दिरो मे स्थापित करने लगे और कुछ काल बाद हिन्दुओ ने इसका अनुकरण किया।

कुछ विद्वान शिव को मूलत सेमेटिक देवता मानते हैं, जिनको आर्यों के भारत-आगमन के पूर्व द्रविडो ने आत्मसात कर लिया था। इसी प्रकार गणेश को कुछ विद्वान चीन की सस्कृति से प्रभावित समझते है। जो भी हो, यह ज्ञात होता है कि शिव और उनके परिवार के अन्य देवता—देवी, गणेश और स्कन्द—मूलत अनार्य देवता थे और कालातर मे आर्य और अनार्य के सम्मिश्रण के बाद सम्मिलित हिन्दू राष्ट्र मे देवकोटि मे आकर वैदिक रुद्र से आत्मसात होकर आर्यों के देवता के सदृश पूजित हुए। पुराणो के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि राक्षसो (अनार्यों) के उपास्य देवता शिव थे और देवताओ के विष्णु थे। अनार्य-देवताओ से वर प्राप्त कर अत्याचारी राजाओ का नाश करने के लिए विष्णु को विभिन्न अवतार लेने पडे। इस सम्बन्ध मे दक्षिण-भारत म सुब्रह्मण्यम् की प्रतिष्ठा और पूजा उल्लेखनीय है और इस सिद्धान्त पर कुछ प्रकाश डालती है। स्वामी कार्तिक का दक्षिणी नाम सुब्रह्माणियम है। उत्तर-भारत मे सुब्रह्माणियम (स्वामी कार्तिक) का एक ही मन्दिर देखने को मिलता है, किन्तु दक्षिण-भारत मे सुब्रह्माणियम के मन्दिरो को हम विष्णु और शिव के मन्दिरो के समकक्ष पाते हैं। दक्षिण के लोगो मे सुब्रह्माणियम की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०।९०) तथा यजुर्वेद के ३१वे अध्याय मे ईश्वर के विश्व-रूप का जो वर्णन है, उसके आधार पर अनेक लोग वेद मे भगवान की मूर्ति की कल्पना करते हैं। सूक्त बडा है, अत यहाँ सिर्फ तीन मत्र सानुवाद दिया जाता है :

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उता मृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।

अर्थ—विराट पुरुष (ईश्वर) सहस्र (अनन्त) शिरो, अनन्त चक्षुओं और अनन्त चरणों वाला है। वह भूमि (ब्रह्माण्ड) को चारों ओर से व्याप्त करके और दस अंगुलि-परिमाण अधिक होकर अर्थात् ब्रह्माण्ड से बाहर भी व्याप्त होकर अवस्थित है।

जो कुछ हुआ है और जो कुछ होनेवाला है, वह सब ईश्वर (पुरुष) ही है। वह देवत्व का स्वामी है, क्योंकि प्राणियों के निमित्त अपनी कारणावस्था को छोड़कर जगदवस्था को प्राप्त करता है। यह सारा ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है। वह तो स्वयं अपनी महिमा से भी बडा है। इस पुरुष का एक पाद (अंश) ही यह ब्रह्माण्ड है। इसके अविनाशी तीन पाद तो दिव्लोक मे हैं।

टिप्पणी यजुर्वेद के पाठ मे थोडा मतभेद है। वहाँ पहले मंत्र मे 'सर्वत स्पृत्वा' है।

इस मंत्र मे परमात्मा को सहस्र शीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपाद अर्थात् हजारों शिर, हजारों आँख और हजारों पैरवाला अलंकार-रूप से वर्णित किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सब प्राणियों के शिर, आँख, पग आदि उसी परमात्मा के अन्दर विराजमान हैं, इसी से उसे हजारों शिर, आँखों और पैरवाला कहा है।

अथर्ववेद के कुछ मंत्र ईश्वर के शरीर का इसी प्रकार अलंकृत भाषा मे वर्णन करते हैं। यथा—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।

(अथर्व० १०।७।३२)

अर्थात् भूमि जिसका पैर है और अंतरिक्ष उदर है, द्युलोक को जिसने अपना शिर बनाया है, उस महान ब्रह्म को मेरा प्रणाम।

वेद तथा वैदिक साहित्य मे परमात्मा के विशाल रूप का ऐसी ही अलंकार-युक्त भाषा मे अनेक स्थानों पर वर्णन आया है, किन्तु इससे किसी भी प्रकार ईश्वर का साकारत्व सिद्ध नहीं होता। कतिपय विद्वानों ने वेदों मे बहुदेवतावाद को माना है, किन्तु किसी भी भाष्यकार ने वेदों मे मूर्ति-पूजा को प्रमाणित नहीं किया है।

उपनिषदो मे ईशोपनिषद् सर्वमान्य, प्राचीन और वेदकालीन माना जाता है। उसमें ईश्वर के निराकारत्व का सर्वत सिर्फ पोषण ही नही है, बल्कि साकारत्व का निषेध भी है।

मानव-जाति के इतिहास मे सदा से देवतावाद का विशिष्ट स्थान रहता आया है। मूल मे देवतावाद एक प्रकार से मनुष्य के आदर्शवाद का ही नामान्तर या रूपान्तर था। इसलिए प्रत्येक जाति के देवता या देवताओ के स्वरूप मे उसके अपने आदर्शों की अनुरूपता स्पष्टतया प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए क्रूर कर्मो मे निरत जाति के देवताओं मे क्रूरता प्रधान गुण और सौम्य जाति के देवताओ मे दया, प्रेम जैसे सौम्य गुण देखे जाते है। वास्तव में किसी भी जाति के स्वरूप मे और स्वभाव का बहुत कुछ चित्रण उसके देवताओ के स्वरूप और स्वभाव के अध्ययन से किया जा सकता है। अंग्रेजी मे किसी लेखक ने कहा है—Man creates God according to his own image. अर्थात् मनुष्य ईश्वर की कल्पना अपनी विचारधारा के अनुसार करता है।

वैदिक देवताओ के विषय मे सबसे पहली बात यही है कि उनमें बहुतो का प्राकृतिक आधार प्राय स्पष्ट है। किन्तु उनके मूल मे प्राकृतिक आधार होने पर भी, स्तोता की तन्मयता के आवेश के कारण उन-उन देवताओं में उनके पृथक व्यक्तित्व की पराकाष्ठा के द्योतक पुरुष-विधित्व का आरोप भी प्राय मन्त्रो मे देखा जाता है। देवताओ के हाथ, पैर आदि अंगो के साथ उनके वाहन, यहाँ तक कि उनकी पत्नियो का भी वर्णन मन्त्रो मे देखा जाता है। वैदिक देवता पारस्परिक पूर्ण सामंजस्य से काम करते है। वे समस्त चराचर जगत की न केवल प्राकृतिक व्यवस्था (ऋत) अपितु नैतिक व्यवस्था (सत्य) के भी पोषक और संरक्षक हैं। उनकी सारी प्रवृत्तियाँ जगत के भद्र और कल्याण के लिए है। वे सतत कार्यशील हैं। इस लिए मनुष्यो का वास्तविक कल्याण देवताओ के साथ सर्वथा सायुज्य और तादात्म्य मे है।[1] किन्तु, इन सब वर्णनो से मूर्त रूप से इनकी पूजा का संकेत भी हमे कही नही मिलता।

1. उरु नो लोकमनुनेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयम् स्वस्ति।
ऋष्वात इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम् शरणा बृहन्ता॥
(ऋग्वेद, २।४७।८)

अर्थ—इन्द्र, तुम ज्ञानी हो। हमे विस्तीर्ण लोक मे सुखमय और भयशून्य आलोको मे भी निर्विघ्न ले जाना। तुम प्राचीन हो। हम तुम्हारे मनोज्ञ और बृहत् बाहुओ के ऊपर रक्षा के लिए आश्रित हैं।

वेदों मे जहाँ-तहाँ ईश्वर की विभूति के रूप मे विभिन्न नामधारी देवताओं के स्वरूप का वर्णन आया है, किन्तु उपनिषद् मे भगवती उमा का हमे दर्शन होता है, स्वरूप का कहीं वर्णन नहीं मिलता। उपनिषदों मे दस उपनिषदें (१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) ऐतरेय, (८) तैत्तिरीय, (९) छान्दोग्य और (१०) बृहदारण्यक सर्वमान्य हैं। ये दस उपनिषद ब्रह्मसमाज के एकमात्र प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ हैं। आर्यसमाज को भी सिर्फ ये ही दस उपनिषदें मान्य हैं। श्री शंकराचार्य ने इनपर भाष्य लिखा है। इनका स्थान प्रस्थान-त्रयी—(१) ब्रह्मसूत्र, (२) उपनिषद् और (३) गीता—मे है। किन्तु श्वेताश्वेतर उपनिषद् की बड़ी प्रतिष्ठा है। इसपर शांकर भाष्य भी मिलता है। उपर्युक्त ग्यारह उपनिषदें ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ हैं। इनका वैदिक साहित्य मे बहुत ऊँचा और मान्य स्थान है। इन उपनिषदों मे हम ईश्वर के निराकारत्व का सर्वत्र पोषण एवं साकारत्व का सर्वथा निषेध पाते हैं। इसकी पुष्टि के लिए कतिपय उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो, यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे। (केन० १।३)

अर्थ—न वहाँ आँख पहुँचती है, न वाणी जाती है और न मन, इसलिए उसको नहीं जान सकते हैं, जिससे उसका उपदेश किया जा सके, वह ज्ञात वस्तुओं से पृथक है और अज्ञात मे भी भिन्न है। ऐसा पूर्व आचार्यों से सुनते हैं, जो हमको उसका उपदेश करते हैं।

उपर्युक्त उपनिषद्-वाक्य मे यह सुस्पष्ट शब्दों मे बताया गया है कि परमात्मा आकार-रहित होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की वस्तु नहीं है।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥
(कठ १।२।२२)

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुप सेदिम वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे॥
(ऋग्वेद, १।८९।२)

अर्थ—यजमान-प्रिय देवता लोग कल्याण-वाहक अनुग्रह हमारे सामने ले आवें और उनका दान भी हमारे सामने आए। हम उन देवों का अनुग्रह प्राप्त करें और वे हमारी आयु बढ़ाएँ।

अर्थ—वह परमात्मा लोगो के शरीर में रहते हुए भी स्वयं शरीर-रहित है। बदलनेवाली वस्तुओ मे एकरस है। उस महान् विभु आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक-मुक्त हो जाते हैं।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति।
(कठ २।३।८)

अर्थ—जीव और प्रकृति से भी सूक्ष्म परमात्मा है, जो कि व्यापक और चिह्न-रहित निराकार है। जिसको जानकर मनुष्य दुखो से छूट जाता है और अमृतत्व को प्राप्त होता है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥
(कठ १।२।२०)

अर्थ—ब्रह्म सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। बडे से भी बडा है। वह इस प्राणी के हृदयाकाश मे स्थित है। उस आत्मा की महिमा को बुद्धि के निर्मल होने से निष्काम एव शोक-रहित प्राणी देखता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
(कठ २।३।९)

अर्थ—इस ब्रह्म का कोई रूप सामने नही है और न आंखो से कोई देख सकता है। यह हृदय, मन तथा बुद्धि से ज्ञात होता है। जो लोग इसे जानते हैं, वह अमृत हो जाते हैं।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥
(मुण्डक १।१।६)

अर्थ—जो परमात्मा न देखा जाता है, न पकडा जाता है, जिसका कोई गोत्र नही, वर्ण नही, जिसके न नेत्र हैं, न श्रोत्र, न हाथ, न पाँव हैं, वह नित्य है, व्यापक है, सर्वगत है और बडा सूक्ष्म तथा अव्यय है। उसी जगत के निमित्त कारण ब्रह्म को धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्रमाणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥
(मुण्डक २।२।२)

अर्थ—वह ब्रह्म निश्चय ही प्रकाशमान, मूर्ति-रहित, सर्वव्यापक, बाहर और भीतर सर्वत्र वर्तमान, जन्म-रहित, प्राण-रहित, मन से शून्य, पवित्र, सूक्ष्म अविनाशी प्रकृति और जीव से सूक्ष्म है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।
(मुण्डक ३।१।८)

अर्थ—वह ब्रह्म आँख से ग्रहण नही किया जा सकता, उसे न वाणी से, न अन्य इन्द्रियो से, न तप से और न कर्म से ग्रहण किया जा सकता है। अपितु ज्ञान की महिमा से शुद्ध अन्तःकरणवाला होकर ध्यान करता हुआ ही उस कला-रहित ब्रह्म को देख सकता है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥
(श्वेताश्वेतर १।१५)

अर्थ—जिस प्रकार तिलो मे तैल, दही मे घी, स्रोतो मे जल और काष्ठ में अग्नि पेरने, बिलोने, खोदने और रगडने से प्राप्त होते है, उसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तप के द्वारा इसे बार-बार देखने का प्रयत्न करता है, उसे यह आत्मा आत्मा मे दिखाई देती है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
(श्वेताश्वेतर ३।१९)

अर्थ—वह बिना हाथ के सबका ग्रहण करनेवाला तथा बिना पाँव के वेग वाला है। बिना नेत्र के देखता और बिना कान के सुनता है। वह हर एक जानने योग्य वस्तु को जानता है, पर उसका अंत जाननेवाला कोई नही। ज्ञानी लोग उसको मुख्य महान् पुरुष कहते हैं।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥
(श्वेताश्वेतर १।१४)

अर्थ—वह ईश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। वह इस जगत और इसके प्रत्येक पदार्थ मे व्यापक है। उसी ने इस विश्व और इसके रूपवाले पदार्थ को रचा है। वह सारे ससार को घेरे हुए है। उसी कल्याण-स्वरूप प्रभु को जानकर मनुष्य अत्यन्त शाति को प्राप्त होता है।

उपर्युक्त समस्त उपनिषद्-वाक्य जहाँ परमात्मा को सुस्पष्ट रूप से निराकार वर्णन करते हैं, वहाँ यह भी बताते हैं कि उसे शुद्ध अन्त करण से ध्यान द्वारा ही जीवात्मा मे ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार वेद और उपनिषद् परमात्मा को सुस्पष्ट रूप से निराकार वर्णन करते हैं और यह घोषित करते हैं कि जीवात्मा शुद्ध अन्त करण से ध्यान द्वारा उसको प्राप्त कर सकता है। साकार वस्तु के लिए स्थान की जरूरत होती है, परन्तु वेद और उपनिषदो के वर्णन से परमात्मा के किसी स्थान का कही उल्लेख नही है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक काल मे साकार ईश्वर की भावना जाग्रत नही हुई थी, जो मूर्ति-पूजा के लिए आवश्यक है।

डॉक्टर राघवेन्द्र वाजपेयी का विचार है कि भारतीय मूर्तिकला मे अपनी परिपक्वता तथा पूर्णता शुगकाल तक पहुँच चुकी थी। लखनऊ सग्राहालय मे मथुरा से प्राप्त बलराम की सग्रहीत प्रतिमा ही ब्राह्मण धर्म की प्रथम प्राप्त प्रतिमा मानी जाती है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह "हिन्दूधर्म का प्रथम प्राप्त चिह्न है। भीटा से प्राप्त शिव का पचमुखी लिंग भी लगभग इसी काल (ई० पू० दूसरी शती) का है।"

ई० पू० दूसरी सदी में पतजलि ने मूर्तियो का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। आपने वसुदेव, शिव, विष्णु तथा आदित्य का उल्लेख किया है। इन देवताओ की प्रारम्भ से ही प्रतिमाओ के माध्यम से पूजा हुई है, जबकि वेदकालीन प्रकृति के देवता—इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, सूर्य आदि—की मूर्तियाँ नही बनाई जाती थी।

अत स्पष्ट है कि वेदकालीन हिन्दू मूर्ति-पूजक नही थे और प्रकृति के देवताओ की उपासना मत्रो द्वारा किया करते थे।



द्वितीय परिच्छेद

अनार्य-देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात

वैदिक आर्य निश्चित रूप से प्रतीक-पूजक नहीं थे।[1] जब वे पूर्व की ओर बढ़े तब उनका अनार्यों के साथ सम्पर्क भी बढ़ा। अनेक युद्ध हुए, जिनका वर्णन हमे ऋग्वेद मे और उसके बाद पुराणो मे मिलता है। अन्त मे आर्यों की विजय हुई। विजित पर तो विजेता की सस्कृति का रग चढ़ा ही, परन्तु विजेता भी अछूते न बच सके। सघर्ष का परिणाम यह हुआ कि पराजित अनार्य विजेता आर्यों के साथ घुल-मिल गए और उनका पृथक व्यक्तित्व लुप्त हो गया। परन्तु यह सम्मिश्रण दो समान रूप की सभ्य जातियो का सम्मिश्रण था, क्योकि ऋग्वेद के मत्रो तथा सिन्धु-घाटी की खुदाई से स्पष्ट है कि जिनकी पराजय हुई थी, उनकी सभ्यता आर्यों की सभ्यता से कुछ आगे ही बढी हुई थी। अत स्वभावत इस सम्मिश्रण से दोनो जातियाँ एक-दूसरे से प्रभावित हुईं। कुछ विद्वानों का विचार है कि अथर्ववेद का सकलन आर्य अनार्य सम्मिश्रण के बाद हुआ और इसलिए पहले के कुछ ग्रन्थो मे सिर्फ तीन वेदो का ही उल्लेख है।

अनार्यों का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण का सबसे प्रमुख परिणाम यह हुआ कि वैदिक आर्यों के देवताओ ने अनार्य देवताओ को आत्मसात कर लिया। सिन्धु-घाटी मे पाई गई एक मूर्ति पुरुष देवता के दोनो ओर व्याघ्र, घोडा और भैसा दिखाए गए है और सिंहासन के नीचे दो हिरनो का चित्र भी है। इस प्रकार वह देवता पशुपति के रूप मे प्रदर्शित किए गए है। ज्ञात होता है कि जब आर्यों और अनार्यों का सम्मिश्रण हुआ, तब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात हुआ और उसके उपासक रुद्र के उपासक माने जाने लगे। "अतः जब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात हुआ तब लिंगोपासना रुद्र की उपासना मे समाविष्ट हो गई। पहले-पहल तो यह बात जरा विचित्र-सी

---

1. (a) *Max Muller* : Chips From a German Workshop, Vol. I, P. 38

(b) *Macdonell* . Vedic Mythology, pp. 17—19.

लगती है कि आर्यों ने जिस प्रथा को गर्हित समझा था (ऋग्वेद ७।२१।५; १०।९९।३) उसी को उन्होने अपने देवता की उपासना का अग बन जाने दिया। लिंगोपासना एक बडी प्राचीन प्रथा थी और दूर-दूर तक इसका प्रचार था। इसकी परम्परा इतनी प्रबल थी और जिन लोगो मे इसका प्रचार था, उनकी सख्या इतनी अधिक थी कि आर्य सभवतः इसका पूर्ण रूप से दमन नही कर सके। इसके साथ स्वयं आर्यों की अपनी उवरता-सम्बन्धी विधियाँ थी और रुद्र भी उर्वरता के देवता थे। अत आर्यो के कुछ ऐसे वर्गों ने, विशेषतः उन वर्गों ने, जिनमे ऐसी उर्वरता सम्बन्धी विधियो का सर्वाधिक प्रचार था और जिनका सिन्धु-घाटी के लोगो से सबसे अधिक सम्पर्क हुआ, इस प्रथा को स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही समझी। आखिर इस प्रथा का एक ऐसी जाति मे सम्मान था, जो आर्यों से कम सभ्य नही थी, और फिर उर्वरता सम्बन्धी होने के नाते वह वैदिक आर्यों के जनसाधारण के धार्मिक आचार-विचार के सर्वथा प्रतिकूल नही थी। इस प्रकार लिंगोपासना का आर्यों मे प्रचार हुआ।

"आर्यों ने इस प्रकार लिंगोपासना को स्वीकार तो कर लिया, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने उसके मूल स्वरूप को बिलकुल पलट दिया। अपनी मूल धार्मिक विचारधारा की पृष्ठभूमि न रहने के कारण आर्य धर्म मे प्रगतिशील विचारो के प्रभाव मे आकर लिंगोपासना मे कुछ-न-कुछ परिवर्तन तो आना ही था। यद्यपि पुरातनता के आदर से आर्यों ने उसके बाहरी आकार को तो बनाए रखा, तथापि धीरे-धीरे उसके सारे स्वरूप को बदल दिया। पुराने जननेन्द्रिय-सम्बन्धी विश्वास और आचार मिटते गए। लिंग-मूर्तियो का आकार भी यहाँ तक रूढ़ि-गत हो गया कि उनका मूल रूप पहचाना भी नही जा सकता था, और अन्त मे भगवान शिव का लिंग एक प्रतीक-मात्र होकर रह गया—उनके निर्गुण स्वरूप का केवल एक संकेत।"[1]

भारतीय अनार्य भले ही शिश्न-पूजक रहे हो, किन्तु वैदिक साहित्य के पठन से स्पष्ट होता है कि भारतीय सभ्यता और संस्कार का आधार इन्द्रिय-सयम, ब्रह्मविद्या और ब्रह्मचर्य रहा है। शिश्न-पूजा सर्वथा इसके विपरीत और घृणास्पद है। प्राच्यविद्या के विद्वान ई० एम० हैवेल का कथन है कि असभ्यो की

---

1. डॉक्टर यदुवंशी : शैवमत पृ० ३२

शिश्न-पूजा को शिव-लिंग के साथ मिलाना अनुचित है। अतः जब उत्तर वैदिक काल मे अनेक संघर्षों के बाद आर्य अनार्य घुल-मिल गए और अनार्यों के देवता का आत्मसात वैदिक रुद्र से हो गया तब स्वभावतः दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्त्तन हो गया और लिंग शिश्न का रूप न रहकर ब्रह्म का प्रतीक बनकर विभिन्न अर्थों मे व्यवहृत होने लगा।

अतः परवर्ती संस्कृत साहित्य और विशेषकर उपासना तथा साधना में 'लिंग' और 'योनि' शब्द का प्रयोग साधारणतः वस्तु के बोधक चिह्न और उत्पत्ति स्थान के अर्थ मे हुआ, जन्तुओ की प्रजननेन्द्रिय के अर्थ मे इसका बहुत संकुचित और समीति प्रयोग हुआ। कोष-ग्रन्थ शब्दो के अर्थ और प्रयोग का निर्धारण करते हैं। 'लिंग' शब्द का अर्थ मेदिनीकोषकार इस प्रकार करते है—

लिङ्गं चिह्नाऽनुमाने च सांख्योक्तप्रकृतावपि।
शिवमूर्त्तिविशेषे च मेहनेऽपि नपुंसकम्॥

अर्थ—'लिंग' शब्द का प्रयोग इन अर्थों मे होता है—चिह्न, अनुमान, सांख्य की प्रकृति, शिव की एक प्रकार की मूर्ति और शिश्न के अर्थ मे भी। यह नपुंसक लिंग का शब्द है। इस श्लोक मे आए शब्द 'अपि' से लेखक का मतव्य है कि शिश्न के अर्थ मे भी कभी कभी इसका प्रयोग होता है। किसी कारण से उत्तर भारत मे आज इस 'कभी-कभी' या 'भी' ने साधारण प्रयोग का रूप ग्रहण कर लिया है और इसके चिह्नादि व्यापक अर्थ मे बोलचाल की भाषा में गौण और प्रायः अप्रयुक्त हो गए है।[1]

अब प्रश्न उठता है कि वर्तमान काल मे लिंग की पूजा शिश्न-पूजा है अथवा ब्रह्म के प्रतीक-रूप में पूजा है। इसपर अनेक विद्वानो ने अपना-अपना मत व्यक्त किया है। यूरोप के कतिपय देशो—आयरलैंड, इंगलैंड, ग्रीस—तथा मिस्र, जापान आदि सभी देशो मे शिश्न-पूजा का प्रचार था। उसी के आधार पर मिस्टर केनेडी ने अपने ग्रन्थ 'Hindu Mythology' (हिन्दू मिथोलॉजी) के पृष्ठ ३८ पर लिखा है कि भारत मे भी लिंग-पूजा के नाम पर शिश्न पूजा और वेदी के रूप मे स्त्री-योनि की पूजा होती थी। श्रीगोपीनाथ राव केनेडी के मत से सहमत हैं। गुडीमलम में अति प्राचीन और यथार्थ-रूपी लिंग-मूर्ति मिली है। स्पष्टतया वह शिश्न की मूर्ति है। शिश्न की मूर्ति वहाँ कैसे और कहाँ से

1 डॉक्टर जनार्दन मिश्र . भारतीय प्रतीक-विद्या

आई और इसके लानेवाले कौन थे, यह कहना कठिन है। किन्तु यह ज्ञात होता है कि "जननेन्द्रियो की उपासना का प्राचीन सम्प्र संसार मे बहुत प्रचार था। आदिमानव के मस्तिष्क पर समस्त पार्थिव जीवन की आधारभूत प्रजनन-प्रक्रिया का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त आदिमानव के अप्रौढ़ विवेक ने मैथुन-कर्म और पशुओं तथा धान्य की उर्वरता के बीच एक कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया। इसी से लिगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका एक रूप जननेन्द्रियो की उपासना है।"[1]

जो भी हो, वर्तमान काल मे भारत मे जो लिग-पूजा होती है, वह शिश्न के रूप मे नही, किन्तु शिवजी के प्रतीक के रूप मे। जैसा हम ऊपर कह आए हैं, भारत के मान्य और प्रतिष्ठित साहित्य मे लिग विभिन्न अर्थ मे लिया गया है और कुछ पुराणो को छोडकर, जिनपर हम आगे विवेचन करेंगे, कही भी शिश्न-देव के रूप मे नही आया। निम्नांकित उद्धरणो से इसकी पुष्टि हो जाती है

वेदान्त-सूत्र का भारतीय धर्म ग्रन्थों मे एक प्रमुख और मान्य स्थान है। इस ग्रन्थ मे बोधक संकेत के अर्थ मे 'लिग' शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है, और उनमे कही चिह्न या प्रमाण के अर्थ मे और कही लक्षण के अर्थ मे आया है। यथा—

क्षत्रियत्वा वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्।

यहाँ लिङ्गात् क्षत्रियत्व-सूचक चिह्न या प्रमाण का बोधक है। कही-कही (१/१/२३; १/१/३१; १/४/१६; २/३/१३, ३/२/११; ३/२/२६; ३/३/४४; ३/४/३४; ३/४/३६; और ४/३/४) लक्षण के अर्थ मे आया है। उदाहरणार्थ—**तदामध्यानोंवतु तालिङ्गात्सः** (२।३।१३) अर्थात् उन तत्त्वो का भलीभाँति चिन्तन का कथन होने मे तो वह परमात्मा ही उन सबकी रचना करता है, क्योकि उक्त लक्षण उसी के अनुरूप है। उपर्युक्त स्थलो मे एक स्थान पर भी सूत्र मे आए हुए 'लिग' शब्द का कही भी शिश्न के रूप मे व्यवहार नही किया गया है।

इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के अनेक सूत्रो (४८, ७५, ७८, १०५, १८२, और २४६) 'लिग' मे शब्द का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म तथा चिह्न के रूप में हुआ है। उदाहरणार्थ—**वेदा लिङ्गाय** (१८२) अर्थात वेदो में चिह्न

1. शैवमत, पृ० २६

पाए जाने से। सतालिङ्गाऽभावात् (१०५) अर्थात् कोई लिंग (चिह्न) नहीं पाया जाता, जिससे शब्द को अविनाशी या नित्य मान सकें।

उपनिषदों में भी चिह्न, प्रमाण या लक्षण के रूप में 'लिंग' शब्द का प्रयोग हुआ है।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥
(कठोपनिषद् २।५।८)

अर्थात् अव्यक्त प्रवृत्ति से पुरुष श्रेष्ठ है, जो सर्वव्यापक और अलिंग (चिह्न-रहित) है, जिसको जानकर प्राणी मुक्त होता है।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
न कारणम् करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥
(श्वेताश्वेतरोपनिषद् ६।९)

अर्थात् न उसका कोई पति है, न शासक, न लिंग (चिह्न), न कारण, न कारण के स्वामी का स्वामी, न अधिक और न उत्पन्न करनेवाला।

शिवोपनिषद् तथा सदानन्दोपनिषद् में[1]—जिनकी गणना मुक्तिकोपनिषद् में वर्णित १०८ उपनिषदों में नहीं है—भी लिंग का जो उल्लेख आया है, उससे शिश्नदेव का अर्थ नहीं निकलता है। यथा—

हृदयान्तःकरणं ज्ञेयं शिवस्यायतनं परम्।
हृत्पद्मं वेदिका तत्र लिङ्गमोङ्कारमिष्यते॥
(शिवोपनिषद् १।२४)

अर्थात् हृदय में अन्तःकरण (मन) ही शिव का सर्वश्रेष्ठ निवास-स्थान है। वहाँ हृदय-कमल वेदिक ॐ है और ॐकार लिंग है।

यद्दि लिङ्गं सकलं सकलं निष्कलं-निष्कलं च स्थूलं सूक्ष्मं च तत्परम्, स्थूले स्थूले। सूक्ष्मे सूक्ष्मे कारणं तत्परं च।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनादेव पाशं दहति मानवः।
अन्तर्बहिश्चतुर्लिङ्गं विभर्ति यस्तु शाश्वतम्॥
(सदानन्दोपनिषद्)

---

1. आद्यार पुस्तकालय, मद्रास द्वारा प्रकाशित "अप्रकाशिता उपनिषदः", पृ० क्रमशः ३२९ तथा ३८८-८९

अर्थात् यह जो लिंग है, वह साकार, साकार-निराकार और निराकार है। स्थूल, सूक्ष्म और उससे परे है। स्थूल में स्थूल, सूक्ष्म में सूक्ष्म और इनसे परे अर्थात् इनका कारण है।

टिप्पणी—यहाँ लिंग ब्रह्म का बोधक है।

आत्मा को नीचे की अरणि (अग्नि-मन्थन का काष्ठ) और ऊँकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान से मथने पर मनुष्य बन्धन को जला देता है। इसे 'लिंग' कहा जाता है।

लिङ्गपुराण ने भी शिश्न को देव के रूप मे नही माना है। यथा—

लयं गच्छन्ति भूतानि संहरे निखिलं यतः।
सृष्टिकाले पुनः सृष्टिस्तस्माल्लिङ्गमुदाहृतम् ॥ (९९।८)

अर्थात् प्रलयकाल मे सारी सृष्टि जिसमे लीन हो जाती है और पुनः सृष्टि-काल मे जिससे सृष्टि होती है, उसे लिंग कहते हैं।

आध्यात्म रामायण (अरण्य सर्ग ३/२५-२६, अयोध्या १/२०-२१; किकिष्न्धा ३/२३-२५,) मे 'लिंग' शब्द आया है। किन्तु कही भी शिश्न का बोधक नही है। यथा—

त्वदाभासोदिताज्ञानमव्याकृतमितीर्यते।
तस्मान्महांस्ततः सूत्र लिङ्गं सर्वात्मक ततः ॥
अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पञ्चप्राणेन्द्रियाणि च।
लिङ्गमित्युच्यते प्राज्ञैर्जन्ममृत्युसुखादिमत् ॥

अर्थात् (नारद राम से कहते हैं) तुम्हारे प्रकाश से प्रकाशित अज्ञान अव्याकृत कहलाता है। इससे सूत्र रूप सर्वात्मक लिंग, उससे अहकार, बुद्धि, पञ्च प्राण और पाँच इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। बुद्धिमान लोग इन्हे लिंग कहते हैं। जन्म, मृत्यु, सुख इत्यादि इनके साथ लगे हुए है (अयोध्या, सर्ग १, श्लोक २०-२१)

बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनः संसृतिर्बलात्।
आत्मा स्वलिङ्गं तु मनः परिगृह्य तदुद्भवान् ॥
किष्किन्धा, सर्ग ३।२३-२४

अपनी सृष्टि, बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि की समीपता के कारण आत्मा अपने लिंग, मन का ग्रहण करके कामोपभोग करती हुई गुणो के वश मे पड जाती है।

तंत्रालोक (आह्निक ४, कारिका १३१) मे 'लिंग' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—

लिङ्गशब्देन विद्वाद्भिः सृष्टिसंहारकारणम् ।
लयादागमनाच्चाहुर्भवानां पदमव्ययम् ॥
एकस्य स्पन्दनस्यैषा त्रेधा भेदव्यवस्थितिः ।
अत्र लिङ्ग यदा तिष्ठेत् पूजाविश्रान्तितत्परः ॥

अर्थ--विद्वान कहते हैं कि 'लिंग' शब्द से सृष्टि और संहार के कारण का ज्ञान होता है । ल से लय और ग से आगमन अर्थात् विकास का बोध होने के कारण यह सृष्टि के अव्यय पद का बोधक है । पूजा मे स्थिर होकर जब लिंग पर मन स्थिर होता है, तब (बोध होता है) कि एक ही स्पन्दन के तीनो भेद इसमे स्थिर हैं । अत मनीषिगण कहते हैं—

लाभ गच्छन्ति भूतानि संहारे निखिलं यतः ।
सृष्टिकाले पुन सृष्टिस्तस्माल्लिङ्गमुदाहृतम् ॥
(लिंगपुराण ६६।८)

प्रलयकाल मे सारी सृष्टि जिसमे लीन हो जाती है और पुन सृष्टिकाल मे जिससे सृष्टि होती है, उसे लिंग कहते हैं ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि 'लिंग' शब्द का व्यवहार बोधक चिह्न के अर्थ मे हुआ है और वह ब्रह्म-बोधक चिह्न माना गया है, न कि शिश्न । ब्रह्मोपासना के प्रधान साधन के रूप मे पुराणादि मे लिंग की नाना प्रकार से प्रशंसा की गई है और इसके द्वारा उपासना का विधान भी किया गया है । यथा—

आदिमध्यान्तरहितं भेषजं भवरोगिणाम् ।
(सौर पुराण ४२।४१)

लिंग का आदि, मध्य और अन्त नही है । यह संसार-रोग के रोगियो के लिए भेषज (दवा) है ।

प्रणवेनैव मन्त्रेण पूजयेल्लिङ्गमूर्धनि ।
(सौर पुराण ४२।४२)

लिंग के मस्तक पर ऊँकार से पूजा करें ।

शिवोपनिषद् (२।३९) में लिंग के निर्माण और स्थापना की विधि दी गई है । उससे शिश्न की तनिक भी झलक नही मिलती । कहा है—

अधोभागे स्थितः स्कन्दः स्थिता देवी च मध्यतः ।
उर्ध्वं रुद्रः क्रमाद्वापि ब्रह्माविष्णुमहेश्वरः ॥
एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयो गुणा ।
एत एव त्रयो वेदा एत अन्याश्रितं त्रिधा ॥

(लिंग के) निम्न भाग मे स्कन्द रहते हैं, बीच मे देवी रहती है और ऊपर के भाग मे रुद्र हैं। अत यह क्रमश ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं। ये ही तीनो लोक है, ये ही तीनो गुण है, ये ही तीनो वेद हैं तथा और जो कुछ तीन रूपो मे वर्त्तमान है। ओंकार के अ, उ, म रूप मे ब्रह्म का स्थूल रूप माना गया है और इसीलिए ओइम् की उपासना ब्रह्म की उपासना कही गई है। लिंग के तीनो भाग ब्रह्मा, विष्णु और महेश के प्रतीक होने के कारण समस्त रूप से ओंकार के प्रतीक है।

ग्रन्थो के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि 'लिंग' शब्द का व्यवहार विभिन्न रूप और अर्थ मे आया है, यथा—इन्द्र लिंग, आग्नेय लिंग, याम्य-लिंग, ऐन्द्र-लिंग, वायु-लिंग, वरुण-लिंग, कुबेर लिंग, वैष्णव-लिंग, देह-लिंग, बोध-लिंग, दैवी लिंग, पार्थिव लिंग आदि-आदि।

निराकार और ओंकार-स्वरूप ब्रह्म के कल्पित रूप को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए इस पर मुख बना दिया जाता है। कही इसपर एक, कही दो और कही तीन और कही पाँच मुख बना देते हैं। ब्रह्मैक्य के प्रतीक स्वरूप एक मुख बनाया जाता है। तीन मुख त्रिगुणात्मक स्वरूप के प्रतीक है। इसमे सामनेवाला एक मुख कुछ खुला हुआ रहता है। यह रजोगुण है और यह सत्त्व और तमोगुण को जगाए रहता है। इसकी बाई ओरवाला मुख प्रशान्त मुद्रा मे दिखाया जाता है। यह सत्त्वगुण का प्रतीक है। दाहिनी ओर-वाला कराल रूप मे दिखाया जाता है। यह संहारक तमोगुण का चिह्न है। बिना शिवलिंग के यह मूर्ति त्रिमूर्ति कहलाती है। पाँच मुखवाले शिवलिंग चार मुख चारो ओर बने रहते है और पाँचवाँ मुख प्राय नही बनाया जाता है। इसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

मुखलिङ्ग त्रिवक्त्र स्यादेकवक्त्र चतुर्मुखम् ।
सन्मुखं चैकवक्त्र स्यात् त्रिवक्त्रं पृष्ठके नहि ॥
पश्चिमास्यं स्थितं शुभ्रं कुकुभा मे तयोत्तरे ।
याम्यं कृष्णकराल स्यात् प्राच्यां दीप्तग्निसन्निभम् ॥

पञ्चमं च तवेशानं योगिनामप्यगोचरम् ।[1]

किन्तु एक देवता द्वारा किसी अन्य देवता का आत्मसात कर लेने की रीति देवकथाओ मे कोई असाधारण घटना नही है। सच तो यह है कि प्राचीन संसार मे जब कभी एक जाति का किसी अन्य जाति पर राजनीतिक प्रभुत्व हो जाता था, और विशेषकर जब कोई दो जातियाँ मिलकर एक हो जाती थी, तब देवताओ का इस प्रकार एक-दूसरे द्वारा आत्मसात अनिवार्य रूप से हो जाता था। अत. जब वैदिक आर्यों ने आर्येतर जातियो को अपने अन्दर मिलाना आरम्भ किया और फलस्वरूप स्वभावत दोनो के जनसाधारण का ही आपस मे सबसे अधिक सम्पर्क हुआ, तब आर्यो के जनसाधारण के देवता रुद्र ने भी इन आर्येतर जातियो के देवताओ को आत्मसात किया। यह बहुत सम्भव है कि आर्यों के सम्पर्क मे आनेवाली सबसे पहली आर्येतर जातियाँ हिमालय की उपत्यकाओ मे बसनेवाली जातियाँ थी, क्योकि वे ही उत्तरी पंजाब और काश्मीर के पहाडो मे वैदिक आर्यों के निवास स्थान के समीप थी। इन्ही जातियो मे पूजे जाने-वाले किसी देवता का वैदिक रुद्र के साथ सर्वप्रथम आत्मसात हुआ। ज्ञात होता है कि इसी कारण रुद्र का वह रूप बना, जो त्र्यम्बक-होम मे दिखाई देता है। त्र्यम्बक-होम यजुर्वेद के सामान्य यज्ञ-विधान से पृथक एक विशेष विधि है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के सूक्तो के निर्माण-काल के पश्चात् और यजुर्वेद के सूक्तो के संकलन से पूर्व किसी समय आर्य-देवता रुद्र के साथ एक आर्येतर देवता का आत्मसात हो गया था। सम्भवत हिमालय की उप-त्यकाओ मे बसनेवाली कुछ जातियाँ इस देवता को पूजती थी। महाभारत के किरातार्जुनीय प्रसंग से हमे आभास मिलता है कि भगवान शिव का किरातो के साथ सम्बन्ध था। उत्तर-वैदिक काल मे शिव का निवास-स्थान हिमालय के उत्तर कैलास पर्वत पर होना तथा यजुर्वेद के सोलहवे अध्याय मे वर्णित रुद्र स्तोत्र से भी इस विचार की पुष्टि होती है। यह निर्विवाद है कि वेदो मे सबसे पुराना ऋग्वेद है और उसमे भी २ से ९ मण्डल सबसे प्राचीन माने जाते हैं। बाद मे पहले और दसवे मण्डल का सकलन हुआ। कालान्तर मे जब

---

५ भारतीय प्रतीक विद्या, पृ० ११५

Elements of Hindu Iconography, Madras 1916, Vol. I, Part II, P 27.

यहाँ आर्य-जीवन का प्रमुख अंग हो गया तब उस सम्बन्ध के विस्तृत वर्णन की आवश्यकता हुई, और ऋग्वेद के कुछ मन्त्रो के साथ अन्य मन्त्रों को जोडकर यजुर्वेद का सकलन हुआ। यजुर्वेद का सकलन दो रूपो मे—(१) शुक्ल और (२) कृष्ण—प्रचलित हुआ। शुक्ल यजुर्वेद मे सिर्फ मन्त्र हैं, किन्तु कृष्ण यजुर्वेद मे ब्राह्मण भाग भी सम्मिलित हो गया है।

वेदो के बाद ब्राह्मणो ग्रन्थ का स्थान आता है। जिस ग्रन्थ मे वेदो के मत्रो का अर्थ-निर्णय किया गया है, जिसमे याज्ञिक अनुष्ठानो के सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण दिए गए हैं, उसका नाम ब्राह्मण-ग्रन्थ है। उसमे नाना विषयो के आख्यान-उपाख्यान कहे गए हैं। तपोघन और त्यागमूर्ति ब्राह्मणो ने इसका संकलन, संस्मरण और सृजन किया, इसलिए इसका नाम 'ब्राह्मण' पडा।

ब्राह्मण-ग्रन्थो मे यज्ञ करने की विधि विस्तार से दी गई है। इसी विधि विधान को व्यक्त करने के लिए शुक्ल यजुर्वेद के स्वतन्त्र ब्राह्मण-ग्रन्थ शतपथ-ब्राह्मण की रचना हुई, जो सौ अध्यायो मे विभक्त है और उसका स्थान ब्राह्मण-ग्रन्थो मे सवप्रथम है। उसको तात्कालिक विश्वकोष कहना अनुचित न होगा। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे का रुद्र विशेष आवास उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशा मे कहा गया है। (ऐतरेय ५।२।१६; कौशीतकी २।२; तैत्तिरीय १।६।१०; शतपथ ५।४।२।१०) और एक स्थान पर (ऐतरेय ५।२२।७) उत्तर दिशा से आने-वाले एक विचित्र पुरुष कहकर रुद्र का वर्णन आया है। इन सब आधारो पर डॉ० यदुवशी[1] का विचार है कि "रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना मे आर्येतर अशो के मिल जाने के कारण उनमे और अन्य देवताओं के बीच जो अन्तर आता जा रहा था, उसके भी अनेक सकेत ब्राह्मण-ग्रथो मे मिलते हैं। त्र्यम्बक-होम मे रुद का विशेष वाहन मूषक बतलाया गया है। सकेत एक ही ओर है कि ब्राह्मण ग्रथो के समय तक रुद्र को अन्य देवताओं से पृथक समझा जाने लगा था। वैदिक काल के सामान्य देवगण से रुद्र के इस पृथक्ककरण का रुद्र की उपासना के इतिहास और विकास मे बहुत महत्त्व है। ब्राह्मण-काल मे जब वैदिक कर्मकाड अपनी प्रौढावस्था को पहुँचा ओर उसका रूप अत्यधिक विकट हो गया, तब वैदिक देवताओ मे से अधिकाश का व्यक्तित्व फीका पड गया, और वे सर्वशक्तिमान् आह्वान-मत्र से सज्जित स्त्रोता के संकेत-मात्र पर चलने

1. शैवमत पृ० १८-१९

वाले होकर रह गए। रुद्र को छोड़कर इसका एक ही अपवाद है और वह है—विष्णु। परन्तु विष्णु की उपासना की कथा अलग है, और उससे प्रस्तुत विवेचन का कोई सबध नही है। रुद्र पुरोहितो के इस कर्मकाण्ड की पकड़ मे नहीं थे, और जैसे-जैसे इनके उपासकों की संख्या बढती गई, इनकी उपासना मे कुछ ऐसी बातें भी आ गई, जो किंचित् आपत्तिजनक थी; परन्तु वे सभवत उन्ही लोगो तक सीमित रही, जिनमे वे प्रारम्भ मे ही प्रचलित थी। किन्तु दूसरी ओर, इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि वैदिक आर्यों में से कुछ ऐसे प्रगतिशील विचारक थे, जो कृत्रिम कर्मकाण्ड को आध्यात्मिक उन्नति के लिए व्यर्थ समझते थे। वे रुद्र की उपासना की ओर आकृष्ट होने लगे थे और संभवतः इस मनोभाव का परिणाम श्वेताश्वेतरोपनिषद् की रचना और उसका व्यापक प्रचार था।

शुक्ल-यजुर्वेद के १६वे अध्याय मे जो शतरुद्रिय सूक्त आया है, उसके ६६ मंत्रो मे रुद्र के विभिन्न नाम आए है, जिनमे नीलग्रीव, गिरित्र, गिरीश, गिरिचर, गिरिशम, पशुपति, शभु और शकर प्रमुख हैं। ५१वें मत्र मे तो मृगचर्म पहने तथा त्रिशूल धारण किए शिव का वर्णन भी है। यथा—

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव। परमे वृक्षऽआयुधं
निधाय कृत्ति वसानऽआचरपिनाक बिभ्रदागहि।

अर्थ—हे शिव! तुम अत्यन्त कल्याण के करनेवाले हो। तुम हमारे निमित्त शान्त और श्रेष्ठ मनवाले होओ। हमसे दूर स्थित ऊँचे वृक्ष पर तुम अपने त्रिशूल को रखकर, मृगचर्म को धारण करते हुए आओ। तुम अपने धनुष को धारण किए चले आओ। (आचार्य श्रीराम शर्मा)

हे अत्यन्त पराक्रम-युक्त, अतिकल्याणकारी, सेना के पति, आप हमारे लिए प्रसन्न चित्त से सुखकारी हो। खड्ग, भूशुण्डी और शतघ्नी आदि शस्त्रो का ग्रहण कर मृगचर्मादि की अँगरखी को शरीर मे पहिने आत्मा के रक्षक धनुषवा बख्तर आदि धारण किए हुए हमलोगो की रक्षा के लिए आइए। (स्वामी दयानन्द सरस्वती)

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि इस रुद्र-स्तुति का संकलन रुद्र के अनार्य-देवता से आत्मसात होने के बाद हुआ; क्योंकि अनेक नाम तथा मृगचर्म

रुद्र को पर्वतो और जगलो से सम्बन्धित करते हैं। इनके अतिरिक्त 'क्षेत्रपति' और 'वणिक' शब्द भी आए है। ऋग्वेद मे रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता दीख पड़ते हैं, किन्तु यजुर्वेद मे आकर महान् देवता हो जाते है और उपर्युक्त उपाधियो से रुद्र का लोकप्रिय स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद का वर्णन भयकर देवता के रूप मे आया है। देवता तक उनसे डरते हैं। रुद्र-स्तुति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रुद्र के प्राचीन स्वरूप की स्मृति उस समय तक शेष थी और इसी कारण इस सूक्त मे रुद्र के भयावह बाणो का डर स्तोत्र-कर्त्ता के मन मे अधिक है और वह अनेक प्रशसासूचक उपाधियो से रुद्र को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है।

ऋग्वेद (७।५९।१२) तथा यजुर्वेद मे एक और महत्त्वपूर्ण नाम 'त्र्यम्बक' आया है। पुराणो मे शिव को तीन नेत्रवाला कहा गया है और वेदो मे आए हुए त्र्यम्बक शब्द को पौराणिक शिव का ही स्पष्ट उल्लेख मानते हैं। शिवपरक 'टीकाओ मे इसका अर्थ तीन नेत्रवाला भी माना गया है।[1] यह मत्र आज महामृत्युञ्जय मत्र के रूप मे आदर पाकर साधको के जप का एक प्रमुख मत्र बन गया है। वैदिक साहित्य और परवर्ती साहित्य मे 'अम्ब' का अर्थ है पिता। अत यदि इसकी व्युत्पत्ति पर ध्यान द तो त्र्यम्बक का अथ होना चाहिए, जिसके तीन पिता हैं। वैदिक देवताओ मे केवल एक ही देवता ऐसा है, जिस पर यह वणन लागू हो सकता है और वह है अग्नि, जिसके तीन जन्मो का—पृथ्वी, आकाश और द्यु—वैदिक साहित्य मे बहुधा उल्लेख मिलता है। चूँकि रुद्र और अग्नि का तादात्म्य है, इसलिए सहज मे ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उपाधि वास्तव मे अग्नि से चलकर रुद्र के पास आई। कालान्तर मे 'अम्ब' शब्द का मूल अर्थ लोग भूल गए और अम्ब के दूसरे अर्थ नेत्र को लेकर इसकी धारणा पौराणिक शिव के एक महत्तवपूण आर प्रमुख स्वरूप की उत्पत्ति हुई और शिव के तृतीय नेत्र की सारी कथा रची गई।[2]

अत रुद्र कभी भी विशुद्ध रूप से कर्मकाण्ड के देवता नही थे, पर ब्राह्मण-ग्रन्थो के समय तक एक प्रमुख देवता बन गए थे, जिसका अपना वास्तविक

1. इस 'त्र्यम्बक' शब्द का विभिन्न विचारधारा से किया हुआ अर्थ प्रथम परिच्छेद में महामृत्युञ्जय मंत्र की व्याख्या में प्रस्तुत है।
2. शैवमत

व्यक्तित्व था। वे वैदिक ऋत के मूर्तिमान स्वरूप बन गए, जबकि अन्य देवता सर्वशक्तिमान यज्ञ-विधि के समक्ष क्षीण होते जा रहे थे। इस प्रकार रुद्र का पद निश्चित रूप से इन अन्य देवताओ मे ऊँचा हो गया और वे वास्तव मे महा देव बन गए। इसी कारण जब अथर्ववेद का संकलन हुआ तब उसमे ऋग्वेद की अपेक्षा उनका स्थान बहुत अधिक प्रमुख हो गया। अनेक शताब्दी बाद पौराणिक काल मे शिव के स्वरूप और उपासना के बहुत-से प्रमुख अंश वैदिक रुद्र के स्वरूप और उपासना से ही लिए गए। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे वैदिक रुद्र का आवास उत्तर और उत्तर-पश्चिम कहे जाने के फलस्वरूप पौराणिक काल मे शिव का निश्चित वासस्थान कैलास बन गया और उसी के चारो ओर अनेक कथाओं की रचना हुई।

वैदिक आर्य बडी यज्ञ-वेदियो और कुछ अस्थायी मण्डपो से अधिक नही बनाते थे। इन दोनो मे से किसी को भी स्थायी बनाने का कोई उद्देश्य नही होता था। यज्ञ-समाप्ति के बाद उनकी भी समाप्ति हो जाती है—जैसाकि आज-कल यज्ञोपवीत या विवाह के समय बनते है। किन्तु जब वैदिक देवता रुद्र का एक ओर हिमालय के आदिवासियो के देवताओ से तथा दूसरी ओर सिन्धु-प्रदेश के अनार्य शिश्नोपासको के देवता से आत्मसात हो गया, तब संभवत. आरम्भ मे लिंग पूजा सीमित रूप मे सिर्फ निम्नकोटि के आर्यों मे प्रचलित होती है। ज्ञात होता है कि इन दो विभिन्न अचलो के लोगो के सम्पर्क के बाद स्थायी उपासना-भवनो के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। जैसाकि प्रथम परिच्छेद मे लिखा गया है, जहाँ तक मूर्तियो का प्रश्न है, हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नही है कि मूल आर्यों ने कभी देव-मूर्तियाँ बनाई, यद्यपि देवताओ की कल्पना वे पुरुष-विध से करते थे। समस्त वैदिक धर्म मे मन्दिर मे मूर्ति-पूजा की विधि का कही उल्लेख नही है और न प्राचीन उपनिषदो की धार्मिक विचारधारा को उपासना की स्थायी भावना की अपेक्षा थी। सच तो यह है कि भारतवर्ष मे सदा से ही धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति का सर्वोच्च रूप उसी को माना गया है, जिसमे मन्दिरो और मूर्तियो जैसे बाह्य साधनो की आवश्यकता ही न पडी। अत. जब हम देखते हैं कि अपर-वैदिक धर्म मे मन्दिरो और मूर्तियो—दोनों का बडा महत्त्व है तब हमे यह मानना पड़ता है कि यह महान् परिवर्त्तन न केवल वैदिक धार्मिक विचारधारा और उपासना-विधि का स्वाभाविक विकास-मात्र है, अपितु किसी प्रबल बाह्य प्रभाव का परिणाम है,।

यद्यपि अनार्यों से सम्पर्क के बाद आर्य-अनार्य के सम्मिश्रण की प्रक्रिया का आरंभ तो हो गया तथापि दीर्घकाल तक उनका अलग अस्तित्व बना रहा। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे हमे ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जो दोनो जातियो के सम्मिश्रण के द्योतक हैं। किन्तु इन ग्रन्थों मे रुद्र देवता का सिन्धु-घाटी के देवताओ और प्रमुखत शिश्न-देव के साथ आत्मसात किए जाने का कोई सकेत नही मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थो के समय तक सम्मिश्रण पूर्ण रूप से व्यक्त नही हुआ था। इससे यह धारणा प्रबल हो जाती है कि लिंग-पूजक सिन्धु-घाटीवालो के सम्पर्क मे आने पर भी अनेक शताब्दियो तक आर्यों ने यद्यपि हिमालय प्रदेश के अनार्यों के देवता से आत्मसात कर लिया, तथापि शिश्नदेव की पूजा, जिसका बडे अपमान के साथ ऋग्वेद मे (७।२१।५, १०।९९।३) उल्लेख किया गया है, आत्मसात नहीं कर सके थे, जिसके परिणाम-स्वरूप ब्राह्मण-काल तक आर्यों ने शिश्नदेव की पूजा को अपना लिया और तब इसके स्वरूप को ही बदल दिया जैसाकि हम पहले कह चुके हैं। इसी के परिणाम-स्वरूप जब मूर्ति-पूजा की प्रथा आर्यों मे चल पडी तब शिव की पूजा साथ-ही-साथ अपनी-अपनी मनोभावना के अनुसार, मूर्ति के रूप मे अथवा लिंग के रूप मे प्रचलित हुई, यद्यपि आज मूर्ति के रूप मे शिव की पूजा लुप्तप्राय हो गई है। द्वादश ज्योतिर्लिगो की महिमा इस बात की पुष्टि करती है।

सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता और वैदिक रुद्र के समीकरण का एक बहुत बडा परिणाम यह हुआ कि आर्य-धर्म मे देवी की उपासना का आरम्भ हुआ। वैदिक रुद्र का 'अम्बिका' नामक एक स्त्री-देवता के साथ सम्बन्ध था। अत: जब रुद्र ने सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता को आत्मसात किया तब यह स्वाभाविक था कि सिन्धु घाटी की देवी का अम्बिका के साथ समीकरण हो जाए। वैदिक साहित्य मे अम्बिका रुद्र की बहन है, स्त्री नही। यह बात हमारे अनुमान मे कोई कठिनाई उपस्थित नही करती, क्योंकि देवताओ के ऐसे सम्बन्ध शीघ्र ही बदल जाते है। इस प्रकार सिन्धु-घाटी की देवी रुद्र की पत्नी मानी जाने लगी। इन दो देवताओ के समीकरण मे सबसे बडी सुविधा यह हुई कि 'अम्बिका' शब्द का अर्थ है माता और सिन्धु-घाटी की देवी भी माता मानी जाती थी तथा दोनो का सम्बन्ध उर्वरता से था। कालान्तर मे रुद्र की पत्नी के रूप मे इस देवी का पद वैदिक देवताओ की पत्नियो से सर्वथा भिन्न हो गया। अन्य देवताओ की पत्नियो का अपना व्यक्तित्व बहुत कम विशिष्ट था, उनकी ख्याति अपने

पतिदेव के कारण ही थी, किन्तु रुद्र की पत्नी को एक स्वतंत्र देवता के रूप में बहुत ऊँचा स्थान मिला।

स्वतंत्र रूप से उनकी उपासना से भारतवर्ष में शक्ति अथवा तांत्रिक मत का सूत्रपात हुआ। इस सम्बन्ध मे हम आगे विस्तृत रूप से प्रकाश डालेगे।

सिन्धु-घाटी के लोगों का आर्य-जाति से सम्मिश्रण का दूसरा महान् परिणाम हुआ कि भारत मे मन्दिरो और मूर्तियो की स्थापना आरम्भ हुई। सिन्धु-घाटी के लोगो और आर्यों के सम्मिश्रण होने पर तथा इन दोनो के देवताओं का परस्पर आत्मसात होने पर सिन्धु-घाटी की देवी और उसके सहचर देवताओ के मन्दिर, रुद्र की सहचरी देवी और स्वयं रुद्र के मन्दिर माने जाने लगे। इस प्रकार देवालय और उसमे स्थापित मूर्ति की पूजा का श्रीगणेश हुआ।

सिन्धु-घाटी के लोगो और आर्यों के एक हो जाने के उपरान्त, रुद्र की उपासना ने जो स्वरूप धारण किया, उससे लिंगोपासना दृढ़ हो गई। सबसे बढ़कर तो यह बात हुई कि रुद्र के उपासको की संख्या अत्यधिक बढ़ गई और आज सारे भारत मे कन्याकुमारी से लेकर सुदूर अमरनाथ तथा केदारनाथ तक एक रूप से शिव की उपासना प्रचलित है और इसकी तुलना मे मूल आर्य-देवता विष्णु तथा उनके प्रमुख अवतार श्री राम और श्रीकृष्ण की उपासना भारत के विभिन्न अंचलों मे ही मुख्य रूप से प्रचलित है।

इस सम्मिश्रण का एक और प्रभाव यह पड़ा कि निम्नकोटि के लोगो ने कुछ नए देवी-देवताओ को अपनाया। ऐसे देवी-देवता असभ्य जंगली अनार्यों के द्वारा सर्वत्र पूज्य थे। इनकी आकृति पशु-पक्षियो की-सी होती थी या प्रेत-पिशाच-जैसे मुँह और दाँत होते थे। ऐसे देवी-देवता प्राय. क्रूरकर्मा होते थे। आज भी बहुत-से गाँवो मे ऐसे ग्रामदेवो की मिट्टी या लकड़ी की मूर्तियाँ मिलती है, और भाँति-भाँति की पूजा द्वारा उन्हे शांत किया जाता है। अपने अनार्य पड़ोसियो के सम्पर्क से आर्यों मे नाग, गदहे पर सवार होनेवाली शीतला देवी और कुत्ते पर चढ़नेवाले भैरव के साथ मूषक-वाहन पर आरूढ़ हस्ति-मुख गणेश की भी पूजा प्रचलित हो गई।



तीसरा परिच्छेद

उपनिषद्-काल

एक जाति का दूसरी जाति के सम्पर्क मे आने पर परिस्थितियों के अनुसार कभी कम और कभी अधिक समय तक, सम्मिश्रण की प्रक्रिया के जारी रहने पर भी, दोनो जातियो को अपने-अपने अलग अस्तित्व का बोध रहता है। यह सम्मिश्रण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो धीरे-धीरे होती है और दीर्घ काल तक होती रहती है। अत इसके लिए कोई एक तिथि नियत करना सभव नही है। सिन्धु-घाटी के लोगो तथा हिमालय-प्रदेश के आदिनिवासियो के सम्मिश्रण की प्रक्रिया का प्रारम्भ तो उसी समय हो गया होगा जब उनका आर्यों के साथ सम्पर्क हुआ, किन्तु ज्ञात होता है कि दीर्घ काल तक उनका अलग अस्तित्व बना रहा। आर्य विजेता थे। अत स्वभावत. उनमे बडप्पन का अभिमान था। सती-दाह की कथा से हमे इस सम्बन्ध का एक प्रबल सकेत मिलता है। ज्ञात होता है कि जब अनेक शताब्दियो के सघर्ष के पश्चात् आय और अनाय विवाह-सूत्र मे बँधने लगे तब उसी सिलसिले मे आय-नरेश दक्ष प्रजापति की पुत्री सती का विवाह गन्धर्व देश (तिब्बत)-निवासी शकर से हुआ, जो कालान्तर मे वैदिक देवता रुद्र मे विलीन हो गए। विवाह-सम्बन्ध हो जाने पर भी आय-सभ्यता और सस्कृति की महानता को दक्ष भूल नही सके थे, पूर्व सस्कार-पूर्ण रूप से मोजूद था। अनार्यो को बराबर का अधिकार और सम्मान देने के लिए वे प्रस्तुत नही थे। अत यज्ञ मे शकर को न तो मर्यादापूर्ण स्थान दिया और न निकटतम सम्बन्धी होने पर भी उन्हे निमत्रण ही दिया। किन्तु बिना निमत्रण पाए, इस धारणा के अनुसार कि 'मित्र, प्रभु, पितु, गुरु गेहा। जाइए बिनु बोले सदेहा॥'—सती बिना बुलाए पति-गृह चली गई। यद्यपि वहाँ उनका स्वागत नही हुआ, तथापि अपने अपमान का उन्हे क्षोभ भी नही हुआ। किन्तु, जब सती ने अपने पूज्य पति की वहाँ अवमानना देखी तब पति के अपमान के प्रतिकार मे तथा आर्य-सस्कृति के अभिमान के फलस्वरूप दोनो जातियो के बीच के मनोमालिन्य को दूर करने के उद्देश्य से इस अन्यायपूर्ण कार्य का विरोध करने के उपरान्त यज्ञ-कुण्ड मे कूद कर आत्म-बलिदान किया। इसके फलस्वरूप आर्यों और अनार्यों का उत्तर-

भारत मे संघर्ष बुझती हुई दीप-शिखा की तरह अन्तिम बार प्रज्वलित होकर अन्त मे स्थायी रूप से आर्य-अनार्य के संघर्ष को सदा-सर्वदा के लिए दूर कर उन्हे स्नेह-सूत्र मे बाँधने मे समर्थ हुआ। आगे चलकर इसी धारणा ने श्रीराम-चन्द्र को दक्षिण-भारत मे आर्य-सस्कृति के विस्तार का सुअवसर दिया। यह घटना स्पष्टतया ब्राह्मण-काल मे हुई ज्ञात होती है, क्योकि वैदिक यज्ञ के संबध मे ही यह घटना हुई थी। इससे स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-काल तक यह सम्मिश्रण पूर्ण रूप से पुष्ट और व्यापक नही हुआ था। इस घटना से हम उस समय का अनुमान लगा सकते हैं, जब सम्मिश्रण की प्रक्रिया हो रही थी। पहले-पहल दो जातियो के लोगो के उन दलो मे इक्के-दुक्के व्यक्तियो का मेल होता है जो सबसे अधिक एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते है और यदि कोई प्रतिबन्ध न लगा तो यह प्रक्रिया फैलती जाती है। परन्तु इस सम्मिश्रण के फल व्यक्त होने मे काफी समय लगता है। अत आर्यों का अनार्यों के साथ सम्मिश्रण की प्रक्रिया तो आर्यों और अनार्यो के सम्पर्क के साथ-साथ आरम्भ हो गई होगी, किन्तु दीर्घ काल तक, यानी स्पष्ट रूप से ब्राह्मण-काल तक, उनका अलग-अलग अस्तित्व बना रहा। इसी कारण ब्राह्मण-ग्रन्थो मे इन दोनो जातियो के सम्मिश्रण का प्रमाण मिलता है, किन्तु अनार्यों की लिंग-पूजा को आत्मसात करने का कही सकेत नही मिलता। ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-काल मे ही रुद्र की मूर्ति की स्पष्ट कल्पना हो चुकी थी, क्योकि शतपथ ब्राह्मण (६।१।३, १-८) मे रुद्र-जन्म की कथा आई है, किन्तु कही भी उनकी मूर्ति की स्थापना और पूजा का उल्लेख नही है।

ब्राह्मण-ग्रन्थो के बाद वैदिक साहित्य मे आर्यो की विचार-पद्धति को दर्शाने-वाले ग्रन्थ आरण्यक और उपनिषद् मिलते है। ब्राह्मण-ग्रन्थो के जो अश अरण्य या विपिन मे पठित और उपविष्ठ हुए, उनका नाम 'आरण्यक' है। इन आरण्यकों के भाग या खण्ड गहन, गंभीर और सूक्ष्म मनन-चिन्तन से परिपूर्ण हैं और उस अश का नाम उपनिषद् है। उपनिषदों मे परमात्मा के सबंध की निगूढ आलोचना है।

उपनिषद् अनेक हैं। १०८ उपनिषदो का उल्लेख मुक्तिकोपनिषद् मे आया है। अधिकाश विद्वान इन्ही १०८ उपनिषदो से परिचित हैं। किन्तु इन १०८ उपनिषदो के अतिरिक्त ७१ उपनिषदो को 'अप्रकाशित उपनिषद्' के नाम से आड्यार पुस्तकालय, मद्रास द्वारा प्रकाशन हुआ है। इसमे एक 'अल्ला-उपनिषद्'

भी है, जिसके कुछ अश तो अरबी भाषा मे हैं और कुछ सस्कृत में। इस उपनिषद् की रचना बादशाह अकबर के समय में 'दीन-इलाही' मत की पुष्टि के लिए की गई थी। यह उपनिषद् छोटी है। इसमें सिर्फ उन्नीस पक्तियाँ (लाइन) हैं। उदाहरणार्थं कुछ पक्तियाँ यहाँ दी जाती है :

हिव्यानि धत्ते धत्ते हिव्यानि धत्ते। धत्त इलल इलले धत्ते धत्त इलले। धत्त इति धत्ते। इलले वरुण इलल इलले वरुणः। इलल इति इलले।

इससे ज्ञात होता है कि उपनिषदो का निर्माण जो वैदिक काल मे शुक्ल-यजुर्वेद के चालीसवे अध्याय मे ईशावास्योपनिषद् के रूप मे आरम्भ हुआ, अबाधगति मे मुगल बादशाह अकबर के शासन-काल तक चलता रहा, जिसके परिणाम-स्वरूप अनेक साम्प्रदायिक उपनिषदो की रचना हुई।

किन्तु सर्वमान्य सिर्फ दस उपनिषदें है—(१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) ऐतरेय, (८) तैत्तिरीय, (९) छान्दोग्य और (१०) बृहदारण्यक। इन दस उपनिषदो का स्थान प्रस्थानत्रयी—(१) ब्रह्मसूत्र, (२) उपनिषद् और (३) गीता—मे है। शकराचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य आदि ने इन दस उपनिषदो पर भाष्य लिखा है। इन दस उपनिषदो के अतिरिक्त श्वेताश्वेतरोपनिषद् की भी कापी मर्यादा है। शंकराचार्य ने इसपर भाष्य भी लिखा है। यद्यपि दशोपनिषद् ब्रह्म-परक हैं और उनमे देवी-देवताओं का उल्लेख नही हे तथापि बृहदारण्यक[1] (१।४।११, २।२।२) और प्रश्नोपनिषद्[2] (२।६) मे प्रसगवश रुद्र का उल्लेख आया है।

---

1 **ब्रह्म वा इदमग्र आसीद एकमेव। तदेक सन्न व्यभवत्। तत् श्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्र यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुण सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति।**

अर्थ—प्रारम्भ में एक ब्रह्म था। वह विभूतियुक्त कर्म करने के लिए समर्थ नही हुआ, क्योकि वह उस समय अकेला था। उसने कल्याण-स्वरूप क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया एव देवताओ मे क्षत्रिय इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि की रचना की।

1. **(क) तमा इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभि रैन रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ। (बृहदारण्यक २।२।२।)**

अर्थ—सात रुद्रादि देवता नेत्र-स्थित प्राण की रक्षा करते है, जिनमें जो ये नेत्र में लाल रेखाएँ है, उनके द्वारा रुद्र इस मध्यम प्राण के अनुगत है।

2. **इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा, रुद्रोऽसि परिरक्षिता। (प्रश्नोपनिषद् २।६।)**

उपनिषदों मे मैत्रायणी उपनिषद् की भी मर्यादा है। अनेक विद्वान् दशोपनिषद् के साथ प्राचीन उपनिषदो मे श्वेताश्वेतर, कौषितवी और मैत्रायणी का भी उल्लेख करते हैं। श्वेताश्वेतर और मैत्रायणी पर शकराचार्य का भाष्य मिलता है। किन्तु इन उपनिषदो के विषयो के चयन से ज्ञात होता है कि ये उपनिषदें दशोपनिषद् के बाद त्रिदेव ब्रह्म की भावना के पूणरूपेण पुष्ट होने के पहले की है, क्योंकि रुद्र का सम्बन्ध स्पष्टतया तमोगुण से किया गया है और आर्यों के उपास्य और रक्षक विष्णु का सतोगुण से। मैत्रायणी उपनिषद् से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रुद्र के प्रति प्राचीन विरोध-भावना का अन्त नही हुआ था। इस उपनिषद् के चोथे प्रपाठक मे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को परमात्मा का सबसे बडा और श्रेष्ठ शरीर कहा गया है। किन्तु इन तीनो को परमात्मा का पर्यायवाची कहकर ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु को क्रमशः परमात्मा का रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण का अंश कहा गया है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि तीनो मिलकर पूर्ण परमात्मा का स्वरूप है।[1] इस उपनिषद् के अंत में शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा (ब्रह्मा), हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और चन्द्र सबको नियन्ता और पर्यायवाची कहा है।[2]

अर्थ—हे प्राण ! तू इन्द्र है, तेज के कारण तू ही रुद्र है।

1 ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्यथयोह खलु वावास्य राजसोंशोऽसौ स योऽयं ब्रह्माऽथ योह खलु वावास्य तामसोंऽशोसौ स सोऽयं रुद्रोऽथ योह खलु वावास्य सात्त्विकोऽशोसौ स एव विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधा भूतः। (मैत्रायणी उप०-४।५)

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र (रुद्र) को परमात्मा का सबसे बडा और श्रेष्ठ शरीर कहा गया है। उसपर परमात्मा के रजोगुण का अंश ब्रह्मा है, तमोगुण का अंश रुद्र है और जो सतोगुण का अंश है, वह विष्णु है। इस प्रकार वह एक ही परमात्मा तीन रूपो मे प्रकट हुआ है।

2. एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड्हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्तो विष्णुर्नारायणो-

रुद्र सम्बन्धी उपर्युक्त उपनिषदों की कमी श्वेताश्वेतर उपनिषद् पूरी कर देती है। इसी उपनिषद् में सर्वप्रथम महेश्वर, शिव, ईशान आदि नाम से रुद्र सम्बोधित हुए हैं। वेदों में रुद्र का उग्र देवता के रूप में परिचय आया है, किन्तु श्वेताश्वेतर उपनिषद् में सिर्फ एक श्लोक (३।६) में उनकी प्राचीन उग्रता का उल्लेख मिलता है।[1]

ब्राह्मण-ग्रंथों के समय में रुद्र के पद का कितना उत्कर्ष हो चुका था, यह इस उपनिषद् में स्पष्ट झलक जाता है। वे मोक्षान्वेषी योगियों के ध्यान के विषय हो जाते है, और उनको स्रष्टा ब्रह्म, परमात्मा माना गया है। रुद्र की स्तुति में वेद के पुरुष-सूक्त के भी कुछ मंत्र ज्यों-के-त्यों इस उपनिषद् में (३।१४-१६) आ गए है। इस प्रकार, इस उपनिषद् में रुद्र के साथ पूर्ण रूप से ब्रह्म का

ऽर्कः सविता धाता सम्राजिन्द्र इन्दुरिति य एव तपत्य-
ग्निना पिहितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनाण्डेनैव वाव
विजिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः।

(मैत्रायणी ५।८)

अर्थ—यही आत्मा है, यही सबका नियन्ता, ईश्वर, शंकर, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शांत, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और चन्द्र है। जो इस अग्नि के रूप में तपता है और हजारों के नेत्र-रूप में प्रकाशमय आनन्द में व्याप्त है, वही जानने योग्य है।

1. यमिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु माहिंसीः पुरुषं जगत्॥

अर्थ—हे गिरिशन्त! जीवों की ओर फेंकने के लिए तुम अपने हाथ में जो बाण धारण किए रहते हो, हे गिरित्र! उसे मंगलमय करो, किसी जीव या जगत की हिंसा मत करो।

मानस्तोके तनये मान आयुषि मानो गोषु मानो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मो रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे॥

अर्थ—हे रुद्र! तुम कुपित होकर हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौ और अश्वों का क्षय न करना और हमारे वीर सेवकों का भी वध न करना। हम हव्य-सामग्री से युक्त होकर सर्वदा ही तुम्हारा आवाहन करते है।

तादात्म्य किया गया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद्, काल की दृष्टि से दशोपनिषद्-काल के बाद की और रुद्रहृदयोपनिषद् सदृश शैव उपनिषदों के बहुत पहले की रचना है। उसमें रुद्र का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपनिषद् की रचना के समय तक रुद्र का उत्कर्ष पूर्ण रूपेण हो चुका था और वे सिर्फ जनसाधारण के देवता ही नही थे, अपितु आर्यों के सबसे अधिक आराध्य देव बन गए थे।[1] इस उपनिषद् मे रुद्र को योगी, चिन्तक और शिक्षक-रूप में भी कल्पना की गई है। इस उपनिषद् मे पहली बार रुद्र का विश्व की सक्रिय सर्जना-शक्ति के रूप मे उल्लेख हुआ है और उसको परब्रह्म की शक्ति कहा गया है, जिसके द्वारा वह विविध रूप से विश्व की सृष्टि करता है।[2] इसी उपनिषद् मे पहली बार शिव को

---

1 तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्लं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः॥ ४।२

अर्थ—वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्ल (शुद्ध) है, वही ब्रह्म है, वही जेता है और वही प्रजापति है।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूत गुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः॥ ३।११

अर्थ—वह भगवान् समस्त मुखोवाला, समस्त शिरोवाला और समस्त ग्रीवाओवाला है। वह सम्पूर्ण जीवो के अन्त करणो मे स्थित और सर्वव्यापी है, इसलिए सर्वगत और मगलमय है।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न
ज्यायोऽस्तिकश्चित्। वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णपुरुषेण सर्वम्॥ ३।९

अर्थ—जिसमे उत्कृष्ट और कोई नही है तथा जिसमे छोटा और बडा भी कोई नही है, वह यह अद्वितीय परमात्मा अपनी द्योतनात्मक महिमा में वृक्ष के समान निश्चल भाव से स्थित है। उस पुरुष ने ही इस सम्पूर्ण जगत को व्याप्त कर रखा है।

2. एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोका
नीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सचुको-
चान्तकाले संसृज्य विश्वाभुवनानि गोपाः॥ (३।२)

परब्रह्म माना गया है। इसी मे सांख्य और सांख्य प्रकृति का पहली बार निश्चित रूप से उल्लेख हुआ है।[1]

किन्तु रुद्र-सम्बन्धी उल्लेखो मे भरपूर रहने पर भी इस उपनिषद् में संकेत मे भी कही रुद्र की मूर्ति की पूजा का उल्लेख नहीं मिलता। इसमे स्पष्ट हो जाता है कि इस उपनिषद् के रचना-काल तक लिग-पूजा आर्यों में आरम्भ नही हुई थी, अन्यथा रुद्र के सम्बन्ध मे विशद वर्णन मे भी कही-न-कही उसका उल्लेख आ ही जाता। यहाँ जो कुछ आया है वह सिर्फ रुद्र के निराकार रूप को व्यक्त करता है।

केनोपनिषद् मे—जिसकी गणना दस अति प्राचीन उपनिषदो मे होती है—कहा गया है कि देवताओ को ब्रह्मज्ञान उमा हैमवती नामक एक देवता ने कराया (३।१२)। इस उपनिषद् मे अपर-वैदिककालीन देवता उमा का वैदिककालीन सर्वश्रेष्ठ देवता इन्द्र से साक्षात् एक अद्भुत घटना है।[2]

अर्थ—क्योकि एक ही रुद्र है, इसलिए (ब्रह्मविद्) उसमे भिन्न किसी अन्य वस्तु के लिए अपेक्षा नही करते। वह अपनी (ब्रह्मादि) शक्तियो द्वारा इन लोको का शासन करता है, वह समस्त जीवो के भीतर स्थित है और सम्पूर्ण लोको की रचना कर उनका रक्षक होकर प्रलयकाल मे उन्हे सकुचित करता है।

1 नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ (६।१२)

अर्थ—जो नित्यो मे नित्य, चेतनो मे चेतन है, अकेला है। बहुतो को भोग प्रदान करता है, साख्य योग द्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देव को जानकर पुरुष समस्त बन्धनो मे मुक्त हो जाता है।

2. सतस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियं माजगाम बहुशोभमानाम्
उमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति।

(केनोउपनिषद् ३।१२)

अर्थ—इन्द्र ने अत्यन्त सुशोभित और सुवर्ण के आभूषणो को पहने हुए हिमाचल की कन्या उमा को आकाश मे विद्या-रूप से प्रकट हुए देखा। इससे यक्ष (ब्रह्म) के वृत्तान्त का पता लगेगा, ऐसा समझकर देवराज इन्द्र उसके समीप जाकर पूछने लगा कि वह यक्ष कौन था।

क्योंकि जहाँ वेद मे इन्द्र की कल्पना ब्रह्म (ईश्वर) के रूप में की गई है, और जिसकी स्तुतियो मे ऋग्वेद भरपूर है, उपनिषद्-काल तक इनकी मर्यादा इतनी गिर गई ज्ञात होती है कि इन्हे हम उमा से ब्रह्मोपदेश पाते देखते हैं। पुराणो के अनुसार सती का दक्ष-यज्ञ मे अपने को बलिदान कर देने के अनेक काल बाद उमा का हिमाचल के घर में जन्म हुआ और बाद मे शिव से विवाह हुआ। अत. इस उपनिषद् की रचना ब्राह्मण-ग्रन्थों के बहुत बाद की ज्ञात होती है; क्योकि ब्राह्मण-काल मे इन्द्र की मर्यादा अक्षुण्ण दीख पड़ती है और दूसरी बात यह है कि उमा नाम और हैमवती उपाधि से हमे तुरन्त अपरकालीन शिव की पत्नी का स्मरण हो जाता है, जिसका नाम उमा था और वह हिमवान् की पुत्री थी। यहाँ यदि उमा को उपाधि हैमवती न रहती तो शिव की पत्नी होने का ख्याल भी नहीं होता, क्योकि हैमवती का अर्थ सुवर्ण-वर्ण अथवा सुवर्णमय भी है। अत यह भी सम्भव है कि अपर वैदिककाल मे शिव की पत्नी को हिमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री माना जाने लगने पर केन-उपनिषद् मे सुवर्ण-वर्ण उमा का वर्णन आने के बाद शिव की पत्नी पार्वती का नाम उमा भी पड गया हो, क्योकि लक्ष्मी और सरस्वती के सदृश शिव-पत्नी सिर्फ एक नाम मे प्रसिद्ध न होकर कालान्तर मे अनेक नामो—दुर्गा, काली आदि—से प्रसिद्ध हुईं और विभि न नाम और रूप से उनकी पूजा आज होती है। कुछ भी हो, उनके साक्षात् उपस्थित होने के फलस्वरूप हमें एक देवता का साक्षात् दर्शन होता है, किन्तु इससे किसी प्रकार की मूर्ति-पूजा का सकेत नही मिलता।

इन प्राचीन उपनिषदो के अतिरिक्त रुद्र का उल्लेख अन्य उपनिषदो मे भी आया है। किन्तु निश्चित रूप से वे आधुनिक हैं, अतः उनपर विचार करना यहाँ आवश्यक नही है।

सुतरा बृहदारण्यक प्रश्न, मैत्रायणी, केन और सर्वोपरि श्वेताश्वेतर उपनिषद् मे जो रुद्र-सम्बन्धी वर्णन आया है, उसमे सकेत-रूप मे भी उस काल मे किसी भी रूप मे प्रतीक-पूजा का आभास नही मिलता। अत ज्ञात होता है कि यद्यपि उपनिषद्-काल तक वैदिक देवता रुद्र का अनार्यों के देवता से आत्मसात हो चुका था और रुद्र समान रूप से आर्यों और अनार्यों के उपास्य हो चुके थे, तथापि आर्यों में प्रतीक-पूजा को उस काल तक अपनाया नहीं था।



चौथा परिच्छेद

रामायण-महाभारत-काल

रामायण-काल

रामायण का ठीक-ठीक समय निश्चित करने के सबंध में विद्वानो मे मतभेद है, किन्तु यह सर्वमान्य है कि रामायण मे वर्णित ऐतिहासिक घटना महाभारत से काफी पहले घटी थी। उस समय तक वैदिक मर्यादा तथा आर्य-सस्कृति का ह्रास नही हुआ था। किन्तु रामायण के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मासाहार, सुरापान आदि आसुरी प्रवृत्तियाँ आरम्भ हो चुकी थी, जिनके परिणाम-स्वरूप ऋषियो के यज्ञो को मासादि से अपवित्र करने के कारण राम को ताडका और सुबाहु का वध करना पडा। वास्तव मे यही बात राम के वन-गमन का कारण बनी।

इस समय रामायण-सम्बन्धी जितनी भी सामग्री अनेक ग्रन्थो के रूप मे उपलब्ध है, उन सबका आधार ऋषि वाल्मीकि-कृत रामायण ही है। किन्तु जितनी भी वाल्मीकीय रामायण मिलती है, उनके काण्ड, सर्ग और श्लोक-सख्या विभिन्न तथा अनेक अप्रासगिक एव प्रकृति-नियम-विरुद्ध स्थलो को देखते हुए यह प्राय सर्वमान्य हो गया है कि अन्य ग्रन्थो की भाँति इस ग्रन्थ मे भी प्रक्षिप्त सामग्री भरपूर है।

भारतवर्ष मे अनेक मतान्तरो के प्रचार तथा उनके अनुयायियो के द्वारा (मुद्रणालय-युग के पहले जब हस्तलिखित पुस्तको का युग था) समय-समय पर श्लोक बनाकर मिलाए गए। यही कारण है कि प्राचीन हस्तलिखित पुस्तके एक-दूसरे म नही मिलती। कहा जाता है कि मूल रामायण की श्लोक-सख्या ६,६८० थी, किन्तु आज जो वाल्मीकि रामायण प्राप्य है, उसका कलेवर इतना बढ़ गया है कि उसमे २४ सहस्र श्लोक हो गए हैं।

आज वाल्मीकि-कृत रामायण मे तीन पाठ मिलते हैं . (१) दाक्षिणात्य, (२) गौडीय और (३) पश्चिमोतरीय। इनमे दाक्षिणात्य पाठ अपेक्षाकृत विस्तृत होने के साथ साथ अधिक प्रचलित है। बम्बई, पूना, प्रयाग, पारडी (सूरत)

आदि स्थानो से प्रकाशित जो रामायण उपलब्ध हैं, वे सब दाक्षिणात्य पाठ हैं। पश्चिमोत्तरीय पाठ दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत ग्रथमाला से प्रकाशित तथा वेद-प्रतिष्ठान, होशियारपुर, पजाब से प्राप्य है। गौडीय प्रति मुझे खोजने से कहीं नही मिली। प्रत्येक के पाठ मे बहुत-से श्लोक ऐसे मिलते है, जो अन्य पाठों मे नही पाए जाते है। दाक्षिणात्य, पश्चिमोत्तरीय तथा गौडीय पाठों की तुलना करने पर देखा जाता है कि प्रत्येक पाठ मे श्लोको की लगभग दो-तिहाई सख्या समान रूप से मिलती है। इसके अतिरिक्त जो श्लोक तीनो पाठो मे पाए भी जाते हैं, उनका पाठ भी एक नही है और इनका क्रम भी अनेक स्थलो पर भिन्न है।[1]

पश्चिमोत्तरीय सस्करण मे श्लोको की बाईं ओर गौडीय पाठ के श्लोको की सख्या दी गई है और दाहिनी ओर दाक्षिणात्य पाठ के श्लोको की। जहाँ इन दोनो सस्करणो मे कोई श्लोक नही आया है, वहाँ संकेत-चिह्न N दे दिया गया है। सर्गों का सिलसिला भी एक-सा नही है। उदाहरणार्थ बालकाण्ड के पश्चिमोत्तर पाठ के एकादश सर्ग का श्लोक दक्षिणी पाठ के १६वें सर्ग मे आया है और गौडीय पाठ के १४, १५ और १६वे सर्ग मे।

रामायण के भिन्न-भिन्न पाठो की तुलना करने पर स्पष्ट है कि बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड बाद के लिखे हुए है। वस्तुत बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड वाल्मीकि-कृत रचना मे विद्यमान नही थे। वाल्मीकि-कृत आदिरामायण (काण्ड २—६) तथा प्रचलित रामायण मे जो अन्तर पाया जाता है, इसके लिए बहुत काल की आवश्यकता है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड मे राम का वर्णन स्पष्टतया विष्णु के अवतार के रूप मे आया है, किन्तु अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक राम स्पष्टतया पुरुषोत्तम ज्ञात होता है, यद्यपि अयोध्या काण्ड के आरभ मे (१/७) और युद्धकाण्ड के अन्त मे (सर्ग ११७ और ११९) स्पष्टतया राम को विष्णु का अवतार कहा गया है। प्रसगवश सुन्दरकाण्ड मे भी एक जगह (५१/३९-४२) कहा है कि युद्ध मे त्रिलोक-स्वामी राम के सामने गन्धर्व, देवता, दैत्य, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, सर्प, सिद्ध किन्नर और पक्षी आदि सब प्राणियो मे सर्वत्र किसी काल में भी कोई ऐसा नही हो सकता, जो विष्णु-तुल्य पराक्रमी राम का सामना करे। इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण में अनेक स्थल

1. रामायण : रेवरेण्ड डॉ० कामिल बुल्के।

प्रक्षिप्त हैं, जिनमे अयोध्याकाण्ड के सर्ग १०९।३४ मे गौतम बुद्ध का उल्लेख प्रक्षिप्त होने का ज्वलन्त उदाहरण है। वेदवाणी कार्यालय, आजमगढ़ पैलेस, वाराणसी से वाल्मीकि-रामायण के सुन्दरकाण्ड तक का सानुवाद संस्करण छप चुका है। इसमे विद्वान सम्पादक ने प्रक्षिप्त अशो को छोटे अक्षरो मे दिखाया है। किन्तु इस संस्करण मे स्पष्टतया आर्य-समाज के दृष्टिकोण से प्रक्षिप्त अशो का उल्लेख है।

आर्य विद्वान पं० प्रेमचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर ने मूल वाल्मीकि-रामायण की श्लोक-संख्या ६,३८२ निर्धारित की है और इसी दृष्टिकोण से वाल्मीकि-रामायण के २४ सहस्र श्लोको को छानकर जो संस्करण सम्पादित किया है, उसकी श्लोक-संख्या ६,३८२ है। यह ग्रथ गोविन्दराम हासानन्द, नई सडक, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है।

स्पष्ट प्रक्षिप्त भागो के होते हुए भी समस्त रामायण मे सर्वत्र केवल वैदिक यज्ञो तथा सध्या-वन्दन का वर्णन है। मूर्ति-पूजा का कही उल्लेख नही मिलता। मूर्ति-पूजा विषयक श्लोको का सर्वथा अभाव यह सिद्ध करता है कि जिस काल मे प्रक्षिप्त अंश जोडे गए, उस समय भी मूर्ति-पूजा जारी नही थी।

उत्तरकाण्ड बहुत बाद का जोडा हुआ है और इसका प्रमाण भी पर्याप्त है। युद्धकाण्ड के अत मे (सर्ग १२८, श्लोक १०५-२२) जो फल-स्तुति मिलती है, उससे यह प्रमाणित होता है कि रामायण की परिसमाप्ति वही हो गई। इसके अतिरिक्त उत्तरकाण्ड और युद्धकाण्ड मे परस्पर-विरोधी बाते भी मिलती है।

बालकाण्ड के आरम्भ मे महर्षि वाल्मीकि महर्षि नारद से प्रश्न करते हैं कि इस संसार मे सर्वगुण-सम्पन्न, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, सुदृढव्रत, उदार आचरणवाले, सब भूतो मे स्थित, जित-क्रोध, वीर्यवान और धृतिमान कौन है? उत्तर मे नारद राम-चरित्र का वर्णन करते है। इसमे अयोध्याकाण्ड की घटना से लेकर युद्धकाल तक की घटना का समावेश है। न उसमे बालकाण्ड की घटना है और न उत्तरकाण्ड की। ज्ञात होता है कि यही अनुक्रमणिका मूल रामायण के आरंभ मे थी, किन्तु बालकाण्ड की रचना हो जाने पर यह अनुक्रमणिका अयोध्याकाण्ड के आरभ से हटाकर नवलिखित बालकाण्ड के आरंभ मे जोड दी गई। सर्वोपरि महाभारत मे वर्णित रामोपाख्यान मे भी

बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड का विषय नहीं मिलता। इसलिए उत्तरकाण्ड में मूर्ति-पूजा सम्बन्धी निम्नांकित श्लोक स्पष्टतया बहुत बाद का ज्ञात होता है। यदि यह श्लोक मूल रामायण मे हो भी तो भी यह एक अनार्य से सम्बन्ध रखता है, जो स्पष्टतया मूर्ति-पूजक था।

यत्र यत्र प्रयाति स्म रावणो राक्षसेश्वरः।
जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते॥

अर्थात्—रावण जहाँ जहाँ जाता है, अपने साथ सुवर्णमय लिंग ले जाता है। इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि—

बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावण॥

अर्थात्—बालू की वेदी पर रावण ने लिंग की स्थापना की।

प्रथम तो ये श्लोक उत्तरकाण्ड के हैं, जो विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त भाग सिद्ध हो चुका है, किन्तु यदि उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त न भी माना जाए तब भी वह अनार्य-कृत है और यह निर्विवाद है कि अनार्यों में लिंग-पूजा अनादिकाल से प्रचलित थी। किन्तु एक बात इन प्रक्षिप्त अंशो मे ज्ञात होती है कि प्रक्षिप्त काण्ड लिखने के समय तक भी आर्यों ने लिंग-पूजा को अपनाया नहीं था अन्यथा कहीं भी किसी मूर्ति और उसकी पूजा का वर्णन प्रसंगवश आ ही जाता। जान पडता है कि इसी वर्णन के आधार पर मूर्ति-पूजा और अवतारवाद की मर्यादा कायम हो जाने पर अनेक ग्रन्थो में भगवान राम द्वारा रामेश्वर-स्थापना का वर्णन मिलता है। सर्वोपरि एक लोककथा प्रचलित है कि रामेश्वर की स्थापना के समय वैर-भाव को भूलकर राम के निमंत्रण पर शिव भक्त और वेदज्ञ ब्राह्मण होने के कारण रावण ने ही पुरोहित का कार्य-सम्पादन किया।

वाल्मीकि-रामायण से ज्ञात होता है कि प्रातः एवं सायं सन्ध्योपासना तथा अग्निहोत्र किया जाता था। अनेक स्थानो पर इसका उल्लेख आया है। किन्तु मूर्ति या मूर्ति-पूजा की कहीं झलक भी नहीं मिलती। उदाहरणार्थ (बाल० रा० १८।२३) विश्वामित्र ने राम तथा लक्ष्मण से कहा 'स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम। अर्थात् हमलोग स्नान करेंगे और जप-हवन करेंगे। उसी प्रकार अयोध्या-काण्ड (२०।४८) में आया है—

ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम्॥ ५०।४८

तदनन्तर रामचन्द्र ने चीर ओढ़कर सायंकालीन संध्या की और लक्ष्मण का लाया हुआ जल भी ग्रहण किया।

सीता महारानी भी सध्या करती थी। हनुमान सीता की खोज करते हुए अशोक-वाटिका के सरोवर को देखकर कहते हैं

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी॥

(सुन्दरकाण्ड १४२।५०)

अर्थात् सध्याकाल मे मनवाली देवी सीता सध्या करने के लिए इस शुभ जलवाली नदी पर जाएगी।

रामायण-काल में भी मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। इसके समर्थन में दो-एक श्लोक बालकाण्ड से उद्धृत किए जाते है। यथा—

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन्।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा॥

(बालकाण्ड ७७।१३)

अर्थ—उन सब (बाहुओ) ने शीघ्र ही देवताओ की पूजा की। तत्पश्चात् सब राजपुत्रियो ने अभिवादन-योग्य व्यक्तियो का अभिवादन किया।

यह श्लोक आगे और पीछे के श्लोको से मेल नही खाता, क्योकि १२वे श्लोक में आया है कि कुशध्वज की दोनो पुत्रियो को राजा की पत्नियो ने ग्रहण किया। मागलिक वस्तुओ के आलेपन से सुशोभित रेशमी वस्त्र धारण किया, और के १४वें श्लोक में है कि सब प्रसन्न हुई (राजपुत्रियो) ने एकान्त में (अपने) पतियो के साथ रमण किया। (इसी प्रकार) ससार के पराक्रम-अप्रतिम (अतुलनीय) महात्मा राजकुमारो ने भी रमण किया। सारा बालकाण्ड ही वाल्मीकि-कृत नही है और यह श्लोक स्पष्टतया प्रक्षिप्त है; क्योकि यहाँ अप्रासगिक वर्णन है और इसका समर्थन वाल्मीकि रामायण मे अन्यत्र कही नही मिलता।

वाल्मीकि-रामायण में इतना वर्णन है कि लका मे विमान द्वारा लौटते समय राम ने एक स्थान दिखलाते हुए सीता से कहा कि वहाँ उन्होने महादेव की कृपा से समुद्र में पुल बाँधा था।

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः।
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्यपरिपूजितम्॥

एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥
(युद्धकाण्ड, सर्ग १२३।२०-२१)

अर्थ—इसी स्थान पर प्रभु महादेव हमपर प्रसन्न हुए थे। तीनों लोकों में पूजित सेतुबन्ध-तीर्थ इसीका नाम है। यह स्थान महापवित्र तथा महापातकों का नाश करनेवाला है।

पुष्पक-विमान मे सीता को सेतुबन्ध का पुल दिखाते हुए राम ने कहा कि इस पुल के बाँधने मे नल ने बड़ा परिश्रम किया। यह हिरण्यनाभ मैनाक पहाड़ है, जो हनुमान के ठहरने के लिए स्वयं सागर से प्रकट हुआ था। यह सेना के ठहरने का प्रथम तट है। इसी प्रसंग में राम ने महादेव (भगवान) की कृपा का उल्लेख किया, क्योंकि बिना महादेव की कृपा से वह दुष्कर कार्य संभव नही था। अगर राम ने शिवलिंग की वहाँ स्थापना की होती तो वे प्रथमत विमान से उतरकर सीता के साथ दर्शन और पूजन करते; अथवा कम-से-कम शिवलिंग की ओर सीता का ध्यान आकर्षित कर बता देते कि इसकी स्थापना उन्होंने की थी। इस बात से भी यह अंश प्रक्षिप्त ज्ञात होता है, क्योंकि १९वें श्लोक में वर्णित समुद्र से हनुमान के ठहरने के लिए मैनाक पहाड़ का सहसा निकल आना अनहोनी-सी घटना है।

मूर्ति पूजा के समर्थन मे प्रकाण्ड विद्वान श्री माधवाचार्य जी ने अपने ग्रन्थ "क्यों ?" के दूसरे अध्याय के पृष्ठ ४७ पर शास्त्रीय विवेचन करते हुए लिखा है कि "रामचन्द्र जी का स्थापित किया हुआ रामेश्वर नामक शिवलिंग सेतुबन्ध मे अभी तक विद्यमान है। वाल्मीकि-रामायण के युद्ध-काण्ड (युद्ध-सर्ग १२५) में इसका उल्लेख मिलता है। किन्तु सर्ग १२५ मे संकेत-मात्र मे भी उसका उल्लेख नहीं है। इस सर्ग मे भरद्वाज-आश्रम से विदा होने पर अयोध्या के सन्निकट आने का वर्णन है। शिवलिंग-स्थापना का उल्लेख तो रामायण में नही मिलता। सिर्फ १२३वें सर्ग के २०वें श्लोक में भगवान राम ने सेतुबन्ध की ओर सीता का ध्यान आकर्षित करते हुए सिर्फ इतना ही कहा है कि इसी स्थान पर प्रथम प्रभु महादेव हमपर प्रसन्न हुए थे। इससे संकेत-रूप मे भी मूर्ति-पूजा का समर्थन नही होता।

वाल्मीकि-रामायण में उपासना तथा पूजादि का विशद वर्णन है, किन्तु कहीं भी मन्दिर या मूर्ति-पूजा का उल्लेख नही है, यद्यपि स्थान-स्थान पर संध्या-

वन्दना, होम, यज्ञ आदि का वर्णन आया है। इन्ही सब बातो को देखकर निष्पक्ष विद्वानो की राय है कि रामायण-काल में प्रतीक-पूजा का प्रचलन आर्यों मे नही था।

सुतरा, रामायण में जीवन का जीता-जागता सत्य है, व्यवहारो में आने-वाला धर्म है, परिवार को सुखी और सम्पन्न बनानेवाले आदर्श हैं, कठोरता से पालन किए जानेवाले युद्ध-नियम है, बन्धु, स्त्री, मित्र, शत्रु, सेवक, देवता और दानव के चरित्र हैं। प्रजा के प्राणप्रिय राजा का देवता-रूप मे दर्शन है। किन्तु मन्दिर और उसमे स्थापित मूर्ति की कही झलक भी नही है।

महाभारत-काल

महाभारत का समय आज से लगभग पाँच हजार वर्ष से कुछ ऊपर माना जाता है। यह काल रामायण-काल से बहुत बाद का है। ज्ञात होता है कि रामायण-काल मे वैदिक मर्यादा का पालन होता था। राम-रावण-युद्ध मे भी युद्ध-सम्बन्धी नियमो का पालन उभय पक्ष ने किया था, किन्तु महाभारत-काल मे वैदिक मर्यादा की खुले रूप मे अवहेलना हुई थी। तप और त्याग का स्थान भोग-विलास लेते जा रहे थे। जुआ खेलना पाप नहीं समझा जाता था। जुए में भाइयो को नही, बल्कि विवाहित भार्या को भी दाव पर लगाना अशोभनीय नहीं समझा जाता था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई स्थान नही था, मनुष्य का स्थान नीग्रो गुलामो की कोटि का था, जहाँ बडा भाई जुए के दाव पर बिना किसी सकोच के भाइयो तथा स्त्री को रखकर गँवा सकता था। और, इस प्रकार का दुष्कर्म करनेवाले को 'धर्मराज' कहा जाता था! कौरवो की सभा को छोड-कर संसार के इतिहास मे कही भी राजसभा मे भद्र महिला को निर्वस्त्र करने की बात नहीं मिलती है। महाभारत-युद्ध के आरम्भ में दोनो पक्षो की सम्मति से युद्ध-नियम बनाए गए थे, किन्तु दोनो पक्षो ने खुलेआम उनकी अवहेलना की, जिसका ज्वलन्त उदाहरण अभिमन्यु, भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन का वध है। यही नहीं, सुप्तावस्था मे अश्वथामा द्वारा धृष्टद्युम्न, पाण्डव-पुत्रो आदि की नृशस हत्या तक की गई थी।

महाभारत मे अनेक ऐतिहासिक कथाएँ एक साथ ग्रथित हैं। इसके रचयिता व्यास मुनि माने जाते है। किन्तु, महाभारत के वर्णनानुसार इसके तीन

संस्करण हुए हैं, जिनके तीन रचयिता—(१) व्यास, (२) वैशम्पायन और (३) सौती थे। ज्ञात होता है कि युद्ध के बाद व्यास ने 'जय' नामक इतिहास की रचना की, जिसमें कौरव-पाण्डव-युद्ध का विशद वर्णन है। उसको व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने पाण्डवों के प्रपौत्र जनमेजय को सर्प-यज्ञ के अवसर पर सुनाया। वहाँ उस कथा को सुनकर सूत लोमहर्षण के पुत्र सौती उग्रश्रवा ने उन ऋषियों को सुनाया, जो नैमिषारण्य में सत्र कर रहे थे। आदिपर्व और स्वर्गारोहण-पर्व में कहा है—**जयो नामेतिहासोऽयम्**, अर्थात् 'जय' नाम का यह इतिहास है। आगे चलकर वैशम्पायन द्वारा दूसरे संस्करण के बाद 'भारत' नाम पड़ा और अन्त में गौतम बुद्ध के निर्वाण के सैकड़ों वर्ष बाद 'सौती' के तृतीय संस्करण के कलेवर में अपार वृद्धि हो जाने के कारण इसका 'महाभारत' नाम पड़ा। अतः महाभारत के आरम्भिक श्लोक में ही 'जय' ग्रन्थ का उल्लेख है। यथा—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

महाभारत के तीन रचयिता होने का दूसरा प्रमाण यह है कि इसका आरम्भ तीन स्थानों में होता है; यथा—

मन्वादि भारतं केचिदास्तिकादि तथा परे ।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥

अर्थात् कितने विद्वान महाभारत को 'नारायण नमस्कृत्य' (आदिपर्व, अध्याय १, श्लोक १) में प्रारम्भ करके पढ़ते हैं। कितने ही इसको आस्तिक चरित्र से प्रारम्भ करते हैं (आदिपर्व, अध्याय १३) और कितने ही उपरिचर की कथा (आदिपर्व, अध्याय ६३) से इसका प्रारम्भ मानते हैं।

तीसरा प्रमाण यह है कि व्यास ने अपने 'जय' नामक ग्रन्थ में जो पर्व बनाए थे, वे भिन्न हैं। वे छोटे हैं और उनकी संख्या १०० है। बाद में सौती ने अपने ग्रन्थ को अठारह पर्वों में विभक्त किया। कोई भी ग्रन्थकार अपने एक ही ग्रन्थ में एक ही नाम का छोटा और बड़ा विभाग नहीं करेगा। उदाहरणार्थ सभापर्व में सभापर्व, सौप्तिक पर्व में सौप्तिक पर्व आदि। यह महाभारत (आदि-पर्व, २।८३-८४) से स्पष्ट है।

एतत् पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ।
यथावत्सूतपुत्रेण लोमहर्षणिना ततः ।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु ॥

अर्थ—इस प्रकार महात्मा श्री व्यास ने १०० पर्वों की रचना की। सूत-नन्दन उग्रश्रवा सौती ने इन्हीं पर्वों को अठारह महापर्वों में क्रमानुसार सुसम्बद्ध कर नैमिषारण्य में उपस्थित ऋषि-वृन्दों को सुनाया था।

विद्वानों की राय है कि व्यास-कृत 'जय' के श्लोकों की संख्या ८८००, वैशम्पायन के 'भारत' के श्लोकों की संख्या २४,००० और वर्तमान महाभारत की श्लोक-संख्या लगभग एक लाख है। महाभारत-मीमांसा के विद्वान लेखक चिन्तामणि विनायक वैद्य की राय है कि ईसवी सन् से पहले ३०० से २०० वर्ष तक के समय में वर्तमान महाभारत का निर्माण हुआ।

अतः प्रश्न उठता है कि चौबीस हजार श्लोकों के 'भारत' के श्लोकों में वृद्धि कर उनकी संख्या एक लाख क्यों की गई? उस समय भारत में दो नए और प्रबल धर्म—जैन और बौद्ध-उत्पन्न और प्रचलित ही नहीं हो चुके थे, वरन् जनता पर उनका काफी प्रभाव पड़ चुका था और जनता बहुत अधिक संख्या में इन धर्मों की ओर आकृष्ट हो रही थी। इन दोनों धर्मों ने वेदों और तत्कालीन प्रचलित वैदिक हिंसा-यज्ञों का विरोध किया था और अहिंसा का प्रचार किया था। इनके लिए धर्म का आचरण केवल नीति के आचरण के सिवा और कुछ नहीं था। महावीर तीर्थंकर और बुद्ध के निर्वाण हुए कई शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी थीं और जैन तथा बौद्ध मतावलम्बियों में क्रमश जैन तीर्थंकरों एवं भगवान् बुद्ध की मूर्ति की पूजा का प्रचलन भी हो चुका था। हिन्दूधर्म के कुछ लोग तो वैदिक देवताओं के स्थान पर विष्णु को प्रधान देवता मानकर 'पाञ्चरात्र मत' का पालन करते थे और कुछ लोग शंकर को प्रधान देवता मानकर पाशुपत मत का आश्रय ले रहे थे। कुछ लोग परमात्मा के रूप में देवी की आराधना करते थे और कुछ सूर्य के उपासक थे। इन विभिन्न मतावलम्बियों में आपस का झगड़ा भी था। वेदान्त और सांख्य का दृष्टिकोण पूर्णतया भिन्न था। वर्तमान मनुस्मृति का उस समय पता नहीं था। जनता को हिन्दूधर्म की ओर आकृष्ट करने और हिन्दूधर्म की गौरव-गरिमा को स्पष्ट रूप से दिखानेवाला कोई ग्रन्थ नहीं था। बौद्ध और जैन धर्म के आक्रमण का प्रतिवाद करने का कोई साधन नहीं था।

ऐसी अवस्था में ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी, जिसमें आनुषंगिक रीति से तत्त्वज्ञान, इतिहास, राजनीति, नीति, प्रतिमा-पूजन आदि अनेक विषयों का समावेश हो।

वैष्णव और शैव मतों के विरोध को दूर करने के अभिप्राय से सौती ने महाभारत मे शिव-स्तुति विषयक अनेक उपाख्यान दिए। महाभारत में स्पष्ट वर्णन आया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनो देवताओ पर जगत के तीन काम—उत्पत्ति, पालन और नाश—नियत हैं। इन तीनो का एकीकरण परब्रह्म मे किया गया है। इसके अतिरिक्त सौती ने वेदान्त, सांख्य योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत मत आदि अनेक मतो के एकीकरण का सफल प्रयत्न किया। यन्त्र-तन्त्र मन्दिर और मूर्ति की मर्यादा का भी प्रतिपादन किया। परिणाम यह हुआ कि महाभारत ग्रन्थ वर्तमान हिन्दूधर्म की सब शाखाओं—शैव, वैष्णव, शाक्त, वेदान्त, योग आदि—के लिए समान रूप से मान्य है।

इस प्रकार महाभारत सच्चे अर्थ मे प्राचीन भारतवर्ष का विश्वकोष है। भारतीय जन और उसकी कीर्ति, सामाजिक क्रान्ति, राजनीति, अर्थनीति आदि का सुन्दर विवेचन महाभारत मे है। जहाँ एक ओर यह प्राचीन धर्म और नीति का अमूल्य भाण्डार है, वहाँ दूसरी ओर, प्राचीन गौरव-गरिमा का गान करनेवाला अपूर्व ग्रन्थ है। इसके महान् चरित्रो की अमर कथाएँ देश-देशान्तर मे फैली हुई हैं। इसमें वर्णित अपने पूर्वपुरुषो की चरितावली सुनने अथवा पढने पर हमारे मन मे स्वाभाविक उमग उद्भूत होती है। इसके अनेक पात्रो की वीरता, कर्मपरायणता, न्याय-नीति एव धर्मनिष्ठा देखकर मन आनन्द से गद्गद हो जाता है।

इसमें स्पष्ट दीख पडता है कि सभी आर्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—प्रतिदिन सध्या एव यज्ञ किया करते थे। भारतीय योद्धाओ के वर्णन मे भी इस बात की कहीं कमी नहीं है। जिस तरह रामायण से स्पष्ट मालूम होता है कि राम और लक्ष्मण कभी सध्या करना नहीं भूलते, उसी प्रकार समझौते के लिए जाते हुए श्रीकृष्ण का जो वर्णन महाभारत में आया है, उसमे उनके प्रातः-सायं संध्या करने का वर्णन करने मे कवि ने भूल नहीं की है। (उद्योग-पर्व, अध्याय १२) महाभारत-युद्ध के समय समस्त क्षत्रिय प्रातःस्नान करके संध्या से छुट्टी पाकर रणभूमि मे आते थे।

संध्या के साथ-साथ होम करने की परिपाटी भी महाभारत-युद्ध-काल में प्रचलित थी। उदाहरणार्थ उद्योगपर्व के अध्याय ८ में आया है—

कृत्वा पौर्वाह्णिक कृत्यं स्नातः शुचिरलङ्कृतः।
उपतस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः॥

अर्थ—श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर ने सध्या एव होम करके ब्राह्मण को दान दिया इत्यादि।

वर्णन आया है कि रात को भी एक दिन युद्ध हुआ और समस्त सैनिको ने युद्ध-भूमि में ही आराम किया। उस समय का वर्णन है कि प्रात काल होने से पहले युद्ध छिड गया था, तब सूर्य निकलने पर समस्त सैन्य मे युद्ध रुक गया, और सभी क्षत्रियो ने रणागन मे ही सध्या अर्थात् सूर्योपासना की (द्रोणपर्व, अध्याय १८६)।

उपर्युक्त वर्णन मे स्पष्ट है कि महाभारत-युद्ध-काल मे सूर्य और अग्नि की उपासना यानी उपस्थान एव आहुति, दोनो काम प्रत्येक आर्य को करने पडते थे। अत यह बात निर्विवाद है कि इस वर्णन मे कही भी मूर्ति या मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं है। यद्यपि श्रीकृष्ण अथवा युधिष्ठिर की आह्निक क्रियाओ का वर्णन विस्तारपूर्वक आया है, तथापि इसमे किसी देवता की धातुमयी अथवा पाषाणमयी मूर्ति की पूजा का वर्णन नही है। वैद्य महोदय का कथन है कि "निश्चयपूर्वक अनुभव होता है कि भारतीय युद्धकाल मे और महाभारत-काल-पर्यन्त आर्यों के आह्निक धर्म मे किसी प्रकार के देवता की पूजा समाविष्ट नहीं हुई थी। किसी घर मे देवता की मूर्ति रखकर उसकी पूजा आरम्भ नही हुई थी। भिन्न-भिन्न गृह्य-सूत्रो मे भी देवताओ की पूजा का विधान नही पाया जाता। इससे यह बात निर्विवाद है कि देवपूजा की आह्निक विधि महाभारत-काल के सैकडो वर्ष बाद प्रचलित हुई। मूर्ति-पूजा का उद्गम भारत मे कबसे हुआ, यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का और गूढ है। कुछ लोगो की धारणा है कि बौद्धधर्म के प्रचार होने के पश्चात् मूर्ति-पूजा चल पडी।"[1]

बौद्धधर्म के प्रचार के फलस्वरूप वैदिक देवताओ का लोप हो चला था। बुद्ध के निर्वाण के सैकडो वर्ष बाद अनेक बौद्धो ने बुद्ध को ही भगवान् मानकर उनकी छोटी-बडी प्रतिमाएँ गढ़ना आरम्भ कर दिया। इस कारण

1. भारत-मीमांसा

एक समय ऐसा आया जब हिन्दुस्तान मे बुद्ध की इतनी अधिक मूर्तियाँ प्रचलित हुई कि जहाँ देखो, वहाँ बुद्ध की मूर्तियाँ और मन्दिर दीख पड़ते थे। बौद्धधर्म बाहर के देशो मे भी फैला था। इस कारण विभिन्न देशो में बौद्धो के अनेक मन्दिर और हजारो प्रतिमाएँ हो गई थीं। जिस समय इस्लाम फैला, मुसलमानो ने मूर्तियो को तोड़ना आरम्भ कर दिया। परिणाम-स्वरूप पहले हिन्दुस्तान के बाहरी देशो मे बने हुए हजारो बौद्ध-मन्दिरो की मूर्तियाँ तहस-नहस हो गई। मुसलमानो की भाषा—अरबी-फारसी—मे 'बुद्ध' शब्द मूर्ति के अर्थ मे प्रचलित हो गया, जो कालान्तर मे 'बुत' हो गया। मुसलमानो ने बुत (बुद्ध)-शिकन और बुत-परस्त—ये दो भेद कर दिए, अर्थात् मूर्ति तोड़नेवाला और मूर्ति पूजने वाला।

आरम्भ में तो बुद्ध की देह के अवशिष्ट केश, नख, हड्डियों आदि पर पत्थरों का ढेर बनाकर पूजा आरम्भ हुई थी और कालान्तर में वह बुद्ध की मूर्ति में परिणत हो गया। देखा-देखी अज्ञ जनता को आकृष्ट करने के लिए हिन्दुओ ने विष्णु, शिव, स्कन्द (स्वामी कार्तिक) आदि देवताओ की मूर्तियो की स्थापना मन्दिरो मे करना आरम्भ किया। परिणाम-स्वरूप तंजोर के मन्दिर में आज लाखो शिवलिंग पाए जाते हैं, जिनमे अनेक काल के प्रवाह मे नष्ट-भ्रष्ट होते जा रहे हैं।

ऐसी परिस्थिति मे सौती ने जो तीन अध्यायो को 'भारत' मे जोड़कर उसका कलेवर बढ़ाया, उसमे मन्दिरो और मूर्तियो का वर्णन किया, क्योकि उस समय तक मूर्तिपूजा चल पड़ी थी। किसी-न-किसी समय शिव, विष्णु, दुर्गा, दत्तात्रेय और स्कन्द आदि देवताओ की उपासना प्रचलित हो गई थी। दत्तात्रेय ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्तियो के अवतार माने जाने लगे थे। गणश और स्कन्द मानव-शक्तियो के अधिपति माने जाते थे। उदाहरण स्वरूप भीष्मपर्व के आरम्भ में मन्दिरो और देव-प्रतिमाओ का वर्णन है। वर्णन पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया गया है; क्योकि वहाँ आया है कि देवताओ की प्रतिमाएँ काँपती हैं, हँसती हैं, मुख से रुधिर वमन करती हैं, देह से पसीना निकाल रही हैं।[1]

1. देवताः प्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति च।
वमन्ति रुधिरं चास्यात् सीदन्ति प्रपतन्ति च॥ (भीष्मपर्व, २२।२६)

प्रतीक के रूप में पूजा के अतिरिक्त महाभारत (वनपर्व ३९-४०) में अर्जुन का शिव के साथ साक्षात् दर्शन, युद्ध तथा स्तुति का वर्णन आया है। लिखा है कि शिव किरात-वेष धारण करके धनुष-बाण लिए नाना वेषधारी भूतों, सहस्रों स्त्रियों और भगवती उमा के साथ वन मे अर्जुन के समीप गए और उन्हें मारने की घात में लगे हुए 'मूक' नामक वराह-रूपधारी दानव को अर्जुन और शंकर ने एक साथ ही बाण मारा। बाद मे अर्जुन के साथ शिव के विवाद और युद्ध का वर्णन है। किरात वेषधारी शिव के साथ युद्ध में पराजित होने पर अर्जुन ने शिव की पार्थिव मूर्ति की पूजा की और उसे माला पहनाई। किरात के गले मे अपनी चढाई हुई माला देखकर अर्जुन पहचान गया कि वह शिव है और उनके चरणो पर पड़ गया तथा स्तुति की। अर्जुन को शंकर ने पाशुपत अस्त्र दिया। उसी प्रकार शान्तिपर्व मे भी हम पाते हैं कि दक्ष के शरणागत होने पर हवनकुण्ड से साक्षात् प्रकट होकर उनपर कृपा की (शान्ति० २८४।१५-६०) इसपर दक्ष ने सहस्रनाम द्वारा स्तुति की, जिससे प्रसन्न होकर वरदान देने के बाद शिव अन्तर्धान हो गए (शान्ति० २८४।१८२-९१)। सौप्तिक पर्व के १७वें अध्याय मे कुपित होकर शिव द्वारा अपने लिंग को काटने की कथा आई है। कहा गया है कि इस प्रकार भूमि पर डाला गया वह लिंग अग्नि-रूप मे प्रतिष्ठित हो गया। (अनुशासन-पर्व, अध्याय १४)

उपमन्यु ने अपनी माता से शिव की महिमा सुनकर उनकी आराधना की। तपस्या, भक्ति, स्तुति, प्रार्थना आदि पर शिव प्रत्यक्ष रूप मे प्रकट हुए और उपमन्यु को वरदान दिया।

इस प्रकार विष्णु की पूजा से सम्बद्ध वर्णन भी (अनु० पर्व १०९) मे आया है। शिव-पत्नी उमा का पूजन और कीर्तन का वर्णन (वनपर्व ३७।३३) में आया है। युधिष्ठिर ने इनके दुर्गा-रूप के स्तवन पर दर्शन और वर प्राप्त किया (विराट पर्व, ६)। उमा ने दुर्गा रूप मे अर्जुन को प्रत्यक्ष दर्शन देकर वर दिया (भीष्मपर्व, २३।४-१६)। इस प्रकार अनेक स्थानो पर विभिन्न देवताओ के प्रत्यक्ष उपस्थित होने और वरदान देने की कथा स्थान स्थान पर आई है। इन कथाओ का प्रभाव स्वभावत अज्ञ जनता पर पडा और मूर्ति-पूजा की ओर

अर्थ—देवताओ की प्रतिमाएँ काँपती हैं, हँसती हैं, मुख से रुधिर वमन करती हैं, देह से पसीना डाल रही हैं।

उसकी अभिरुचि बढ़ी। अतः सोता-कृत महाभारत में सिर्फ मूर्ति-पूजा का ही उल्लेख नहीं मिलता, बलिक विभिन्न देवताओं के साक्षात दर्शन का प्रसंग भी मिलता है। लिंग-पूजा का भी उल्लेख आया है। यथा—

विग्रहं पूजयेद्यो वै लिङ्गं वापि महात्मनः।
पूज्यमाने सदा तस्मिन् मोदते स महेश्वरः॥

यह निश्चित है कि सौती-कृत महाभारत के रचना-काल में मूर्ति-पूजा चल निकली थी, क्योंकि इसीके समकालीन ग्रन्थ पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में मन्दिरों और मूर्तियों का स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु इस विशाल ग्रन्थ में यत्र तत्र मूर्ति-पूजा के विरोध के भी श्लोक मिलते हैं। यथा—

मृच्छिलाधातुदार्वादि मूर्तावीश्वरबुद्धयः।
क्लिश्यन्ति तपसा मूढाः परां शान्तिं न यान्ति ते॥

अर्थ—मूर्ख लोग मिटटी, पाषाण, धातु अथवा काष्ठ की मूर्तियों को ईश्वर समझते हैं। इन लोगों को कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

अत इस सम्बन्ध मे वैद्य महोदय का विचार है कि "महाभारत-काल मे यद्यपि मन्दिर और मूर्तियाँ भी रही हो तथापि आर्यों के आह्निक धर्म कृत्य मे अबतक देवताओ की पूजा न थी। यह बात महाभारत और गृह्यसूत्रो से भी निश्चित दीख पडती है। वैदिक देवता कुल ३३ माने गए थे। परन्तु तैतीस देवताओ मे से बहुत थोडे की प्रतिमाएँ बनी अथवा मन्दिर तैयार हुए।"



पाँचवाँ परिच्छेद

सूत्रकाल

"श्रौतसूत्र ब्राह्मणकालीन कर्मकाण्ड का सारांश-मात्र हैं और कर्मकाण्ड के मुख्य यज्ञों के साथ उनका सम्बन्ध है। इस कारण ब्राह्मण-कर्मकाण्ड के क्षेत्र से बाहर धार्मिक आचार-विचारों में जो विकास हो रहा था, उसकी झलक साधारण रूप से इन सूत्रों मे दिखाई देती है। वह प्रायः वैसा ही है जैसा ब्राह्मण-ग्रन्थो मे। रुद्र अनेक देवताओ मे से केवल एक देवता हैं। और पहले की तरह उनके अनेक नाम— रुद्र, भव, शर्व आदि का उल्लेख हुआ है और इसी प्रकार महादेव, पशुपति, भूतपति आदि अनेक नामो का उल्लेख है। मनुष्यो और पशुओ की रक्षा के लिए रुद्र की प्रार्थना की जाती है। उनको व्याधि-निवारक कहा गया है; और साथ साथ रोग नाशक औषधियाँ देनेवाला। रुद्र और अग्नि के तादात्म्य की स्मृति भी अबतक शेष है और रुद्र को एक बार (लाटट्यायन सूत्र ५।३।२ मे) अग्निस्विष्टिकृत कहा गया है।'[1]

इस समय ध्यान देने योग्य बात यह है कि शाखायन श्रौतसूत्र मे रुद्र का जो एक स्वरूप दीख पड़ता है, उसका ब्राह्मण-ग्रन्थो मे उल्लेख नहीं है। इससे हमें यह पता चलता है कि इस समय रुद्र के स्वरूप का विकास किस प्रकार हो रहा था। यह है रुद्र की सहचरी देवता का उल्लेख। इसको भवानी, शिवानी, ईशानी, रुद्राणी और आग्नेयी कहा गया है। यह सब रुद्र के विभिन्न नामो के स्त्रीलिंग रूप मात्र है। यज्ञ के इस स्त्री-देवता को हवियाँ देने का भी विधान किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि इस समय तक स्त्री-देवता की, आर्यों के देवगण मे विधिवत् गणना होने लगी थी और रुद्र के साथ ही उसकी भी उपासना होती थी। प्राचीन ग्रन्थो मे रुद्र-पत्नी का यह प्रथम उल्लेख है। अतः हम कह सकते है कि शाखायन श्रौतसूत्र के समय तक सिन्धु-घाटी की देवी की उपासना का, रुद्र की उपासना मे समावेश हो गया था।

रुद्र की उपासना का जो स्वरूप श्रौतसूत्रो मे मिलता है, लगभग वही स्वरूप धर्म-सूत्रो मे भी है, जो समकालीन हैं। बोधायन धर्म-सूत्रों मे भी, जो समकालीन हैं, रुद्र की सहचरी स्त्री-देवता के अतिरिक्त दो

---

1. शैवमत, पृ० ४३

नये देवताओं—विनायक और स्कन्द—का उल्लेख मिलता है। पौराणिक काल में ये दोनो देवगण शिव के पुत्र के रूप मे प्रसिद्ध हुए। विनायक आगे चलकर गणेश नाम से विख्यात हुए। इस धर्म-सूत्र मे इन देवताओ को विधिवत् मान्यता प्रदान की गई है और इनके लिए तर्पण का विधान भी किया गया है। बाद में विनायक वक्रतुंड, एकदन्त, लम्बोदर और विघ्न-विनायक आदि नाम से प्रसिद्ध हुए। आज गणेश का देवगणो मे अग्रगण्य स्थान है। सिर्फ पंचदेवों—(१) विष्णु, (२) शिव, (३) दुर्गा, (४) सूर्य और (५) गणेश—में इनकी गणना ही नही है, बल्कि ये आदिपूज्य हो गए हैं।

न बोधायन धर्मसूत्र में और न आरण्यक में ही इस देवता का उल्लेख मिलता है। हाँ, तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१) के एक श्लोक मे, जो प्रसिद्ध गायत्री-मंत्र के ढंग पर बना है, किसी देवता का वक्रतुंड और दन्ति कहकर वर्णन आया है। गृह्यसूत्रो से ज्ञात होता है कि आरम्भ मे इस देवता को विघ्नों और बाधाओ का देवता माना गया है। विनायक विघ्नकर्त्ता थे, अच्छे कामो मे भी बाधा डालते थे, अतएव प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में उनको मनाया जाता था। कुछ भेंट करके उनका विसर्जन कर दिया जाता था और तब मूल कृत्यो का आरम्भ किया जाता था। यह बडे आश्चर्य की बात है कि कालान्तर मे विनायक का कायाकल्प हो गया। वह जहाँ विघ्नराज थे, वहाँ धीरे-धीरे मंगलकर्त्ता बने। जहाँ पहले भावी विपत्ति टालने के लिए उन्हें प्रसन्न किया जाता था, वहाँ आज उनसे सिद्धि माँगी जाती है। समय की प्रगति से विनायक-पूजा मंगल-कार्य का अनिवार्य अंग हो गई। लिखने-पढ़ने का कार्य भी आज अनेक हिन्दू श्री 'गणेशाय नमः' से आरम्भ करते हैं। स्वभावत. इस परिवर्त्तन मे सैकडो वर्ष लगे होंगे। अत: विनायक के विकास का इतिहास रोचक और ज्ञानवर्धक है; क्योकि कालान्तर में गणेश बौद्धधर्म के भी अंग हो गए और सुदूर बाली, तिब्बत, चीन, जापान, तुर्किस्तान आदि देशो मे भी आराध्य हुए। श्री सम्पूर्णानन्द के शब्दो मे—"पृथ्वी-भर मे किसी दूसरे उपास्य के जीवन को गणेश-चरित्र के साथ तुलना नही हो सकती। आज बुद्ध, ईसा और मुहम्मद के अनुयायी देश-विदेश मे करोडों की संख्या मे है, किन्तु उनके पद एव स्वरूप मे कोई परिवर्त्तन या वृद्धि नही हुई है। विघ्नकर्त्ता ग्रामदेव का अपदेव से उठकर सर्वदेवाग्रगण्य बनना, फिर परमात्मा और ब्रह्म-दृष्टि से मान्यता-लाभ करना, विदेशों में पहुँचकर वैरोचन और अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्वो में तादात्म्य प्राप्त

करके योग के अनिर्वचनीय रहस्यों का प्रतीक हो जाना गणेशजी का ही काम है। उनके अप्रतिम व्यक्तित्व के सामने सिर झुकाना ही पड़ता है।"[1]

आज गणेश के उपासकों का एक पृथक् गाणपत सम्प्रदाय हो गया है, और उनको परमात्मा से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है। पुराणों और तन्त्रों में गणेश के सम्बन्ध में विशाल वाङ्मय भरा-पड़ा है। भारत में और भारत के बाहर इनकी सैकड़ों विलक्षण मूर्तियाँ मिलती हैं। यहाँ तक कि सुदूर अमेरिका में भी गणेश की मूर्ति खुदाई के बाद पाई गई है।

वेदों में जगह-जगह ३३ देवताओं का उल्लेख है, परन्तु किसी भी वैदिक देव-सूची में गणेश के किसी भी नाम का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु, द्वितीय मण्डल के तेईसवें सूक्त के पहले मंत्र तथा तैत्तिरीय संहिता (२।३।१४।३) के आधार पर अनेक विद्वान गणेश का उल्लेख वैदिक देवता के रूप में पाते हैं। यथा—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥
(ऋग्वेद २।२३।१)

अर्थ—हे ब्रह्मणस्पते! तुम देवताओं में दिव्य और कवियों में श्रेष्ठ हो। तुम्हारा अन्न सबसे उत्तम है। तुम प्रशंसा किए हुए में सर्वश्रेष्ठ एवं स्तोत्रों के स्वामी हो। तुम हमारी स्तुति से आश्रय देने के लिए यज्ञ-स्थान में विराजो। हम तुम्हारा आह्वान करते हैं।

"इस मंत्र की द्वितीय पंक्ति में स्पष्ट ही ब्रह्मणस्पति को सम्बोधित किया गया है। अतः प्रथम पंक्ति का 'गणपति' शब्द उन्हीं के लिए प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्मणस्पति का अर्थ है, ब्रह्मों का पति। सायन के अनुसार 'ब्रह्म' का अर्थ मंत्र है, अतः ब्रह्मणस्पति का अर्थ मंत्रों का स्वामी हुआ। यह उपाधि बृहस्पति को ही दी जाती है, ब्रह्मणस्पति को गणों का गणपति कहा गया है। सायन ने भाष्य में इसका अर्थ किया है—

देवादिगणानां सम्बन्धि गणपतिः—अर्थात् देवादि गणों से सम्बन्ध रखनेवाला गणपति; देवों के गणों के स्वामी। थोड़े में मंत्र बृहस्पति, ब्रह्मों (अर्थात् मंत्रों) के ज्येष्ठराज से जो देवगणों के गणपति और कवियों (ऋषियों, ब्रह्म-

1. श्री सम्पूर्णानन्द : गणेश, भूमिका

ज्ञानियों) में कवि (ज्ञातृतम) हैं, यह प्रार्थना करता है कि हमारी स्तुतियों को सुनकर इस यज्ञ-स्थल में विराजिए।"[1]

शुक्ल यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के पच्चीसवें मंत्र में भी 'गणपति' शब्द आया है :—**नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः।** अर्थात् देवताओं के अनुचर गणों को नमस्कार, गणों के अधिपति को नमस्कार, विशिष्ट जाति-समूहों को नमस्कार, समूहों के अधिपति को नमस्कार, बुद्धिमानों और विषयियों को नमस्कार, बुद्धिमानों के पालक को नमस्कार, विविध रूपवालों को नमस्कार और विश्व-रूप रुद्र को नमस्कार।

महीधर अपने भाष्य में लिखते हैं—**देवानुचरा भूतविशेषगणाः गणानां पालकाः गणपतयः**—कि देवों के अनुचर भूत-विशेष गण होते हैं, उनके पालक गणपति कहलाते हैं। यहाँ रुद्र के गणों की ओर संकेत तो हो सकता है, पर ध्यान देने की बात है कि 'गणपति' शब्द बहुवचन में आया है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि की दृष्टि में कोई एक गणपति नामधारी देव नहीं है, वरन् देवों के अनुचरों के कई नायक हैं। वह उन सबको प्रणाम कर रहा है। प्रणाम इसलिए किया जा रहा है कि यह सब रुद्र-रूप है। परन्तु, इतने से ही इन गणों या गणपतियों की महत्ता प्रदर्शित नहीं होती, क्योंकि इस अध्याय में कुम्भकारों, शस्त्रधारियों, चोरों, कुत्तों, घोड़ों यानी थोड़े में समस्त जगत को रुद्र-रूप मानकर प्रणाम किया गया है।

गणपति का तीसरा उल्लेख शुक्ल-यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय के उन्नीसवें मन्त्र में इस प्रकार है :

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा-त्वमजासि गर्भधम्॥ २३।१९

अर्थात् हे गणपते! तुम सब गणों के स्वामी हो। हम तुम्हें आहूत करते हैं। हे प्रियों के मध्य में निवास करनेवाले प्रियों के स्वामी, हम तुम्हें आहूत करते हैं। हे निधियों के मध्य निवास करनेवाले निधिपते! हम तुम्हें आहूत करते हैं, तुम हमें श्रेष्ठ निवास देनेवाले और रक्षक हो। तुम गर्भधारक जल

1. श्री सम्पूर्णानन्द : गणेश, पृ० १

को सब प्रकार आकर्षित करते हो। तुम गर्भ धारण करनेवाले को अभिमुख करते हो। तुम समस्त पदार्थों के रचयिता होते हुए सब प्रकार से अभिमुक्त होते हो ॥ (आचार्य श्रीराम शर्मा)

"यह मंत्र अश्वमेध के प्रसग में आया है। यजमान की पत्नी, राजमहिषी मरे हुए घोड़े की परिक्रमा करके समीप लेट जाती है। इसी अवसर पर वह इस मत्र को पढ़ती है। इसमें अश्व को सम्बोधित किया गया है, इसलिए महीधर के शब्दों मे "अश्वदेवत्यम्" है—इसका देवता अश्व है। उवट और महीधर दोनों भाष्यकारो ने इसका यह अर्थ किया है "हे गणो के गणपति अर्थात् स्त्रीगण के मध्य में पालक, गण के स्वामी, प्रियो के प्रियपति अर्थात् वल्लभो के बीच में प्रिय के पालक, निधियो के निधिपति अर्थात् सुख निधियो के पालक, हम तुम्हारा आह्वान करते है, हे वसुरूप अश्व, तुम हमारे पति हो; गर्भ धारण करनेवाले रेत को मैं खींचकर छोड़ती हूँ। तुम भी गर्भ धारण करनेवाले रेत (वीर्य) को खींचकर छोड़ो।"[1]

वेदो के अर्वाचीन सनातन धर्मावलम्बी अनुवादक प० रामस्वरूप शर्मा तथा आचार्य श्रीराम शर्मा अथवा आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुवाद मे भी इस मत्र में गणेश की झलक भी नही मिलती। यद्यपि वैदिक देवताओं मे स्पष्टत गणेश की कही गणना नही है, तथापि इस मत्र का गणेश-पूजा मे पाठ होता है, परन्तु बहुत कम लोगों का ध्यान वास्तविकता की ओर जाता है।

प्राचीन दस उपनिषदो में और सर्वोपरि श्वेताश्वेतर-उपनिषद् मे, जो रुद्र-सम्बन्धी श्लोको मे भरपूर है, गणेश का कही उल्लेख नही है। किन्तु बहुत बाद की साम्प्रदायिक गणपत्युपनिषद् मे, जिसकी भाषा और शैली स्पष्टतया अर्वाचीन है, पन्द्रहवे श्लोक मे गणपति, गणेश, एकदन्त, वक्रतुण्ड, दन्ति, लम्बोदर और शिवपुत्र के नाम से स्तुति है। इस उपनिषद् में (१।६) गणेश को ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। यथा—

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रथमपतये नमस्तेऽस्तु लम्बो-
दरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवपुत्राय वरदमूर्तये नमो नमः ॥

शिवपुत्र नाम से स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक काल मे शिव के पुत्र होने की कथा की पुष्टि के बाद इस उपनिषद् की रचना हुई।

1. सम्पूर्णानन्द : गणेश, पृ० २

संहिताओं में दिए हुए मंत्रों का विनियोग ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थों के मुख्य विषय हैं। ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। यह ब्राह्मण (१।२१), गणपति को ब्रह्मस्पति या बृहस्पतिवाचक मानता है। तैत्तिरीय आरण्यक में यह मंत्र आया है

तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नोदन्तिः प्रचोदयात् ।

इस उपनिषद् में इस मंत्र के पाठ करने का माहात्म्य बताया गया है। कहा है कि इसका पाठ करनेवाला पुरुष ब्रह्मत्व-प्राप्ति का अधिकारी होता है। उसके लिए किसी प्रकार का विघ्न बाधा नही उत्पन्न करता। वह सभी स्थानो पर सुखी रहता है। पाँचो प्रकार के पापो मे वह मुक्त होता है और प्रात.काल पाठ करनेवाले के रात्रि मे किए हुए पाप कट जाते हैं। प्रात-साय दोनो काल में पाठ करने से पाप-रहित ही नही होता, बल्कि इसका पाठक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पाता है।

इस मत्र मे वक्रतुण्डी की जगह महादेव और दन्ति की जगह रुद्र कर देने से प्रसिद्ध रुद्रगायत्री-मत्र बन जाता है। यथा :—

तत्पुरुषाय विदमहे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

"इस मंत्र मे यह प्रार्थना की गई है कि दन्ति (या दन्ती) हमको प्रेरित करे। दन्ति का अर्थ हुआ दाँतवाला। उनका विशेषण है वक्रतुण्ड, टेढ़ी सूँड-वाला। दन्ति मे दाँतो की सख्या का निर्देश नही है, परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा नाम उसी को दिया जा सकता है, जिसके दाँतो मे कोई विशेषता हो। ऐसी दशा मे स्वभावत. गणेशजी के एकदन्त, एकरदन जैसे नामो की ओर ध्यान जाता है और यह अनुभव होता है कि ये गणेशजी के ही नाम हैं। वक्रतुण्ड इसी अनुमान को पुष्ट करता है।[1]

श्री सम्पूर्णानन्द का विचार है कि जिस समय इस आरण्यक का प्रचार हुआ, उस समय वक्रतुण्ड दन्ति उन महादेव रुद्र से अभिन्न माने जाते थे, जो तत्पुरुष नाम से भी पुकारे जाते हैं। कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि संहिताओं में उनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। श्रुति मे ३३ देवो की बराबर चर्चा हुई है। इन ३३ देवो मे इन्द्र और बृहस्पति के सिवा ८ वसु, १२ आदित्य और ११

1. श्री सम्पूर्णानन्द : गणेश, पृ० २

रुद्र हैं। किन्तु किसी भी वैदिक देव-सूची मे गणेश का किसी भी नाम से अन्तर्भाव नहीं मिलता। यह भी सम्भव है कि आरण्यकों की रचना के समय तक रुद्र का आत्मसात अनार्य-देवता मे हो जाने के फलस्वरूप उनके पुत्र के रूप मे गणेश की मान्यता हो चली हो। जो भी हो, इन आरण्यको के मन्त्रो से मूर्तिपूजा का कही सकेत नहीं मिलता।

बोधायन धर्मसूत्र (२।५।६-७) मे एक दूसरे देवता का उल्लेख हुआ है। वह है स्कन्द। विनायक की तरह इस देवता के लिए तर्पण का विधान किया गया है, और इसी से पता चलता है कि इसको भी विनायक के समान ही विधिवत् मान्यता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त इस सूत्र में ही इनके अन्य नामो का भी उल्लेख किया गया है; जैसे—षण्मुख, जयन्त, विशाख, सुब्रह्मण्य महासेन आदि। इन नामो से निश्चित हो जाता है कि यह वही देवता है, जो आगे चलकर कार्तिकेय तथा सुब्रह्मण्यम् नाम से क्रमश: उत्तर और दक्षिण भारत मे प्रसिद्ध हुआ। परन्तु इस देवता के विषय में कुछ और नही कहा गया है और इस एक संदर्भ में उसका रुद्र के साथ क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्टतया ज्ञात नही होता। यह देवता आज दक्षिण भारत में तीन मुख्य देवताओ—(१) विष्णु, (२) शिव और (३) सुब्रह्मण्यम्—में एक है।

गृह्यसूत्रो मे भी रुद्र की पत्नी और रुद्र के पुत्रो का उल्लेख स्पष्टतया धर्मसूत्रो की तरह आया है, परन्तु गृह्यसूत्रो से जो सामग्री उपलब्ध होती है, उसमे सबसे महत्त्वपूर्ण वह है, जो रुद्र की उपासना मे एक बिलकुल नई प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है—मूर्तिपूजा। गृह्यसूत्रो मे ही पहले-पहल रुद्रादि देवताओ की मूर्तियो के प्रतिष्ठापन और पूजन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। बोधायन गृह्यसूत्र में रुद्र की मूर्ति की स्थापना (३।२।१६।१-४३) का विस्तृत वर्णन आया है। रुद्र की प्रतिमा को स्नान कराते हुए (२।२।१८) कहा गया है—

आराधितो मनुष्यैस्त्वं सिद्धैर्देवासुरादिभि ।
आराधयामि शक्त्या त्वाऽनुग्रहाण महेश्वर ॥

यहीं पर पहली बार शिवलिंग का भी उल्लेख आया है। मानवाकार मूर्तियों के साथ लिंग-मूर्ति का भी वर्णन किया गया है (३।२।१६।१-४३)। यथा—

पुष्पफलाक्षतमिश्रयवदुर्वाङ्कुर पादपीठे निक्षिपति ...... नमस्ते रुद्रमन्यव इति ...... तेन ...

नमस्ते अस्तु धन्वने इत्यष्टाभिः स्नापयति.........
हिरण्येन तेजसा चक्षुर्विमोचयेत् तेजऽसीति
लिङ्गो योन्निवर्तते चक्षुर्घोरचाक्षात् ।

इससे स्पष्ट है कि बोधायन गृह्यसूत्र के समय तक रुद्र की उपासना लिंग-रूप मे प्रचलित हो गई थी। लिंग को केवल भगवान शिव का एक प्रतीक माना जाता था और उसकी उपासना फल, फूल आदि द्वारा ठीक उसी प्रकार की जाती थी, जिस प्रकार उनकी मानवाकार मूर्तियों की।

लिंगोपासना के प्रचलन से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि धर्मसूत्र-काल तक आर्य और अनार्य का पूर्ण रूप से सम्मिश्रण हो चुका था।

इसी धर्मसूत्र में रुद्र की मूर्ति-पूजा के साथ-साथ विष्णु की मूर्तियों के प्रतिष्ठापन का भी विधान मिलता है (३।२।१३।१६)।

दो प्रधान देवता रुद्र और विष्णु के साथ-साथ गृह्यसूत्रों मे रुद्र की पत्नी को भी स्थान मिला है। इस समय रुद्र की पत्नी एक स्वतन्त्र देवता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। रुद्र की मूर्तियों की पूजा के साथ इनकी पूजा की विधियाँ भी बताई गई हैं और पहली बार इन्हें दुर्गा कहा गया है (३।३।२-३)।[1]

बोधायन गृह्यसूत्र (३।३।१०) मे विनायक का उल्लेख और पूजा-विधि आई है। "संक्षेप मे विनायक सामान्य रूप से उत्पाती जीव माने जाते थे और मनुष्यों के साधारण व्यापार मे उनके कारण बाधाएँ न पड़ें, इस उद्देश्य से उनको संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था। इसलिए जो विधियाँ बताई गई हैं, उनमे जादू-टोनो का पुट अधिक है और उनके स्वरूप स्पष्ट ही अथर्ववेदीय हैं। पता चलता है कि विनायक जनसाधारण के प्रचलित विश्वासो के क्षेत्र के जीव थे। ये विधियाँ तम-निवारक सूर्य के स्तवन के साथ समाप्त

1. आपोहिष्ठामयो भुव. इति तिसृभि हिरण्यवर्णाः इति चतसृभिः पवमानाः इत्येतेनानुवाकेन मन्त्रयित्वा आर्यायै रौद्रायै महाकाल्यै महायोगिन्यै सुवर्णपुष्प्यै देवसंकीर्त्यै महाचक्र्यै (यक्ष्यै) महावैष्णव्यै महापृथिव्यै मनोगम्यै शङ्खधारिण्यै नमः इति——सावित्र्यै :—भगवत्यै दुर्गादेव्यै हविर्निवेदयामि इति हविर्निवेद्य शेषम् एकादश नामधेयै हुत्वा पञ्चदुर्गा जपेत् दशस्वस्ति जपेत्।

होती थीं और इससे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि विनायक को अन्ध-कार और नदी का जीव माना जाता था।"[1]

गृह्यसूत्रों में विनायक विघ्नकारी से बढ़कर विघ्नपति हो गया है और विघ्नों के नाश के लिए तथा फिर सामान्य रूप से सफलता के लिए प्रार्थना की जाती है (बोधायन गृह्यसूत्र ३।३।१०)। प्रार्थना यों है—

विघ्नविघ्नेश्वरागच्छ विघ्निस्त्वेव नमस्कृत।
अविघ्नय भवान् सम्यक् सदा स्माकं भव प्रभो॥
कृते यदि मया प्राप्तं श्रद्धया वा गणेश्वर।
उत्तिष्ठ सगणः साधो यथाहि भव प्रसीवताम्॥

यहाँ विनायक उत्तरकालीन गणेश का आदिरूप है। बोधायन गृह्यसूत्र में इसका एक स्त्री-देवता के साथ साहचर्य भी बताया गया है, जिसका नाम 'ज्येष्ठा' है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि विनायक के समान ही इसको भी हस्तिमुखा कहा गया है (बोधायन गृह्यसूत्र ३।३।९)।

अत उत्तर-वैदिक साहित्य में विनायक का इस प्रकार सहसा उल्लेख और अपरकाल मे शिव के साथ उसका घनिष्ट सबध हो जाना एक आश्चर्य-जनक घटना है। बोधायन गृह्यसूत्र (३।९) मे जहाँ विनायक का उल्लेख किया गया है, वहाँ उसे भूपति, भूतपति, भूतानापति और भुवनपति की उपाधियाँ दी गई हैं। ये उपाधियाँ साधारणतया रुद्र के लिए प्रयुक्त होती हैं। पुराणों मे शिव को बहुधा गणेश की उपाधियाँ दी गई है और गणेश को भी प्रायः शिव के अनेक गुणो से विभूषित किया गया है। हम पहले कह आए है कि आरम्भ मे मूषक रुद्र का वाहन था; किन्तु उत्तर-वैदिक काल में मूषक अनि-वार्य रूप से गणेश का वाहन माना जाने लगा और शिव का नही। पुराणों ने इसकी पुष्टि की है। इससे यह प्रबल धारणा बनती है कि कुछ विशेष पहलुओं से देखने पर शिव और गणेश का स्वरूप परस्पर बहुत भिन्न नहीं था। अतः यह सम्भव हो सकता है कि प्रारम्भ में ये दोनों देवता एक ही थे।

इस सबंध में डॉ० यदुवंशी का कहना है कि "देवताओं में एक देवता द्वारा अन्य देवताओ को आत्मसात कर लेने की प्रक्रिया तो काफी प्रचलित है।

---

1. शैवमत, पृष्ठ ५०।

परन्तु एक विपरीत प्रक्रिया भी देव-कथाओं मे चलती है, अर्थात् एक ही देवता के विभिन्न रूपो का विकास होते-होते अनेक स्वतंत्र देवताओं का अस्तित्व हो जाना। रुद्र और विनायक के संबध मे यही विपरीत प्रक्रिया काम करती हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रारम्भ मे विनायक रुद्र के रूप का ही नाम था, परन्तु जैसे-जैसे इस रूप का विकास होता गया, उस प्रारम्भिक तादात्म्य की स्मृति मिटती गई और अन्त मे दोनो स्वतत्र देवता बन गए और साथ ही गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा। और, पिता-पुत्र का संबध उपयुक्त है भी; क्योंकि रुद्र के एक रूप मे गणेश का जन्म हुआ।[1]



1. शैवमत, पृष्ठ ५२

दूसरा खण्ड

पहला परिच्छेद

पाणिनि-काल

भारतीय युद्धकाल मे आर्यों का धर्म केवल वेद-विहित था, किन्तु आगे चलकर महाभारत रचना-काल मे वैदिक देवताओं के सिवाय कुछ और देवता समाविष्ट हो गए। वैदिक देवताओं के अग्रगण्य इन्द्र पीछे पड़ गए और शिव तथा विष्णु की मूर्ति पूर्णरूप मे स्थापित हो गई। विद्वानों का मत है कि भारतीय युद्ध से लेकर महाभारत की रचना तक दो ढाई हजार वर्ष बीते और इस अवधि मे आर्य-धर्म का रूपान्तर हो गया। "वैदिक काल मे ईश-भक्ति की विशेष क्रिया संध्या और यज्ञ थे। वेदाध्ययन और यजन तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—मे जीवित और जाग्रत थे। परन्तु भारतीय काल मे आर्यों और अनार्यों के समाज मे एव धर्म मे पूर्णतया मिश्रण होकर जो धर्म स्थिर हुआ, उसमे यद्यपि ब्राह्मणो में वेदाध्ययन और अग्निहोत्र बने रहे थे, तथापि अन्य वर्णों मे शिव, विष्णु, स्कन्ध और दुर्गा की पूजा प्रचलित हो गई। इसके अतिरिक्त इसी समय इन देवताओं की प्रतिमाएँ और इनके लिए मन्दिर बने। अज्ञ लोगो मे निरे भूत-पिशाचो की ही भक्ति, स्कन्द के साथ अस्तित्व मे आ गई थी और यह भी प्रकट है कि बौद्धो के स्तूपो की पूजा का निषेध किया गया। अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत-युद्ध के पश्चात् ढाई-तीन हजार वर्षों के अतर्गत भारत मे मूर्ति पूजा का प्रचार हुआ। बौद्धो के स्तूपो की पूजा का निषेध भी यह सिद्ध करता है कि महाभारत-ग्रन्थ मे यह सम्मिश्रण बौद्धकाल मे हुआ जबकि बुद्ध की पूजा प्रचलित हो चुकी थी।"[1]

यह ठीक है कि प्राचीन काल में सरस्वती, लक्ष्मी आदि की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बनती थीं। वर्तमान समय मे भारतमाता के चित्र की कल्पना भी ऐसी ही वस्तु है। न इसमे कोई दोष है और न हानि। पाश्चात्य देशो में अनेक महापुरुषों की मूर्तियाँ स्थान-स्थान पर प्रतिष्ठित हैं और विशेष अवसरों पर उनके प्रति जनता आदर प्रदर्शित भी करती है। किन्तु यह आदर-प्रदर्शन मूर्ति-पूजा नहीं है। स्थान-स्थान पर मूर्तियो के उल्लेख से यह भी धारणा

1. महाभारत की मीमासा : वैद्य

होती है कि कला अथवा शौर्य पूजा की दृष्टि से उस समय भवनों मे कतिपय मूर्तियाँ रखी जाती हो, किन्तु मूर्तिपूजा का उल्लेख हमे महाभारत-युद्धकाल तक वास्तव मे नहीं मिलता ।

प्राचीन ग्रन्थो मे सर्वप्रथम पाणिनि के व्याकरण-सूत्रो म मूर्तियो और मदिरो का प्रामाणिक उल्लेख हम पाते हैं। अधिकाश विद्वान् पाणिनि का समय ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व मानते हैं। पाणिनि ने अपने सूत्रों मे निम्नलिखित वैदिक देवताओ का उल्लेख किया है :

(१) अग्नि, (२) इन्द्र, (३) वरुण, (४) भव, (५) शर्व, (६) रुद्र, (७) मृड, (८) वृषाकपि, (९) पूषा, (१०) अर्यमा, (११) त्वष्टा, (१२) सूर्य, (१३) वायु, (१४) महेन्द्र, (१५) अपानप्तृ, (१६) सोम और (१७) नासत्य। कुछ जुड़वाँ देवताओ के भी नाम हैं—अग्नि-सोम, अग्नि-वरुण, द्यापृथिवी, शुनासीर, सोम-रुद्र, इन्द्र-पूषा, शुक्रामन्थी। पाणिनि के समय मे मास, ऋतु, सवत्सर सभी को देवताओ के नाम-पद प्राप्त हो चुके थे। पाणिनि ने स्वय ऋतु को (४।२।३१) देवता कहा है। देवत्व-प्रदान की नई पद्धति के परिणाम-स्वरूप जितने नक्षत्र थे, वे सब-के-सब देवता मान लिए गए।

"देवताओ के विषय का दृष्टिकोण धर्म के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन का सूचक है। यह भक्ति-प्रधान दृष्टिकोण था। पाणिनि के युग मे भक्ति-धर्म का उदय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। इसका परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर व्यापक हुआ। वैदिक यज्ञो मे जो पुरातनकाल की आस्था थी, उसके साथ-साथ एक प्रतिद्वन्द्वी दृष्टिकोण भी मान्य हो गया। यह विशेष देवताओ के प्रति भक्ति या विश्वास था, जिसमे उनको प्रसन्न करके उनका वरदान या प्रसाद प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति-धर्म की स्वीकृति का प्रभाविक फल कई प्रकार मे देखने मे आया। एक तो लोक-धर्म मे जो सैकड़ो प्रकार के छोटे-मोटे देवता थे, उन सबकी पद-प्रतिष्ठा बढ़ी और उनके लिए त्रैवर्णिक समाज मे द्वार उन्मुक्त हो गया। फलतः यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, ग्रह, रुद्र, देवी, वृक्ष, नदी, गिरि आदि को देवता मानकर उन्हे पूजने की जो परम्परा लोक मे चली आती थी, उन्हे सार्वजनिक रूप में मान्यता मिल गई। उच्चवर्ण के घरो मे भी इन देवताओ का निरवरोध प्रवेश हो गया। वैदिक धर्म के देवता और

उन्हें प्रसन्न करने की यज्ञ-पद्धति नए भक्ति-धर्म के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर प्रकट हुए और देखते-देखते समाज में सर्वत्र उनकी धाक जम गई। यहाँ तक कि स्वयं वैदिक देवता और उनके प्रति किए जानेवाले यज्ञ पिछड़ गए। पाणिनि के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् अशोक ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है—अमिसदेवा मिसा कटा, अर्थात् जो देवता पहले अलग थे, वे अब वैदिक देवताओं के साथ, बौद्धधर्म के साथ और उच्च धर्म की पूजा-पद्धति के साथ घुल-मिलकर एक हो गए।"[1]

भक्ति-धर्म के उदय का दूसरा प्रभाव पूजा की पद्धति पर पड़ा। यह प्राचीन यज्ञ-विधि से सर्वथा भिन्न थी। "भक्ति-धर्म का तो प्रभाव यह हुआ कि पुरुष विशेष देवता के रूप में पूजित हुए। एक ओर बौद्धों और जैनों ने बुद्ध और महावीर को भक्ति-धर्म की पूजा-विधि और मान्यता का लक्ष्य बनाया और उसके लिए स्तूप और चिह्नों की कल्पना करके धर्म का बाह्य रूप खड़ा किया। उसने जनसाधारण के मन को अपनी ओर खींच लिया। दूसरी ओर, हिन्दू-समाज पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। फलतः वासुदेव कृष्ण को देवता मानकर उनकी भक्ति का आदर्श नए रूप में समाज के सामने आया। बुद्ध और महावीर जैसे क्षत्रिय पुरुष-विशेष थे, वैसे ही कृष्ण भी क्षत्रिय पुरुष-विशेष थे। ऐसे देवताओं को मनुष्य प्राकृतिक देव कहते थे, अर्थात् जिनकी मूल प्रकृति मनुष्य की थी, पर जो देवता मान लिए गए।"[2]

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' (५।३।९६) मे देव-मूर्तियों का वर्णन है तथा (५।२।१ म) 'अर्चा' अर्थात् प्रतिमा शब्द का उल्लेख आया है। अतः ज्ञात होता है कि मूर्ति-पूजा का सूत्रपात भारत मे याज्ञिक विधानों की अनुरूपता को लेकर हुआ। पर यह कब और किसके द्वारा हुआ, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। किन्तु पाणिनि के युग मे कृष्ण वासुदेव की भक्ति के विकास को प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। श्रीकृष्ण वासुदेव की भक्ति करनेवाले वासुदेवक कहे जाते थे। कृष्ण के साथ-साथ उनके अभिन्न सखा अर्जुन की पूजा भी प्रचलित हो चली थी और कालान्तर में इनके धार्मिक साहचर्य का दूसरा रूप नर-नारायण की सहपूजा थी, जिसमें नारायण

1. पाणिनिकालीन भारतवर्ष : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

2. वही

प्रधान और नर उनके सखा थे। इसी को नारायणीय धर्म कहा गया। महाभारत (शान्ति-पर्व ३३९)' मे नारायणीय धर्म का विशेष रूप से वर्णन है। वासुदेव और अर्जुन का ही नामान्तर नर-नारायण है। वेदो मे भी देवताओ के जोड़े या साहचर्य का उल्लेख है—जैसे अग्नि-वरुण, इन्द्र-सोम, इन्द्र-बृहस्पति। इस सबध मे डॉ० अग्रवाल का कथन है कि "नर-नारायण की भाँति 'सकर्षण और वासुदेव' नए भक्ति-धर्म का मुख्य सूत्र बन गया। इसी मे आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से चतुर्व्यूह का स्वरूप पूरा हुआ। साम्ब को साथ लेकर पचवृष्णि वीरो की कल्पना पूर्ण हुई, जो पञ्चरात्र-धर्म की सुनिष्पन्न मान्यता बनी। भारत के धार्मिक इतिहास म यह परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसकी गूँज पाणिनि के **वासुदेवार्जुनाभ्यावुन** (४।३।९८) म सुनाई देती है। भागवत-धर्म के इतिहास म पाणिनीय सूत्र की प्रमाण-साक्षी अमूल्य है।

चतुर्व्यूह का सम्यक् वर्णन महाभारत (शान्ति-पर्व, अध्याय ४९) मे आया है। यह विचारणीय है। कहा गया है कि श्वेतद्वीप मे पहुँचकर देवर्षि नारद भगवान विष्णु के दर्शन की इच्छा से उनके नाम की दो सौ नामो द्वारा स्तुति करने लगे। स्तुति पर विश्व-रूप धारण कर भगवान ने उन्हे दर्शन दिया। भगवान का रूप विलक्षण था। सनातन भगवान श्रीहरि अपने स्वरूप मे नाना प्रकार के रग धारण किए हुए थे। उनके हजारो नेत्र, हजारो मस्तक, हजारो पैर, हजारो उदर और हजारो हाथ थे। वे अपूर्व कान्ति से संपन्न थे और उनकी आकृति अव्यक्त थी। सबको वश मे रखनेवाले भगवान नारायण एक मुख से तो ओंकार तथा उससे सबध रखनेवाले गायत्री का जप करते थे एव अन्यान्य मुखो से चारो वेदो और उनके आरण्यक भाग का गान कर रहे थे (शान्ति-पर्व, ३३९।२१-२५)। भगवान ने कहा—"विप्रवर धर्म के घर मे अवतीर्ण हुए, वे नर-नारायण आदि चारो भाई मेरे ही स्वरूप हैं, अत. तुम सदा उनका भजन किया करो तथा जो कार्य प्राप्त हो उसका साधन करो। जो नेत्रो से देखा नही जाता, त्वचा से जिसका स्पर्श नही होता, गंध ग्रहण करनेवाली घ्राणेन्द्रिय नली से जो सूँघने मे नहीं आता, जो रसेन्द्रिय की पहुँच से परे है, सत्, रज एवं तम नामक गुण जिसपर कोई प्रभाव नहीं डालते, जो सर्व-व्यापी, साक्षी और सम्पूर्ण जगत का आत्मा कहलाता है, सम्पूर्ण प्राणियो का

नाश हो जाने पर भी जो स्वयं नष्ट नहीं होता, जिसको अजन्मा, नित्य, सनातन, निर्गुण और निष्क बताया गया है, जो चौबीसों तत्त्वों से परे पच्चीसवें तत्त्व के रूप मे विख्यात है, जिसे अन्तर्यामी पुरुष निष्क्रिय तथा ज्ञानमय नेत्रों से ही देखने योग्य बताया जाता है, जिसमे प्रवेश करके श्रेष्ठ द्विज मुक्त हो जाता है, वही सनातन परमात्मा है। उसी को वासुदेव नाम से जानना चाहिए। ससार मे उस एकमात्र सनातन पुरुष वासुदेव को छोड़कर कोई भी चराचर भूत नित्य नहीं है।''

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि नारायणीय धर्म, जिसमे नारायण प्रधान हैं और नर उनके सखा-रूप मे है, एक ईश्वर के रूप मे प्रचलित हुआ। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से इस विचारधारा का आरम्भ उसी युग मे हुआ होगा। वासुदेव और अर्जुन का ही नाम नर-नारायण है। इस मान्यता से एक धार्मिक दृष्टिकोण पल्लवित हुआ कि एक ही शक्ति नर और नारायण के दो रूपों मे विकसित हुई। डॉ० अग्रवाल का कथन है कि 'वासुदेव कृष्ण की परिवार-कल्पना का दूसरा स्वरूप और भी अधिक व्यापी एव स्थायी हुआ। वह चतुर्व्यूह या पञ्चरात्र की कल्पना थी। उसके अनुसार पहले तो वासुदेव और सकर्षण इन दोनों का जुड़वाँ रूप लोक मे प्रसिद्ध हुआ। इस ही व्याकरण के उदाहरणों मे वासुदेव-सकर्षण कहा गया है (८।१।१५)। इस प्रकार के जुड़वाँ देवता की कल्पना पहले से चली आती थी। वासुदेव और सकर्षण तो उसी प्रथा का नया दृष्टान्त थे। देवता द्वन्द्वे च (६।३।२६) सूत्र से ज्ञात होता है कि ऐसे कुछ देवताओं के जोड़े के साहचर्य का विश्वास वैदिक देवताओं के विषय मे भी था, जैसे इन्द्र-सोमौ, इन्द्र-बृहस्पति आदि। साथ ही कुछ देवता ऐसे थे, जिनका साहचर्य लोक मे प्रसिद्ध था, जैसे ब्रह्म-प्रजापति, शिव-वैश्रवण आदि। नर-नारायण की भाँति संकर्षण और वासुदेव नए भक्ति-धर्म का मुख्य सूत्र बन गए। इसी में आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से चतुर्व्यूह का स्वरूप पूरा हुआ।'

इस चतुर्व्यूह की दृष्टि हमे महाभारत (शान्ति-पर्व ३३९।१०२) में मिलती है। पञ्चरात्र या पञ्चायतन के सबध मे डॉ० मुंशीराम शर्मा[1] का विचार है

1. डॉ० मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास, पृष्ठ २३५-३६

कि "प्रकृति की पूजा पञ्चायतन मे अभिव्यक्त हुई है। भगवतो की व्यूह-पूजा मे जो नाम आते हैं, वे भी प्रकृति की मूल विकृतियो के ही नाम हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी (५।३।९६) मे देवमूर्तियो का वर्णन है तथा उसमे (५।२।१०) 'अर्चा' अथवा 'प्रतिमा' शब्द का उल्लेख है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (२।४) मे विष्णु-मन्दिर के निर्माण की आज्ञा वर्णित है तथा शिव और वैश्रवण की मूर्तियो का उल्लेख है। ये मूर्तियाँ मन्दिर मे प्रतिष्ठित की जाती थी। इस मूर्ति-पूजा का सूत्रपात इस देश मे याज्ञिक विधानो की अनुरूपता को लेकर हुआ, पर वह कब और किसके द्वारा हुआ, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। वेद मे प्रतिमा-पूजा का विधान किसी भी स्थल पर नही है। अत बहुत दिनो तक वैदिको तथा भागवतो म विषमता रही। कूर्मपुराण से स्पष्ट है—

न वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽपि शकर।
सङ्गच्छते महादेव पुण्यो वेदविनिर्गतो ॥ (१४।१२४)

यह श्लोक पाञ्चरात्रो को वेदबाह्य तथा पुण्यबाह्य कहता है। पराशर-पुराण, वसिष्ठसंहिता, सूत-संहिता, आश्वलायन-स्मृति आदि भी पाञ्चरात्रो को अवैदिक मानते हैं। इसके विपरीत महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण आदि पाञ्चरात्रो का समर्थन करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत-धर्म प्रारम्भ म वेद-बाह्य समझा जाता था। इसे वेद-परक सिद्ध करने के लिए इसके अनुयायियो ने प्रभूत परिश्रम किया। यमुनाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'आगम-प्रामाण्य' मे पाञ्चरात्र-धर्म को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए अथक परिश्रम किया है।"

इस प्रकार पाणिनि के युग में न केवल भागवत-धर्म की नीव पड़ चुकी थी, बल्कि लोक मे उसका समृद्ध रूप भी प्रकट हो रहा था। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में पाणिनि के प्राय. सौ वर्ष पश्चात् हमे कृष्ण और कंस के उपाख्यान का और विष्णु के प्रसाद या देव-मन्दिर के निर्माण का उल्लेख मिलता है। दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के एक शिलालेख मे, जो चित्तौड के पास पाया गया है, वासुदेव को सब देवो मे श्रेष्ठ कहा गया है। अत ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में भागवत धर्म का व्यापक आन्दोलन अस्तित्व में आ चुका था, जिसने भारत के धार्मिक रंगमंच पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया।

पाणिनि की अष्टाध्यायी मे देवतावाचक एक शब्द 'महाराज' आया है और उसके प्रति भक्ति का भी उल्लेख है। 'महाराज' देवता के भक्त महाराजिक

कहलाते थे। ज्ञात होता है कि महाराज देवता वैश्रवण या कुबेर की संज्ञा थी। यक्षों के राजा होने के बाद कुबेर 'महाराज' कहलाए। जातक (६।२६५) में वैश्रवण कुबेर को 'महाराज' कहा गया है। डॉ० अग्रवाल का कथन है कि "गृह्यसूत्रों में भी महाराज या वैश्रवण की पूजा का उल्लेख आया है। गृहहोम या हवि के अन्त में वैश्रवण की स्तुति का मंत्र उच्च घोष से पढ़ा जाता था, जिसमें उसे राजाधिराज अर्थात् यक्षों का अधिपति कहा है।"[1]

पातञ्जल योगदर्शन के निर्माता ने ईसा से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्र (४।३।९८) पर जो भाष्य लिखा है, उसके अनुसार वासुदेव कृष्ण और संकर्षण के लिए मन्दिर थे और उनकी पूजा की जाती थी। अतः भागवतों का आराध्यदेव वासुदेव और उनके नाम से प्रचलित संप्रदाय विक्रम संवत् से कई सौ वर्ष पूर्व ही इस देश में भागवत संप्रदाय के नाम से प्रतिष्ठित हो चुके थे।

महाभारत भागवत-धर्म को लोक-धर्म कहता है और उसका संबंध सांख्य, योग तथा वेदारण्यक से जोड़ता है (शान्ति पर्व ३३५।२९, ३२, ३९, ८१)। भागवत धर्म पाञ्चरात्र, ऐकान्तिक नारायण, वासुदेव, वैष्णव, सात्वत आदि नामों से अभिहित किया जाता है। महाभारत (अध्याय ३४८) इस धारणा की पुष्टि इस तरह करता है :

नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः।
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रञ्च कथ्यते॥
एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः।
एष ते कथितो धर्मः सात्वत. कुलनन्दन॥

वैदिक धर्म ज्ञान, भक्ति और कर्म की पावन त्रिवेणी है। यह ज्ञान, यज्ञ, योग, तप, व्रत, उपासना—सभी साधनों को मानव के सर्वांगीण विकास का साधन मानता है। किन्तु भागवत-धर्म एकांगीण है। वह नारायण वासुदेव कृष्ण नाम के भगवान में एकान्त निष्ठा को प्रश्रय देता है। इस प्रकार भागवत-धर्म में भक्ति की प्रमुखता है। भागवत-धर्म ने भगवान में एकान्त निष्ठा और अहैतुक भक्ति को ही जीव का उद्धार करनेवाली माना है।

1. राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।
स मे कामान् कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु॥

ईसा से कुछ वर्ष पूर्व समय की त्रिशूलधारी भगवान शिव की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। विद्वानो का मत है कि शिवलिंग की पूजा त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा से बहुत पूर्व की है और भागवत-सम्प्रदाय से एकदम असंपृक्त है। अनुमान है कि त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा भागवत प्रभाव के उपरान्त बनी।

मूर्तियो को, जिनमे देव-मूर्तियाँ भी सम्मिलित है, प्रतिकृति कहा गया है (५।३।९६)। इसी अर्थ मे विशिष्ट शब्द 'अर्चा' का भी प्रयोग हुआ है (९।२। १०१)। मूर्ति रखनेवाला पुजारी अर्चावान् या आर्चिक कहलाता था। पतञ्जलि ने भी देवमूर्तियो के लिए 'अर्च' शब्द का प्रयोग किया है।[1]

ज्ञात होता है कि पाणिनि-पतञ्जलि-काल मे कुछ मूर्तियाँ ऐसी थी, जो सार्वजनिक रूप मे प्रासाद मे अथवा खुले चबूतरे पर स्थापित होती थी। उनपर एक व्यक्ति का स्वत्व न था। अत वे किसी की जीविका का साधन नही होती थी। उनकी अवस्था इन दिनो सतो और देशभक्तो की जो मूर्तियाँ उद्यान, राजपथ आदि पर स्थापित रहती हैं, उन्ही के सदृश थी। दो प्रकार की मूर्तियाँ देवालय या पुजारियो के अधिकार मे होती थी। या तो वे एक स्थान मे स्थापित रहती थी अथवा पुजारी स्थान-स्थान पर ले जाकर जीविका के लिए पूजा चढ़वाता था। ऐसी चल और अचल मूर्तियाँ पूजार्थ और देवलको के जीविकार्थ होती थी। तीसरे प्रकार की मूर्तियाँ वे थी जो दुकानो मे बिक्री के लिए रखी जाती थीं, वे पूजार्थ नही थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मूर्तियाँ प्रदर्शन, जीविका और पूजा—तीनो बातो के लिए रखी जाती थी। पाणिनि के सूत्रो से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व से ही मूर्ति-पूजा भारत मे प्रचलित थी, भले ही वह सर्वमान्य न रही हो। पाणिनि की अष्टाध्यायी के केवल एक सौ वर्ष पश्चात् के कौटिल्य के अर्थशास्त्र से दुर्ग के अन्दर बने शिव तथा अन्य देवताओ के मन्दिर और उनमें प्रतिष्ठित मूर्तियो का विवरण स्पष्ट रूप से मिलता है। इस ग्रन्थ में और भी बहुत-सी ऐसी सामग्रियाँ है, जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय तक देवालय और मूर्तिपूजा स्थायी रूप से भारतीय धर्म का अग बन गई थी। कौटिल्य-अर्थशास्त्र के बाद हमें पतञ्जलि का महाभाष्य मिलता है, जो ईसा से

1. मौर्यः हिरण्यार्थिभिः अर्चा प्रकल्पिता (५।३।९९)।

दो शताब्दी पूर्व का माना जाता है। महाभाष्य में शिव के अनेक नामों का उल्लेख तो है ही, इसके साथ-साथ शिव और स्कन्द की मूर्तियों का भी वर्णन है, जो स्पष्ट ही पूजा के लिए बनाई जाती थीं (सूत्र १।४९,३।९७;१।६३;४।७७)। इसी ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि मौर्य-सम्राट् मूर्ति-निर्माण और मूर्ति-पूजा को सरकारी आय का साधन भी बनाते थे (३।९०)। अतः यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि मूर्ति-पूजा की प्रणाली जो आर्य-अनार्यों के मिश्रण के बाद आरम्भ हुई थी, पतञ्जलि के समय तक पुष्ट और मान्य होती गई थी। पूजा की विस्तृत प्रणाली तथा माहात्म्य का वर्णन विभिन्न पुराणों में आया है, जो अगले परिच्छेद का विषय है।



दूसरा परिच्छेद

पुराण और उनका मूर्ति-पूजा पर प्रभाव

शतपथ ब्राह्मण (१४।६।१०।६) और बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।१०) में लिखा है कि जैसे जलती हुई गीली लकड़ी मे से धुआँ निकलता रहता है, वैसे ही महाभूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान आदि उत्पन्न होते हैं। वैदिक साहित्य मे पुराणो के उल्लेख से यह नही समझना चाहिए कि इनका अभिप्राय आजकल के १८ पुराणो से है। जिस पुराण का जिक्र वैदिक साहित्य मे आया है, वह पुराण आजकल उपलब्ध नही है। शकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य मे लिखा है कि 'उर्वशी-पुरुरवा-सवादादि' को इतिहास एव 'आरम्भ मे असत ही था' इत्यादि सृष्टि-प्रकरण को पुराण कहते है।[1]

इन बातो से प्रकट है कि सर्गादि का वर्णन पुराण कहलाता था और कथाएँ इतिहास। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) मे उल्लिखित है कि इतिहास (पुराण) पाँचवाँ वेद है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत है कि इस स्थल पर इतिहास-पुराण से तात्पर्य ब्राह्मणभाग मे उल्लिखित कथाओ से है। किन्तु प्राचीन पुराण मे केवल सृष्टि की बात रही हो—यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता; क्योकि महाभारत के आदिपर्व मे शौनिक ऋषि कहते है कि पुराण मे दिव्य कथाएँ हैं, आदिवश के वृत्तान्त हैं।

पुराणों के पाँच लक्षण भिन्न-भिन्न पुराणो में इस प्रकार दिए गए हैं[2] :

> **सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च।**
> **वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥**

अर्थात् सर्ग या सृष्टि-विज्ञान, (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, (३) सृष्टि की आदि वंशावली, (४) मन्वन्तर अर्थात् किस-किस

1. 'विश्वधर्म-दर्शन', पृ० १८५ (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—४ द्वारा प्रकाशित)
2. रामदास गौड़ : हिन्दुत्व, पृ० १६२ (ज्ञानमण्डल, काशी द्वारा प्रकाशित)

मनु का समय कब रहा और उस काल में कौन-सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं तथा (५) वंशानुचरित—प्रसिद्ध वंशों का—सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी आदि राजाओं का—वर्णन।

किन्तु आज जो पुराण पाए जाते हैं, उनमें उपर्युक्त पाँच विषयों के अतिरिक्त भी अनेक बातों का वर्णन है।

पुराणों के पठन से स्पष्ट है कि सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन सब पुराणों में एक ही है। यहाँ तक कि इस प्रसंग का एक-एक श्लोक समान है। किसी पुराण में दो-चार श्लोक अधिक हैं, और किसी में कम। अन्तर केवल इतना ही है। इससे ज्ञात होता है कि आरम्भ में एक ही पुराण था, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में है। संभव है कि पुराण-संहिता के अठारह अध्याय हों, जिनके आधार पर व्यास की शिष्य-परम्परा ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार समय-समय पर अठारह पुराणों की रचना कर डाली और विभिन्न संग्रहकारों ने प्रसंग-वश अपने-अपने इष्टदेव की प्रतिष्ठा और मर्यादा का खयाल रखते हुए, प्रसंग की पूर्ति और संग्रह को रोचक बनाने के लिए अपने श्लोकों की संख्या बढ़ा दी। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि संहिता के १८ भागों में पुराण का होना कारण-विशेष सूचित करता है। संभवतः १८ की परम्परा उस समय तक चल निकली थी। महाभारत में १८ पर्व हैं। युद्ध १८ दिनों तक चला। सैनिकों की संख्या १८ अक्षौहिणी थी। महाभारत के अन्तर्गत गीता के भी १८ अध्याय हैं। मुख्य धर्मशास्त्र भी १८ माने गए हैं।

प्रत्येक पुराण के अलग-अलग अनुशीलन से पता चलता है कि हर एक का उद्देश्य साधन-विशेष है। भिन्न-भिन्न पुराणों पर भिन्न-भिन्न संप्रदायों का प्रभाव पड़ा हुआ स्पष्ट दीख पड़ता है। यह कहना कठिन है कि इन पुराणों से ही संप्रदाय चल पड़े अथवा संप्रदाय पहले से थे और पीछे से भिन्न-भिन्न संप्रदायों के समर्थकों ने व्यास जी की शिष्य-परम्परा से मिलित कराकर अपने संप्रदाय के अनुकूल परिवर्तन और परिवर्द्धन करा लिया। इसमें तो संदेह नहीं कि जैन एवं बौद्ध धर्मों के उत्कर्ष-काल में पुराणों की रचना हो चुकी थी; क्योंकि जैन और बौद्ध-साहित्य में पौराणिक कथाओं, नामों तथा कतिपय देवताओं का उल्लेख है। इतिहासकारों का मत है कि बौद्धधर्म के प्रभाव से वैदिक धर्म को बहुत धक्का लगा और लोग अपने धर्म की रक्षा के हेतु सावधान हो गए

तथा धार्मिक स्थिति के अनुकूल स्वधर्म की रक्षा के लिए ही इन भक्ति-प्रधान पुराणों की रचना हुई। जो भी हो, जैन और बौद्धधर्म के आक्रमणों से पुराणों ने वैदिक धर्म की खूब रक्षा की। जैन और बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान आधार हिंसक यज्ञो के विरुद्ध अहिंसा का प्रचार था। अतः पुराणो के द्वारा देश में हिंसक कर्मकाण्ड के स्थान पर भक्ति-रस का विलक्षण प्रभाव फैल गया और उसके परिणाम-स्वरूप भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना खूब बढ़ी और मूर्तियो एवं मन्दिरो के निर्माण की ओर लोग प्रवृत्त हुए। यह भी बौद्ध तथा जैन मन्दिर-निर्माण के स्पर्धा-स्वरूप ही हुआ। भिन्न-भिन्न पुराणो मे भिन्न-भिन्न देवताओ की महत्ता, पूजा-विधि आदि हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान मे सहायक सिद्ध हुई। यह निर्विवाद है कि आज भी वर्तमान हिन्दू-धर्म के मूलाधार पुराण-ग्रन्थ हैं। भक्तजनो ने विभिन्न पुराणो मे अपने-अपने इष्ट देवताओं का शोभन अलंकारो से मनमाना शृंगार किया।

अवतारवाद पुराणो का प्रधान अंग है। प्रायः सभी पुराणो मे अवतार का प्रसंग आया है। कही दस अवतारो की धारणा की पुष्टि की गई है तो कहीं चौबीस अवतारो की। जैन और बौद्ध धर्मों को अपने मे आत्मसात करने के उद्देश्य से जैनधर्म के आदि प्रवर्त्तक ऋषभदेव की गणना चौबीस अवतारो मे हुई और बुद्धदेव की नवें अवतार मे। सबसे आश्चर्य और कौतूहल की बात है कि संसार के ये ही दो धर्म हैं, जो ईश्वर की सत्ता मे विश्वास नही रखते। भारतीय परिपाटी के अनुसार आस्तिक और नास्तिक का भेद ईश्वर को मानने या न मानने पर निर्भर नही रहा है, बल्कि वेद के मानने और न मानने पर। इसी कारण सांख्य और मीमांसा की गणना नास्तिक दर्शन मे होती चली आई। किन्तु जैन और बौद्ध धर्म तो वेद की सत्ता को भी स्वीकार नही करते। फिर भी इनके प्रधान प्रवर्त्तको को अवतारो की कोटि मे स्थान देना हिन्दू-धर्म की उदारता और सहिष्णुता का द्योतक है। आज भी हिन्दू-धर्म के कट्टर नेताओ के हृदय और वाणी मे संसार के अन्य धर्मों के प्रवर्त्तको के लिए अत्यधिक सम्मान और आदर पाया जाता है।

पुराणो का प्रधान उद्देश्य यह मालूम पड़ता है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति की उपासना अथवा ब्रह्मा को छोड़कर शेष पञ्चदेवताओ की उपासना का प्रसार एवं प्रचार हो। ये पाँचो परमात्मा के सगुण रूप माने गए हैं। सृष्टि मे इनका कार्य-विभाग पृथक्-पृथक् है। ब्रह्मा की उपासना आज-

कल प्रचलित नहीं है। पुष्कर (अजमेर) को छोड़कर भारत में हमें ब्रह्मा का सर्वमान्य मन्दिर कहीं देखने को नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि गणेश ने ब्रह्मा का स्थान ले लिया है और विष्णु, शिव, सूर्य एवं शक्ति के साथ पञ्चदेव मे सम्मिलित हो गए हैं। ईश्वर-भक्ति के विविध रूपो मे नाम-कीर्त्तन की महिमा सभी पुराणो मे विशेष रूप से वर्णित है। भक्ति का प्रचार ही पुराणो का मुख्य लक्ष्य है। उपनिषदो के आदर्शो को प्राप्त करने में इस काल के मनुष्यो ने अपनी असमर्थता का अनुभव किया और इसी कारण सगुण-उपासना की प्रवृत्ति बढ़ी। तब से आजतक सगुण-भक्ति भारतीय जन-जीवन का प्रधान अग रही।

अधिकाश शिक्षित-वर्ग पुराणों में उल्लिखित घटनाओ को असंभव कहकर उन्हे कपोल-कल्पित मानते हैं। इस सबंध मे निम्नलिखित कथन सर्वथा विचारणीय है—"सब पुराणो के सभी वाक्यो को प्रमाणभूत मान लेना भी बड़ी जटिल समस्या का हेतु बन जाता है, क्योकि असंभव और अस्वाभाविक प्रतीत होनेवाले पौराणिक रहस्य अत्यन्त मनोयोग से अनुसन्धान करने पर भी कुछ समझ मे नही आते, और पुराणो के विद्वानो को भी भ्रम मे डाल देते है। तालपत्र के युग मे मुद्रण-कला का अभाव था। प्रक्षेपण या प्रतिसंस्करण का काम नैसर्गिक और अनिवार्य था। तालपत्र के किसी भी ग्रन्थ मे प्रक्षिप्त वाक्यो के कुछ नए पन्ने मिला देना और प्रतिलिपियो द्वारा देशान्तर में उसका धीरे-धीरे मूलग्रन्थ के रूप मे प्रचार करना कठिन नही थे।"[1] इसके अतिरिक्त हमें पुराण के रचना-काल का भी ध्यान रखना होगा। उस समय बौद्धधर्म का धुआँधार प्रचार हो रहा था। जनता अधिकतर अशिक्षित और अंधविश्वासी थी। उन दिनो ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता थी, जो जनता के मन पर चमत्कारपूर्ण प्रभाव डाल सके। पुराणो मे वर्णित घटनाएँ नानी की कहानी जैसी नहीं लगतीं। यदि उस समय की जनता आज की तरह तर्कशील होती तो निश्चय ही पुराणो का रूप कुछ दूसरा होता। फिर भी पुराणो के गहन अध्ययन से हमारी आध्यात्मिक शक्ति को बडा बल मिलता है और उसकी कथा, उपनिषद् की जटिल भाषा के विपरीत, बड़ी रोचक लगती है।

आज की स्थिति में पुराणो के रूप में बडा ही अन्तर आ गया है। कुछ पुराण तो पूरे मिलते ही नहीं; कुछ ने अपनी संख्या से अधिक रूप धारण कर

1. इन्दिरारमण शास्त्री : मानवधर्म-शास्त्र, पृ० ७३

लिया है। एक पुराण के विषय कहीं-कहीं दूसरे पुराणों में भी प्रविष्ट हो गए हैं। विद्वानों का अनुमान है कि संप्रदायवादियों के पारस्परिक संघर्ष के कारण दूसरों को हेय समझने के लिए पीछे से कहीं-कहीं प्रक्षिप्त अंश पुराणों में मिला दिए गए हैं।………यदि विवेकपूर्वक मनोयोग से पुराणों का अध्ययन किया जाए तो प्रक्षिप्त अंश पहचान में अवश्य आ जाते हैं।[1]

हम श्री कृष्णमणि त्रिपाठी के विचार से शत-प्रतिशत सहमत हैं कि "पुराणों में सभी देश, काल एवं संप्रदायों में प्रचलित अनेक देव-देवियों की उपासना को स्वीकार करके सभी के माहात्म्यों को सुन्दर ढंग से प्रकाशित किया गया है। पुराणों ने एक ही परमात्मा को विभिन्न संप्रदायानुसार विभिन्न नाम और रूपों में वर्णन करते हुए सारे संप्रदायों को एकत्व के सूत्र में बाँध दिया है और सभी धर्म, मत, साधन, प्रणाली और विशिष्ट तत्त्वों को अक्षुण्ण रखकर उनके आन्तरिक अभेदों को सुप्रतिष्ठित कर दिया है। पुराणों के अनुसार प्रत्येक संप्रदाय विभिन्न नाम और रूपों से एक परमात्मा की ही उपासना करके अपने जीवन को कृतार्थ कर रहे हैं।"[2]

अनेकता में एकता की लड़ी को पकड़ने में मानव की बुद्धि तभी सक्षम होती है जब उसमें सिद्धान्त-स्थापना की अपेक्षा सत्य के साक्षात्कार की व्यग्रता काम करने लगती है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि पुराणों में धार्मिक-आध्यात्मिक समन्वय का जो स्वर मुखरित हुआ है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। कहा भी है—

शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः।
उभयोरन्तरन्नास्ति यः पश्यति स मूढधी ॥

सुतरां, पुराण ही वर्तमान हिन्दू-धर्म की आधार-शिला हैं। पुराणों के प्रेम-पठन से सभी श्रेणी के मनुष्यों ने अपने जीवन को संयमशील बनाकर कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त होने का अधिकार प्राप्त किया है।



1. श्री कृष्णमणि त्रिपाठी : पुराणतत्त्व-मीमांसा : भूमिका भाग पृ० ७
2. वहीं, पृ० ७

तीसरा परिच्छेद

पाशुपत मत और प्रतीक-पूजा

पाशुपत मत के विषय में अधिक जानकारी किसी भी ग्रन्थ से उपलब्ध नहीं होती। इस मत के माननेवाले शिव को पति मानते थे और जीव को पशु। शिवजी पशुओं के पति हैं, ऐसा उनका विश्वास है। शिवजी ही उन्हें इस संसार के भयंकर बन्धनों से मुक्ति प्रदान करते हैं। जो उनकी कृपा से वंचित है, वह इस संसार के मोह से बँधा हुआ भटकता-फिरता है। पाशुपत वैदिक, तांत्रिक और मिश्रित—तीन प्रकार के होते हैं। महाभारत-कालीन शिव-पूजा पाशुपत मत के नाम से विख्यात है।

इस मत मे तप का विशेष स्थान है, अतः इसके माननेवालों में कुछएक वायु-भक्षण कर निर्वाह करते थे, अन्य केवल जल पीकर जीवन-रक्षा करते थे, कतिपय जप मे ही लीन रहते थे और कोई-कोई योगाभ्यास से भगवत-चिन्तन किया करते थे। इनके अतिरिक्त कोई केवल धूम्रपान करता था; कोई उष्णता का सेवन करता था, कोई दूध पीकर रहता था; कोई हाथों का उपयोग न करके गाय के समान खाता-पीता था, कोई पत्थर पर अन्न कूटकर जीविका चलाता था; कोई चन्द्र-किरण पीकर संतोष प्राप्त कर लेता था, कोई जल-फेन खाकर, कोई पीपल-फल को आहार बनाकर अपना-जीवन निर्वाह करता था; कोई पानी में पड़ा रहता था और कोई एक पैर पर खड़ा रहकर और हाथ ऊपर उठाकर वेद-पाठ किया करता था। इस मत के माननेवाले केवल शरीर को कठोर तप द्वारा साधकर मुक्ति प्राप्त करने मे विश्वास रखते थे। इसलिए निम्न श्रेणी के अनेक स्त्री-पुरुष इस धर्म के अनुयायी हुए। इस मत मे सभी देवों मे श्रेष्ठ पशुपति माने जाते थे; क्योंकि वही सारी सृष्टि के रचयिता, पालनकर्त्ता और संहार-कर्त्ता भी हैं।

वेदों एवं उपनिषदों मे विष्णु और रुद्र—दोनों मुख्य देवता हैं, किन्तु कठो-पनिषद्-काल मे परब्रह्म से विष्णु का तादात्म्य हुआ। बाद मे श्वेताश्वतरोप-निषद् मे वह तादात्म्य शंकर से किया गया पाया जाता है। यह बात 'एको हि रुद्रो न द्वितीय तस्थु। मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥'—इन

वचनो से स्पष्ट है। भगवद्गीता मे भी 'रुद्राणा शकरश्चास्मि' वचन है। यह निर्विवाद है कि उपनिषद्-काल के अनन्तर भारतीय काल मे शंकर की परमेश्वर के रूप मे उपासना शुरू हुई और इस स्वरूप की एकता विशेषत. वैदिक देवता रुद्र के साथ की गई। यजुर्वेद में रुद्र की विशेष स्तुति है। यजुर्वेद यज्ञ-संबंधी वेद है और यह मान्य हुआ है कि वह क्षत्रियो का विशेष वेद है। धनुर्वेद भी यजुर्वेद का उपाग है और श्वेताश्वतर-उपनिषद् कृष्ण-यजुर्वेद है। यह स्वाभाविक है कि क्षत्रियो मे और यजुर्वेद मे शकर की विशेष उपासना शुरू हुई होगी। इसके सिवाय यह भी ध्यान देने योग्य है कि "क्षत्रिय युद्धादि क्रूर कर्म किया करते थे, जिससे संभव है कि उन्हे क्रूर देवता ही अधिक प्रिय हुए हो। कुछ आश्चर्य नही कि इसी कारण शकर की भी भक्ति रूढ हो गई हो और महाभारत-काल मे तत्त्वज्ञान मे भी पाञ्चरात्र के समान पाशुपत मत प्रचलित हो गया।"[1]

दक्ष के यज्ञ मे शकर को हविर्भाग न मिलने के कारण सती और शकर को क्रोध आया। शकर ने अपने क्रोध से वीरभद्र नामक गण की उत्पत्ति की और उसके द्वारा दक्ष-यज्ञ का विध्वस करा डाला। तत्पश्चात् अग्नि से स्वय शकरजी प्रकट हुए और दक्ष ने उनकी स्तुति १०८ नामो से की। ऐसी कथा महाभारत के शान्ति-पर्व मे आई है। इस समय शकर ने दक्ष को पाशुपत व्रत बतलाया, जो गूढ और अपूर्व है। यह सभी वर्णों के लिए तथा आश्रमो के लिए खुला है। यह मोक्षदायी भी है। वर्णाश्रम-विहित धर्मों से यह कुछ मिलता भी है और कुछ नहीं भी मिलता। जो न्याय और नियम करने मे प्रवीण हैं, उन्हे यह मान्य होने योग्य है, और जो चारो आश्रमो से परे हो, उनके लिए भी लाभप्रद ही है।

इस मत में पशुपति सभी देवो मे प्रमुख है। वे ही सारी सृष्टि के उत्पन्न-कर्ता हैं। इस मत मे पशु का अर्थ है सारी सृष्टि। इनकी सगुण-भक्ति के लिए कार्तिक स्वामी, पार्वती और नन्दीदेव भी सम्मिलित किए जाते हैं और उनकी भी पूजा करने की विधि बतलाई गई है।

शंकर अष्टमूर्ति हैं। वे ये हैं—पञ्चमहाभूत, सूर्य, चन्द्र और पुरुष। अनुशासन-पर्व मे उपमन्यु के आख्यान मे पाशुपत मत का थोड़ा-सा विकास किया

1. श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य : महाभारत-मीमांसा

गया है। कहा गया है कि भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महालोक, लोकालोक, मेरुपर्वत और अन्यत्र सभी स्थानो मे शंकर ही व्याप्त हैं। यह देवता दिगम्बर, ऊर्ध्वरेता, मदन को जीतनेवाला और श्मशान मे क्रीडा करनेवाला है। इसी से विद्या और अविद्या निकली एव धर्म और अधर्म भी निकले। शकर के भग-लिंग से निर्गुण, चैतन्य और माया कैसी होती है और इनके संयोग से सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है, इसका भी अनुमान हो सकता है। महादेव सारे जगत के आदि कारण है। सारा चराचर जगत उमा और शकर के दोनो शरीरो मे व्याप्त है। (अनु०, अ० १४)

शकर के स्वरूप का उपमन्यु को ऐसा दर्शन हुआ—"शुभ्र कैलाशाकार नन्दी पर शुभ्र देह सहित देदीप्यमान महादेव बैठे हैं। उनके गले मे अनेक है। उनको अठारह भुजाएँ और तीन नेत्र है। हाथ मे पिनाक धनुष और पाशुपत अस्त्र तथा त्रिशूल हैं, त्रिशूल मे लिपटा हुआ सर्प है। एक हाथ मे परशुराम का दिया हुआ परशु है और बाईं ओर गरुड पर शंख-चक्र गदाधारी नारायण विराजते है। सामने मयूर पर हाथ मे शक्ति और घंटी लिए स्कन्द बैठे है। इस प्रकार शकर के सगुण-रूप का वर्णन यहाँ दिया गया है। शकर ने त्रिपुर-दाह किया, उसका वर्णन बराबर आता है—"हे महादेव ! तेरे सात तत्त्वो (महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ) और छह अगो को यथार्थ जानकर तथा यह जानकर कि परमात्मा का अभिन्न स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, जो तेरा ध्यान करता है, वह तुझमें प्रविष्ट होकर सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है। पाशुपत तत्त्व-ज्ञान का इससे अधिक स्पष्ट वर्णन महाभारत मे नही मिलता। इससे यही मानना पडता है कि महाभारतकार सौती ने पाञ्चरात्र (भागवत) मत के समान पाशुपत मत के संबध मे उस समय स्वतन्त्र आख्यान या ग्रन्थ के उपलब्ध न होने के कारण, महाभारत मे इससे अधिक वर्णन नही दिया।

पाशुपत शैव साधारण शैवो से भिन्न थे; क्योंकि महाभारत में ऐसा ही स्पष्ट वर्णन आया है। इन साधारण शैवो के आचार-विचार ब्राह्मण-धर्म के सर्वथा अनुकूल थे। पाशुपत शैवो का प्रादुर्भाव सभवत. उसी समय हुआ, जब वैष्णवो के पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय का। महाभारत मे इस संप्रदाय के संस्थापक के विषय में कुछ नहीं कहा गया है, परन्तु बाद मे पुराण-ग्रन्थो में यह चर्चा आई है कि एक 'लकुलिन' अथवा 'नकुलिन' ने लोगो को माहेश्वर अथवा पाशुपत योग सिखलाया था। इस लकुलिन को भगवान शिव का अवतार और श्रीकृष्ण का

समकालीन माना जाता है। लकुलिश की ऐतिहासिकता पर संदेह करने का कोई कारण नहीं है; यद्यपि उनके समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' नामक ग्रन्थ में उनको पाशुपत संप्रदाय का संस्थापक माना गया है और सन् ९७१ ई० के नागराज-मन्दिर के शिलालेख से तथा अन्य कई शिलालेखों से इसकी पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त कापाल-रूप में शिव की पूजा रक्त और नरबलि से की जाती थी। महाभारत में कापालिक वृत्ति का उल्लेख हो चुका है, परन्तु महाभारत के उल्लेखों से हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि शिव की इस रूप में पूजा करनेवालों का कोई संगठित संप्रदाय था या नहीं। अतः महाभारत के समय में हमें शैवों के केवल एक उप-संप्रदाय अर्थात् पाशुपतों का ही निश्चित रूप से पता चलता है।[1]

ईस्वी सन् की सातवीं सदी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत की यात्रा की थी और अनेक स्थलों पर उसने नाम लेकर पाशुपत सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। इस संप्रदाय के अनुयायियों की काफी संख्या मालूम होती है। ह्वेनसांग के कथनानुसार इनमें से कुछ तो भगवान शिव के मन्दिर में उपासना करते थे, कुछ मन्दिरों में निवास करते थे अथवा भ्रमण करते थे। ये संभवतः पाशुपत सन्यासी थे। पाशुपतों का मुख्य लक्षण यह था कि वे अपने शरीर पर भस्म मले रहते थे। ह्वेनसांग ने इनका नाम भस्मधारी रख दिया था। पाशुपत शैव शिवलिंग को अपने मस्तक पर धारण करते थे।

इसी काल में शैव संप्रदायों की स्थिति पर बाणभट्ट-रचित 'कादम्बरी' नामक पुस्तक भी कुछ प्रकाश डालती है। इस काव्य में पाशुपत शैवों का उल्लेख किया गया है। एक स्थान पर वर्णन है कि अमात्य शुकनास से कुछ शैव मिलने आए थे और वे उस समय रक्त वर्ण के वस्त्र धारण किए हुए थे। डॉ० यदुवंशी का विचार है कि ये रक्ताम्बरधारी शैव पाशुपतों के ही एक उप-संप्रदाय के थे।

पाशुपतों का उल्लेख साहित्य और शिलालेखों में होता रहा। इससे सिद्ध होता है कि पाशुपत लोग शैवों के प्रमुख अंग बने रहे। 'सर्वदर्शन-संग्रह' में पाशुपतों को शैवमत के दो प्रमुख संप्रदायों में से एक माना गया है और उनके दार्शनिक सिद्धान्त का दिग्दर्शन कराया गया है।

---

१. डॉ० यदुवंशी : शैवमत

पाशुपत मत के प्रादुर्भाव के संबंध में प्रसिद्ध विद्वान स्व० धर्मानन्द कोसाम्बी का कथन है—"एक ओर वाममार्ग में प्रविष्ट वज्र भिक्षु और दूसरी ओर जटिल तपस्वी, इन दोनो ने पाशुपतो का पंथ चलाया और शको के राज्य-काल में यह बराबर फैलता गया। इस पंथ ने अपना एक भिन्न पाशुपत दर्शन बनाया। उनके आचारो मे से कुछ थे, जिनकी क्रिया थी—जटा धारण करना, शरीर पर तीन बार भस्म लगाना, नग्न रहना अथवा चर्म-खण्ड धारण करना तथा लिंग-पूजा करना। इसमे संदेह नहीं कि इसी पंथ के कारण लिंग-पूजन को महत्ता प्राप्त हुई।"

ईसवी सन् की चौथी शताब्दी मे तो इस लिंग-पूजा को बहुत ही महत्त्व प्राप्त हुआ जान पड़ता है। वाकाटक वंशीय राजा तथा उनके संबंधी भारशिव-नाग राजा शैव थे। भारशिव-राजा तो अपने कन्धे पर शिवलिंग लेकर पूजा करते थे और उनका विश्वास था कि इसी के कारण उनका राजवंश स्थिर हुआ। जान पड़ता है कि गुप्त, भारशिव तथा वाकाटक राजाओ मे लिंग के प्रति बड़ा आदर था।

ऐसा होते हुए भी लिंग-पूजन का सर्वव्यापी प्रचार नही हुआ था। कम-से-कम एक-दो शताब्दी तक वह व्यक्तिगत रहा होगा। कारण कि ह्यु्एनसांग के यात्रा-वर्णन मे लिंग-पूजन का उल्लेख नही मिलता, चाहे महादेव की मूर्तियो का वर्णन जितना मिलता हो। काशी मे तो उन्होने महादेव की एक सौ फुट ऊँची तांबे की मूर्ति देखी थी। ऐसी अवस्था मे आजकल जो सारे भारत मे लिंग-पूजन दीख पड़ता है, वह सार्वजनिक कैसे हुआ? और ह्यु्एनसांग की देखी हुई मूर्तियां गई कहां?

महमूद गजनवी के समय लिंग की पूजा सर्वव्यापी हो गई थी, फिर भी महादेव की मूर्तियां वर्तमान थी। सोमनाथ-मन्दिर मे लिंग-पूजा हुआ करती थी, परन्तु दूसरे कुछ स्थलो पर महादेव की मूर्तियो की भी पूजा होती रही होगी। ये मूर्तियां कैसे बनाई जाती थीं, इसका विस्तृत वर्णन अलबेरुनी ने बृहत्संहिता के पर आधार किया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि मुस्लिम आक्रमणों के बाद महादेव की मूर्तियां बनाने की प्रथा बंद हुई होगी। मूर्तियां पत्थर की होने पर वे लोग उन्हें छिन्न-भिन्न कर डालते थे। ऐसे समय लिंग-पूजा सुविधा-जनक सिद्ध हुई। यदि मुसलमान लिंग को तोड़ भी डालते तो उसे फिर बना लेने में अधिक व्यय या परिश्रम नहीं करना पड़ता था।

'दक्षिण में एक नए शैव संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जो आगे चलकर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। यह था लिगायत अथवा वीरशैव संप्रदाय। इस संप्रदाय का जन्म कब और कैसे हुआ और इसका सस्थापक कौन था, यह अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। इस सप्रदायवाले बराबर अपने पास शिवलिंग रखते और कभी उससे अलग नही होते थे। वे लडकियों का उपनयन-संस्कार लड़को के ही सदृश करते थे और यज्ञोपवीत के स्थान पर उपनयन का चिह्न 'शिवलिंग' को बनाया करते थे, जिसे वे अपने शरीर पर धारण करते थे। इसी कारण वे लिगायत कहलाते थे। उनका मूलमत्र था 'ओम् नमो शिवाय'।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लिंग-पूजा, जो पूर्व वैदिक काल से भारत के कुछ आदिनिवासियो मे प्रचलित थी, महाभारत-काल मे पाशुपत सप्रदाय के रूप मे मूर्ति-पूजा के साथ-साथ मान्य हो गई और दसवी शताब्दी तक उत्तरोत्तर विकसित होती गई। पाशुपत सप्रदाय मे शकर की मूर्ति और लिंग की पूजा साथ-साथ समान रूप से प्रचलित रही।



चौथा परिच्छेद

पाञ्चरात्र (भागवत) मत और प्रतीक-पूजा

ईश्वर की साकार या सगुण उपासना करने की परिपाटी शिव और विष्णु की उपासना से ही प्रचलित हुई दीखती है। महाभारत-काल में ही यह बात मान्य हो गई थी कि सभी वैदिक देवताओं में शिव और विष्णु श्रेष्ठ हैं। वैष्णवों में विष्णु और उनके अवतारों की पूजा बढ़ती गई और महाभारत में उसे 'पाञ्चरात्र' नाम मिला। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान से जान पड़ता है कि महाभारत के समय में भगवद्भक्ति करनेवाले भागवत कहलाते थे। इस सम्प्रदाय में विष्णु को परमेश्वर मानकर भक्ति की जाती थी। पाञ्चरात्र तथा भागवत एक ही संप्रदाय के पर्यायवाची नाम हैं। इसका आधार नारायण-आख्यान है। इस मत के मूलाधार नारायण हैं। सनातन विश्वात्मा नारायण से नर, नारायण, हरि और कृष्ण—चार मूर्तियाँ उत्पन्न हुईं। नर तथा नारायण नामक ऋषियों ने बदरिकाश्रम में तप किया। नारद ने जाकर उनसे प्रश्न किया, जिसके उत्तर में उन्होंने पाञ्चरात्र धर्म सुनाया। पाञ्चरात्र मत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों का विवेचन है। चित्र-शिखण्डी नामक ऋषियों ने वेदों का निष्कर्ष निकालकर पाञ्चरात्र नामक शास्त्र तैयार किया। इसमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति नामक दोनों मार्ग हैं। शान्ति-पर्व के नारायणीय आख्यान में पाञ्चरात्र धर्म का विवरण दिया गया है। इस मत में अहिंसा धर्म की प्रधानता थी और साथ-ही-साथ यह वेदों और यज्ञों में भी विश्वास रखता और उन्हें मानता था। नारायण ने नारद से कहा कि जो नित्य, अजन्मा और शाश्वत है, जो चौबीसों तत्त्वों से परे है और पच्चीसवाँ पुरुष कहलाता है, उसे सनातन पुरुष वासुदेव कहते हैं, वही सर्वव्यापी है; प्रलयकाल में उसके सिवाय कुछ भी नहीं रहता; पञ्चमहाभूतों का जो शरीर बनता है, उसमें अदृश्य वासुदेव सूक्ष्म रूप से प्रवेश करते हैं, यही देहवर्ती जीव होने पर 'शेष' तथा 'संकर्षण' कहलाते हैं। राजा वसु उपरिचर का अहिंसामय यज्ञ का विधान इस बात का स्पष्ट दृष्टान्त है।[1]

---

1. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ५२३–३७

पाञ्चरात्र में वेद का पूरा माहात्म्य दिया हुआ है। साथ-ही-साथ वैदिक यज्ञ-क्रियाएँ भी उसी तरह मान्य की गई हैं; किन्तु यज्ञ का स्वरूप अहिंसा-युक्त वैष्णव-यज्ञ है। पाञ्चरात्र ग्रन्थों में वर्णित है कि श्राद्ध-क्रिया भी यज्ञ के समान नारायण से निकली है। महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्याय ३४५) में स्पष्टतया निरूपित है कि श्राद्ध में तीन पिण्ड दिए जाते हैं और वे वही हैं, जिन्हें पहले नारायण ने अपने वराह-अवतार में अपने दाँतो में लगी हुई मिट्टी के पिण्ड से निकालकर अपने-आप को पितर-रूप समझकर दिए थे। इसका तात्पर्य यह है कि विष्णु ही पितर हैं और पितरों को दिए हुए पिण्ड विष्णु को ही मिलते हैं। सक्षेप मे, पाञ्चरात्र का यही सिद्धान्त है।

भक्ति-मार्ग बहुत पुराना तो है, परन्तु पाञ्चरात्र-मार्ग से कुछ भिन्न और कुछ प्राचीन है। पाञ्चरात्र-तत्त्वज्ञान रहस्यमय है। महाभारत के नारायणीय आख्यान से हमे स्पष्ट पता चलता है कि विष्णु और श्रीकृष्ण परमेश्वर के सदृश माने जाने लगे थे और उनको माननेवाले उनके प्रति अगाध श्रद्धा एव भक्ति प्रदर्शित करते थे और ये भगवद्भक्ति करनेवाले भागवत कहलाते थे और इनका एक सामान्य वर्ग था। जनसाधारण के प्रति श्रीकृष्ण को अगाध प्रेम था और उनके हित के लिए उन्होंने अलौकिक और अद्भुत कार्य किए, जिससे सामान्य जन की कौन कहे, बडे-बडे शक्तिशाली राजा और शूर-वीर उनकी प्रतिभा से मात खाकर सर्वदा के लिए उनके शरणागत हो गए। अन्त मे छोटे-बडे सभी श्रीकृष्ण के भक्त हो गए। उस भक्ति मे निर्मल प्रेम था और जो उनके अनन्य भक्त हुए, उनका उन्होंने उद्धार किया। धीरे-धीरे जनसाधारण के हृदय पर श्रीकृष्ण एकच्छत्र राज्य करने लगे और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म ही पाञ्चरात्र अथवा भागवत धर्म कहलाया और यह भक्ति-विधान प्रसिद्ध हुआ।

भागवत-धर्म पाञ्चरात्र, ऐकान्तिक, नारायणीय, वासुदेव, वैष्णव, सात्वत आदि कई नामों से अभिहित किया जाता था। महाभारत के अध्याय ३४८ का निम्नलिखित श्लोक इस धारणा पर प्रकाश डालता है—

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ।।८१।।
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते ।
एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः ।।८२।।

अर्थात् इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का विवेक करानेवाला सांख्य, चित्त-वृत्तियों के निरोध का उपदेश देनेवाला योग, जीव और ब्रह्म के अभेद का बोध करानेवाला वेदों का आरण्यक भाग (उपनिषद्) तथा भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन करानेवाला पाञ्चरात्र-आगम—ये सब शास्त्र ही एक लक्ष्य के साधक होने के कारण एक बताए गए हैं। ये सब एक-दूसरे के अंग हैं। सारे कर्मों को भगवान नारायण के चरणारविन्द में समर्पित कर देना यह ऐकान्तिक भक्तों का धर्म है।

तैत्तिरीय आरण्यक के दशम प्रपाठ के अनुसार सबमें बसने और सबको अपने में बसानेवाले वासुदेव नाम से प्रसिद्ध परमात्मा ही भगवत् (भगवान) कहे जाते हैं। उनकी भक्ति करनेवाले भागवत कहे जाते हैं। किन्तु बाणभट्ट के 'हर्षचरित' से ज्ञात होता है कि भागवत और पाञ्चरात्र संप्रदायों में भेद था। वे दो पृथक् सम्प्रदाय समझे जाते थे। भागवत-धर्म का कई रूपों में विकास हुआ। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' के आधार पर डॉ० मुंशीराम शर्मा का विचार है कि "वैखानस मतानुयायी विष्णु और उनके चार सहयोगियों—अच्युत, सत्य, पुरुष और अनिरुद्ध—की उपासना करते थे। सात्वत लोग विष्णु की नारायण के रूप में उपासना करते थे। नृसिंह और वराह के रूप में महाविष्णु की मूर्ति की कल्पना उनकी विशेषता थी।" नृसिंह, वराह और विष्णु की कितनी ही गुप्तकालीन मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। ये सात्वतों के सिद्धान्त से अनुप्राणित जान पड़ती हैं। इन दोनों से प्राचीन मूल पाञ्चरात्र सिद्धान्त था। इसी आगम के अनुयायी पाञ्चरात्र या पाञ्चरात्रिक कहलाते थे। वे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में चतुर्व्यूह को मानते थे। इनमें भी जो केवल वासुदेव की आराधना करते थे, वे ऐकान्तिक कहलाते थे। नारद-पाञ्चरात्र के अनुसार ऐकान्तिकों के दो भेद थे—(१) शुद्ध, जो केवल वासुदेव को ही ईश्वर मानकर उनकी पूजा करते थे और (२) मिश्र, जो विष्णु के अतिरिक्त और भी विष्णु-अवतारी देवताओं (जैसे शिव, रुद्र, ब्रह्मा, पार्वती, सरस्वती, ब्रह्माणी, रुद्राणी आदि) को मानते थे। धीरे-धीरे सभी संप्रदाय एक में मिल गए। बाण के समय में पाञ्चरात्र और भागवत में दो मोटे भेद रह गए थे। आगे चलकर ये सब केवल 'भागवत' नाम से पुकारे जाने लगे और इनके पारस्परिक सूक्ष्म भेद भी लुप्त हो गए। जैसा कि पहले अध्याय में विवेचन किया जा चुका है, वेद में प्रतिमा-पूजा का

विधान नहीं है। अतः बहुत दिनों तक वैदिकों और भागवतों में प्रतिकूलता रही। कूर्मपुराण मे स्पष्ट है—

वा वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽपि शंकर ।

सञ्जच्छते महादेव पुण्यो वेदादि निर्यमी ॥ १४।११५ ॥

कूर्मपुराण में पाञ्चरात्रों को वेदबाह्य तथा पुण्यबाह्य कहा गया है। पराशर-पुराण, वसिष्ठ-संहिता, सूत-संहिता, अश्वलायन-स्मृति आदि भी पाञ्चरात्रों को अवैदिक मानते हैं। इनके विपरीत महाभारत, भागवत, विष्णु-पुराण आदि पाञ्चरात्रों का समर्थन करते हैं। महाभारत (शान्ति-पर्व, अध्याय ३३९) से ज्ञात होता है कि नारायण ने नारद को जो तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया है, उसमें पाञ्चरात्र के विशिष्ट मत आए हैं। भगवान ने कहा है कि "जो नित्य, अजन्मा और शाश्वत है, जिसे त्रिगुणों का स्पर्श नही, जो आत्मा प्राणि-मात्र में साक्षी-रूप से रहता है, जो चौबीस तत्त्वों से परे पच्चीसवाँ पुरुष है, जो निष्क्रिय होकर ज्ञान से ही जाना जा सकता है, उस सनातन परमेश्वर को वासुदेव कहते हैं। वही सर्वव्यापक है। प्रलयकाल मे पृथ्वी जल मे लीन होती है, जल अग्नि मे, अग्नि (तेज) वायु मे, वायु आकाश मे और आकाश अव्यक्त प्रकृति मे और अव्यक्त प्रकृति पुरुष मे लीन होती है। फिर उस वासुदेव के सिवाय कुछ भी नही रहता। पञ्चमहाभूतों का शरीर बनता है और उसमे अदृश्य वासुदेव सूक्ष्म रूप से तुरत प्रवेश करता है। यह देहवर्ती जीव महा-समर्थ है और शेष संकर्षण उसके नाम हैं। इस संकर्षण से जो मन उत्पन्न होकर सनत्कुमारत्व यानी जीवन-मुक्तता पा सकता है और प्रलयकाल मे जिसमे सभी भूतों का लय होता है, उस मन को प्रद्युम्न कहते हैं। इस मन से कर्त्ता, कारण और कार्य की उत्पत्ति है तथा इससे चराचर जगत का निर्माण होता है, इस-लिए इसे अनिरुद्ध कहते हैं। इसी को ईशान भी कहते हैं। सर्वकर्मों में व्यक्त होनेवाला अहंकार यही है। निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान वासुदेव-जीव-रूप में अवतार लेता है, वह संकर्षण है। संकर्षण से जो मन-रूप मे अवतार लेता है, वह प्रद्युम्न है और प्रद्युम्न से जो उत्पन्न होता है, वही अनिरुद्ध है और वही अहंकार और ईश्वर है।

पाञ्चरात्र मत का यही सबसे विशिष्ट सिद्धान्त है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का श्रीकृष्ण के चरित्र से अति घनिष्ठ संबंध है।

इसलिए श्रीकृष्ण के भक्तों मे उनके लिए पूज्य-भक्ति का होना स्वाभाविक ही है। इसी कारण पाञ्चरात्र मत मे उन नामो का समावेश हुआ होगा।

"वासुदेव की सरल व्याख्या वसुदेव का पुत्र वासुदेव है। परन्तु पाञ्चरात्र मत मे उसकी व्याख्या और ही हुई है। ऐसी ही व्याख्या सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की भी निकाल सकना सभव है। महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्या० २८०) मे उल्लेख है कि श्रीकृष्ण ने मूर्त स्वरूप लिया तथापि वह उपाधि-वर्गों से विरुद्ध था, बद्ध नही था। इसी से इसे अनिरुद्ध कहते हैं। सहज ही इसी अर्थ में यानी जीव, मन और अहंकार के अर्थ मे शब्द माने गए हैं। चतुर्व्यूह की यह कल्पना वेदान्त, साख्य या योग के मतो से भिन्न है और पाञ्चरात्र मत की स्वतंत्र है।"[1]

सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध से अपना तादात्म्य दिखाते हुए महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्या० ३३९) मे नारायण नारद से कहते हैं—"जिसका जन्म निकक्त से होता है, वह हिरण्यगर्भ है। जगज्जनक, चतुर्मुख ब्रह्मदेव मेरी आज्ञा से सब काम करता है और मेरे ही कोप से रुद्र हुआ है। पहले जब मैंने ब्रह्मदेव को पैदा किया तब उसे ऐसा वर दिया कि जब तू सृष्टि उत्पन्न करेगा, तब मुझे पर्यायवाची अहंकार नाम मिलेगा और जो कोई वर-प्राप्ति के लिए तपश्चर्या करेंगे, उन्हें तुमसे ही वर-प्राप्ति होगी। देवकार्य के लिए मैं हमेशा अवतार लूँगा, तब तू मुझे पिता के तुल्य आज्ञा कर। मैं ही सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का अवतार लेता हूँ और अनिरुद्ध के नाभि-कमल से ब्रह्मदेव का अवतार होता है।"

वैदिको की धारणा भागवत-धर्म के संबंध में अनुकूल नहीं रही है। इसमें मूर्ति-पूजा, उससे संबधित नाना प्रकार के विधि-विधान, वैदिक विधान के विपरीत समझे जाते रहे हैं। विक्रम संवत् के आरम्भ से पाँच सौ वर्ष पूर्व अर्थात् पाणिनि के समय में भी इसका प्रचार था। पाणिनि के ग्रन्थ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनके समय मे वासुदेव, सकर्षण, महाराज (कुबेर), विष्णु, शिव आदि की मूर्तियाँ बनती थी और मंदिरों का भी निर्माण होता था। इसका कारण यह था कि वैदिक धर्म ज्ञान, कर्म और भक्ति की पावन त्रिवेणी है।

1. महाभारत-मीमांसा : श्री चि० वि० वैद्य

यह ज्ञान, यज्ञ, योग, तप, व्रत, उपासना सभी साधनों के द्वारा मानव के सर्वांगीण विकास का पथ प्रशस्त करता है। भागवत धर्म इसके विपरीत नारायण, वासुदेव, हरि अथवा कृष्ण नाम के भगवान में एकान्त निष्ठा रखने और सर्वतोभावेन तत्परायण बनने की आज्ञा देता है। उसने भक्ति को प्रमुखता दी है। इस आधार पर कुछ विद्वान भागवत धर्म को वेद का प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं।

जैन तथा बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तकों ने हिंसापूर्ण यज्ञों के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया उत्पन्न की और वे यज्ञ के साथ वेद तथा सृष्टि-रचयिता ईश्वर से भी दूर हो गए। भागवतों ने इन दोनों का साथ नहीं छोड़ा। अहिंसा को अपनाने तथा हिंसापूर्ण यज्ञ के विरोध के कारण प्रारम्भ में उनकी नोक-झोंक वैदिकों से भले ही चलती रही हो, परन्तु बाद में समझौता करके उन्होंने वैदिकों के साथ मेल-जोल रखा। भागवत-धर्म के समर्थक मान्य ग्रन्थों में वेद की प्रशंसा भरी-पड़ी है। भागवत-धर्म ने जैन-बौद्धों की अहिंसा के साथ समस्त वर्णों की अभेदता को अपनाया। इसने शूद्र, वैश्य, स्त्री आदि उन समस्त वर्गों को आश्वासन दिया, जिन्हें वैदिक धर्म के अधिष्ठाता ब्राह्मण-धर्म ने यज्ञादि कर्मों के अधिकार से वंचित कर दिया था। भागवत-धर्म की अपनी विशेषता थी, जिसे सबके लिए विहित घोषित करके इसने जनता के हृदय में स्थान पा लिया। जन-ग्राह्य होने के कारण तथा जनमत को स्वीकार करने के कारण इसे लोकधर्म या लोक-तन्त्र कहा गया है। भागवत-धर्म का आस्तिकवाद अपनी आन्तरिक रूपरेखा में विशुद्ध वैदिक आस्तिकवाद है और ईश्वर को सृष्टि-रचयिता के रूप में स्वीकार करता है। भारतवर्ष में भागवत-धर्म के व्यापक प्रचार का यही कारण है। बौद्धधर्म के अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाने के साथ-साथ मंदिर में भगवान के अवतार के रूप में बुद्ध की मूर्ति की स्थापना कर पूजा करने के फलस्वरूप कालान्तर में भागवत-धर्म बौद्धधर्म को आत्मसात करने में समर्थ हुआ।

अपने समन्वयवादी व्यवहार के परिणाम-स्वरूप अनेक सम्प्रदायों को अपने साथ ले चलने का श्रेय पाञ्चरात्र सम्प्रदाय को ही प्राप्त है। पाञ्चरात्र के अनुयायी वैष्णवों ने अपनी इसी उदार भावना के कारण वेद-बाह्य, देशी विदेशी सभी व्यक्तियों को अपने अंक में आश्रय दिया। वैष्णव-सम्प्रदाय की यह नीति परवर्ती युगों में भी दिखाई देती है। मुसलमान-काल में चैतन्य महाप्रभु ने यवन हरिदास को अपना अभिन्न साथी बनाया और रहीम, रसखान सदृश

अनेक मुसलमान अपने को वैष्णव कहने लगे। आचार्य रामानन्द ने तो वैष्णव धर्म के मार्ग को प्रशस्त कर दिया और आचार्य वल्लभ ने तो अपने अनुयायियों के लिए जातिगत विभेद-भावना को प्रश्रय नही दिया।

जैसा हम पहले लिख चुके हैं, पाञ्चरात्र-साहित्य मेरुगिरि-निवासी चित्र शिखण्डी नामक सात ऋषियों द्वारा निर्मित माना जाता है। इन सात ऋषियों मे मरीचि का नाम सर्वप्रथम आता है। इसी मरीचि ऋषि ने वैखानस-आगम की रचना की। अत इन दोनों आगमो में काफी समता है। दोनो आगम नारायण को परम देवता मानते हैं। मन्दिर-निर्माण और प्रतिमा-पूजन की पद्धतियाँ भी दोनो मे लगभग एक ही प्रकार की है। किन्तु एक विशेषता वैखानस-आगम की यह है कि वह वैदिको से अधिक मेल खाता है। इसने वैदिक और पाञ्चरात्र पूजा-विधि का समन्वय किया है। इसके अनुसार भक्त को चाहिए कि वह अग्नि मे नित्य होम करने के बाद घर मे या मन्दिर मे भक्तिपूर्वक नारायण विष्णु भगवान की नित्य अर्चना या आराधना करे। यह आराधना दो प्रकार की है—अमूर्त और मूर्त। अग्नि मे जो हवन किया जाता है, वह अमूर्त है, वैदिक है। प्रतिमा का अर्चन करना मूर्त आराधना है। इस प्रकार यह वैखानस तपस्वी गृहस्थो का सम्प्रदाय कहा जा सकता है, जिसने वेद-मर्यादा को भग नही होने दिया।

अत पाञ्चरात्र और वैखानस मत के संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट है कि इन मतों की एक प्रमुख विशेषता मन्दिर-निर्माण और देव-विग्रह की पूजा-पद्धति है, जिसे सामान्यतया मूर्ति पूजा कहा जा सकता है। मूर्ति पूजा विदेशी नहीं, इसी देश के मस्तिष्क की उपज है।

पाँचवाँ परिच्छेद

शाक्तमत और प्रतीक-पूजा

भारतीय धर्म-चर्चा मे ब्रह्मा, विष्णु और महेश सर्वोच्च देवताओ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वस्तुत ये त्रिदेव ब्रह्म के त्रिगुणात्मक रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रह्मा सृजनमूलक रूप के प्रतीक हैं। वे देश और काल के अन्तर्गत होने-वाली चिरन्तन सृजन-प्रक्रिया के व्यञ्जन हैं। विष्णु संपोषण के अधिष्ठाता देवता हैं तथा शिव द्वारा विघटन और संपोषण की क्रियाएँ होती रहती हैं; और सृजन-प्रक्रिया के द्वारा इन आत्यन्तिक विरोधी प्रवृत्तियो में समन्वय की स्थापना की जाती है। संपोषण और विघटन के पारस्परिक तनाव के फल-स्वरूप एक विद्युतीय ऊर्जा का स्फुरण होता है। यही ऊर्जा शक्ति है। इसे ही जगदम्बा, जगद्धात्री, जगन्माता तथा अन्य नामो से पुकारा जाता है।

शक्ति ब्रह्म का ही प्रकाशित रूप है। निर्गुण और निर्विकार ब्रह्म शक्ति के रूप में अपने को प्रकाशित करता है। इसी शक्ति को ब्रह्ममयी भी कहा गया है। शक्ति ही सृष्टि का मूल तत्त्व है। जब शक्ति की निर्बाध धारा निर्गुण और निर्विकार ब्रह्म को आवृत करती हुई उद्दाम गति से प्रवाहित होती है, तभी संसार में सृजन, पोषण और संहार की क्रियाओ का समापन होता है। शक्ति की धारणा यह बताती है कि क्रिया-रहित ज्ञान मृत ज्ञान है। महामाया से ही समस्त सृष्टि-व्यापार का उदय हुआ है और वे ही ब्रह्माण्ड का आदिभूत कारण हैं। महाशक्ति ब्रह्मा, विष्णु और शिव की विशिष्ट शक्तियो के रूप मे क्रीड़ा करती हैं। वे महामाया हैं; क्योकि वे ब्रह्म-रूप शिव को अपने आवरणो मे छिपाए हुए हैं। महानिद्रा-मग्न शिव शक्ति से युक्त होने पर ही सक्रिय होते हैं।

शिव चिरन्तन रूप मे निष्क्रिय होते हैं। चरम निष्क्रियता ही शिव का मूलभूत स्वभाव है। इसलिए वामाचार-सूत्रों मे शक्ति-रूपा नारी को शिव-रूप पर रमण करते हुए प्रदर्शित किया गया है। शिवा शिव-रूप शव पर नृत्य करती और मुक्ति प्रदान करती हैं।

ईश्वर को माता या नारी के रूप में कल्पित करने की धारणा वेदों मे नहीं मिलती। किन्तु प्रागैतिहासिक तथा आदिम जातियो के धर्मों मे ईश्वर की

कल्पना मातृ-रूप में की गई है। पुराण-युग शक्ति की धारणा के बहुमुखी विकास का युग है। इसी युग में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की विशिष्ट शक्तियों के रूप का वर्णन आरम्भ होता है। विष्णु की शक्ति के रूप मे वे जगद्धात्री के रूप मे लीला करती हैं। शिव के साथ वे ज्ञान की शक्ति के रूप में संयुक्त हैं। देवीभागवत-पुराण मे देवी के दो रूपों का आख्यान किया गया है। ऋषि 'देवी' के निर्गुण और सगुण रूपो की चर्चा करते हैं। सगुण के भी दो भेद हैं—(१) निराकार और (२) साकार। ऋषि बताते हैं कि आसक्त जनों को देवी के सगुण-साकार स्वरूप की भक्ति करनी चाहिए और अनासक्त लोगो को उनके निर्गुण-निराकार रूप की उपासना करनी चाहिए।

भारतीय चिन्तनधारा वैदिक एव पौराणिक सप्रदायो (मत-धर्म) मे नाम-भेद के अतिरिक्त एक-से ही रग मे प्रवाहित होते दृष्टिगोचर होती है। तथ्य यह है कि शक्ति का जहाँ प्राधान्य उभर पाया, वहाँ शाक्त धर्म या शाक्त शास्त्र प्रकाश मे आ गया है और जहाँ समाज मे शिव या विष्णु को प्रधानता दी गई, वहाँ शैव अथवा वैष्णव मत प्रचलित हो गया। यदि नाम-भेद के चक्कर में न पड़ा जाय तो मूल मे सभी देव रूपो और धर्मशास्त्रो का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य एकमेव दिखाई देता है। कहा भी है—

एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य भिन्ना चतुर्धा व्यवहारकाले।
पुरुषेषु विष्णुर्भोगे भवानी समरे च दुर्गा प्रलये च काली॥

मातेश्वरी शक्ति परमेश्वर की उन प्रधान शक्तियो में से एक है, जिसका रूप आवश्यकतानुसार समय-समय पर विभिन्न रूपो मे प्रकट होता रहा है। वही पुरुषो मे पुरुषोत्तम विष्णु हैं, भोग मे भवानी, युद्ध मे दुर्गा और प्रलय में रूपकाली हैं।

ऋग्वेद (मण्डल १०, अध्याय १०, सूक्त १२५।१) मे भगवती कहती हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नि अहमश्विनोभा॥

अर्थात् मैं वाग्देवी रुद्रगण और वसुगण के साथ विचरण करती हूँ। मैं आदित्यगण तथा अन्य देवताओ के साथ निवास करती हूँ। मैं मित्रावरुण को धारण करनेवाली और इन्द्र, अग्नि, अश्विद्वय का आश्रय करनेवाली हूँ।

ऋग्वेद मे सरस्वती को वाक्-शक्ति एव लक्ष्मी को सौभाग्य देवी एवं पूजनीय माना गया है।

उपासना के लिए ईश्वर को एक निश्चित रूप और भाव से देखना आवश्यक है, परन्तु इतने से ही उपासना पूरी नही हो जाती, वरन् भाव स्थिर करने करने पर ही उपासना का आरम्भ होता है। उसकी समाप्ति तो तब होती है जब भाव की परिपक्वता मे वह सबथ प्रत्यक्ष हो जाता है और उपास्य और उपासक के बीच मे जो माया का आवरण है, वह दूर हो जाता है।

उपासक को तो ईश्वर को अपने भावनानुकूल सांचे मे ढालना ही पड़ता है, उसे स्वय भी नवीन आदर्श मे ढलकर चौबीस घटे व्यवहार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ स्वामी-भाव को लीजिए। ईश्वर जब स्वामी हुआ तब उपासक को सेवक बनना पड़ेगा। आदर्श सेवको मे हनुमान, भरत, लक्ष्मण आदि के नाम गिनाए जाते हैं। उपासक को बराबर यह ध्यान रखने की जरूरत है कि उसका जीवन अपने लिए नही, स्त्री, पुत्र, धन, जन, शरीर—कुछ भी उसके लिए नही है। सक्षेप मे उसे सभी सासारिक मोह-ममताओ से विगत होना पडता है। इसके बिना दास का भाव सिद्ध नही हो सकता। ऐसा यह भव्य, किन्तु दुर्गम-दुरूह सेवा-मार्ग है।

उपासना के लिए ईश्वर को पिता के रूप मे देखने मे अधिक तरलता और कोमलता है। किन्तु, यहाँ भी कर्त्तव्य-भार बडा ही दुर्वह है। पुत्र मे सेवक को कर्त्तव्यपरायणता तो होनी ही चाहिए, साथ साथ उसमे प्रेम का विशेष पुट भी होना चाहिए।

ईश्वर को सखा समझना क्षुद्र मनुष्य के लिए बडा ही दुस्तर है। यदि हृदय पूर्णरूपेण उसे नही दिया जा सके तो सखा-भाव होगा ही नही।

और मधुरभाव ? एक किशोरी के शैशव का पवित्र हृदय नवीन स्फुरण से धड़कता हुआ जिस प्रकार एक योग्य पात्र को पाकर उसको चिरकाल के लिए वरण करता है और वह अपना रस-रिस, सुख-दुःख, मान-अपमान सब उसके हाथो मे सौप देती है, उसी प्रकार भगवान को अपना सर्वस्व, जीवनधन तथा प्रियतम जान और मानकर उसके साथ लगन लगा लेना जिन भावुक भक्त शिरोमणियो के लिए सभव हो वे इस पंथ पर पैर रख सकते हैं, दूसरे नहीं। पहले दर्जे की

दयासक्ति, प्रियतम (भगवान) के चरणो में निवेदन और आत्मविस्मृति में ही यह भाव पैदा होता है और इसी में परिपूर्णता पाता है।

परन्तु संसार मे एक ऐसा भी सबध है, जो किसी प्रकार का जोडना-तोडना, जानना-मानना नही जानता। वह स्वतः प्रमाण है। वह है माता और संतान का सबध। यह सबध इस बात की अपेक्षा नहीं रखता कि सतान अपनी माता को जाने और माने। किस शिशु को इस बात का ज्ञान रहता है कि माता-जैसी कोई वस्तु है। माता क्या इस बात की राह देखती है कि बच्चा मुझे माता समझे और माँ-माँ कहकर सबोधन करे तो मैं उसे स्तन-पान कराऊँ? मातृ सबध के आगे ससार के सभी सबध गौण हैं; उनमे कृत्रिमता है। मातृभाव मे बढकर सहज, सुलभ एव मौलिक दूसरा भाव मानव-हृदय मे असभव है।

माता के रूप मे उपासना करनेवाले उपासक का जगज्जननी, माता की तरह सब प्रकार से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओ का नित्य योग-क्षेम करती रहती है। ससार-सागर मे पडा उसका पुत्र जिस समय अज्ञान और मोह के वशीभूत होकर हिताहित नही जान पाता और मृगतृष्णा के पीछे दौडने मे ही अपना पुरुषार्थ मानता है, जिस समय विषय-वारुणी पीकर वह उन्मत्त होकर वेद-पुराण, आगम-निगम, ऋषि-देवता किसी की ओर आँख उठाकर देखना नही चाहता और केवल क्षणिक सुख-चैन के लिए व्यग्र हो मारा-मारा फिरता है, उस समय उसके हृदय मे धीरे धीरे मोक्ष, परम शान्ति एव ऐकान्तिक सुख की खोज का बीज वह बो देती है और उसे सोते-जागते, रोते-हँसते, खाते-खेलते—सभी समयो मे धीरे-धीरे, किन्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध भी, परम कल्याण-पथ पर ऊँगली पकड-पकडकर चलाने का अभ्यास करा देती है। इस अज्ञानावस्था मे भी वह माता है और हम उनकी सतान है, वह स्वय इस सबध का ज्ञान करा देती हैं। हम उनकी सतान हैं और वह हमारी माता हैं, इस ज्ञान के हो जाने पर इस संबंध मे, उसके व्यवहार में कोई भेद नहीं होता, भेद होता है हमारे लिए। हमारी माँ हमारे पास खडी स्वयं हमको परम पद पर ले जाने को तैयार है—इस ज्ञान से एक अपूर्व आनन्द, अत्यन्त निर्भरता एव अनुपम प्रेम-प्रवाह का संचार भक्त के मन मे होने लगता है। ससार-सागर मे नाना विषय जब उसे पीड़ित करते हैं, तब वह रो उठता

है, किन्तु अब वह माता की ओर आँखें उठाकर रोता है और करुणामयी जगद्धात्री माता तत्काल उसे गोद मे ले उसको सान्त्वना देकर शान्त कर देती हैं। भक्ति की आत्म-निवेदनवाली अन्तिम दशा यहाँ आप-ही-आप उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि यहाँ तो यह भाव है—

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथा।
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनम्
परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेशहरणम्।

सृष्टि की उत्पत्ति-पालन-विनाश-कर्त्री शक्ति की मातृरूप मे कल्पना मानव-हृदय की भावुकता एव उसके मस्तिष्क की भावना का सबसे सुन्दर और मधुर नमूना है, इसमे संदेह नही। जिसके गर्भ से हम पैदा होते हैं, जिसके दिए हुए अमृत-रस का आस्वादन कर आनन्द और जीवन-लाभ करते है और चौबीसो घटे जिसकी गोद मे क्रीडा करते हैं, कभी उतरने का नाम नही लेते, उसको 'माँ' कहकर पुकारने से बढ़कर और क्या सहज एवं मर्मस्पर्शी हो सकता है। वह आदिशक्ति माता है और हम उसके बच्चे हैं। वह जगज्जननी है, जगन्मयी है, जगदानन्दकारिणी हैं। शाक्त इसी भाव का, इसी रूप का, इसी रग का भूखा है और यह शाक्त धर्म की विशेषता और असाधारणता है।

"हमारी समस्त शक्ति माँ का आत्म-प्रकाश है। अपनी शक्ति के पृथक् अस्तित्व को भूलकर माँ के निकट पूर्ण आत्म-निवेदन कर, हमे अपने पृथक् अस्तित्व का लोप कर देना होगा। माँ शरणागत संतान के समस्त अभाव को दूर कर, उसके भीतर अपनी शक्ति का सचार कर अर्थात् संतान को सपूर्णतया मातृमय कर पुरुषोत्तम की पूजा करने की योग्यता प्रदान करती है। साधक यहाँ पर तत्त्व का आस्वादन करने मे समर्थ होता है।

शक्ति-तत्त्व परमात्म-भाव का, सगुण ब्रह्म का द्योतक है। परमात्मा किस प्रकार शून्य तत्त्व भेदकर जीव को पूर्णता-लाभ कराने मे सहायक होते हैं, वे किस प्रकार सब प्रयोजन सिद्ध कर जीव को पूर्णता दान करने मे व्यस्त हैं, शाक्त तत्त्व द्वारा, मातृभाव द्वारा साधक को इस रहस्य का आस्वादन करने का सुयोग मिलता है।"[1] साधक की कामना रहती है—

1. पूजातत्त्व म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज

प्रष्टुमिच्छामि ते रूपं वेद्मि यं विश्वतोमुखम् ।
कर्तु मिच्छामि ते प्रियं भूतानां हितकारकम् ॥

अतः "व्यापकता, प्रभाव एवं सुगमता के कारण देवों की अपेक्षा शक्ति की उपासना लोक में विशेष फलवती मानी गई है। शक्तिमान देव भी स्व-स्व शक्ति से सचालित तथा सामर्थ्य-युक्त होते हैं। अंकुर में बीज, अग्नि में ज्वाला, तरलत्व में जल, आकाश में अवकाश, धृति, कीर्ति, बुद्धि, श्री, स्मृति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा, क्षमा, कान्ति, ह्री, वाक्—सभी नारियाँ हैं तथा प्रकारान्तर से चराचर में सर्वत्र शक्ति व्याप्त है। उस शक्ति को जानकर उसकी उपासना से उसे सर्वत्र प्राप्त किया जा सकता है। मातृदेवी-भाव के प्रथम संकेत 'न मातुः परं दैवतम्' में मातृशक्ति तथा देवी के सर्वश्रेष्ठ देवता होने का निर्देश भी किया गया है। इसी धारणा के कारण सच्चिदानन्द परब्रह्म की स्वाभाविक पराशक्ति को शाक्त सम्प्रदाय में उपास्य परम देवता माना जाता है। परम तत्त्व का पुंल्लिंग, नपुंसक लिंग साथ ही स्त्रीलिंग में भी निर्देश प्राप्त है। यथा—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः। (श्वेत० उपनिषद् ४।५)

अर्थात् आदिशक्ति अजा एक है। उसके लोहित, शुक्ल और कृष्ण रूप से ही विविध प्रकार की सृष्टि हुई है।

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ति या भूतेभिर्व्यजायता एतद्वै तत् ॥
(कठ उप० २।१।७)

जो देवतामयी अदिति प्राणरूप से प्रकट होती हैं तथा जो बुद्धिरूप गुहा में प्रविष्ट होकर रहनेवाली और भूतों के साथ प्रकट हुई हैं, उन्हें देखो। निश्चय वही यह तत्व है।"[1]

ऐश्वर्य, पराक्रम तथा ज्ञान प्रदान करने के साथ ही महाशक्ति अपने भक्तों के बाहरी तथा भीतरी शत्रुओं का नाश कर उन्हें आपत्तियों से विमुक्त कर देती हैं। इसीलिए भारत में सर्वत्र देवी की उपासना की जाती है। इस भौतिक एवं अर्थ-लोलुप युग के कारण उत्पन्न अनास्था में भी भारत के प्रत्येक

---

1. शाक्त संप्रदाय पं० रामप्यारे जी मिश्र
('कल्याण', उपासना-अंक, १९६८)

भाग मे बिखरे हुए प्रख्यात एक सौ आठ 'देवीधाम' तथा इक्यावन 'शक्ति-पीठ' ऐसे हैं, जहाँ शाक्तगण नित्य देवी की उपासना करते हैं।

सती के शरीर के कटिभाग से ऊपर के भाग जहाँ गिरे, वे स्थान दक्षिण-मार्ग की उपासना के लिए और जहाँ कटि के निम्न भाग गिरे, वे स्थान वाम-मार्ग की उपासना के लिए विशेष फलप्रद माने जाते हैं।

भारत के धार्मिक इतिवृत्त मे यह बात स्पष्ट है कि शाक्तमत का सगठित रूप देवीभागवत-महापुराण की छाया मे ही प्रगति कर पाया था। शक्ति की महिमा १८ महापुराणो मे प्रकारान्तर मे आई है, पर शैव और शाक्त पुराणो ने इस संप्रदाय के विकास-प्रचार मे अद्भुत सहयोग दिया था।

देवीभागवत-पुराण मे उस परब्रह्म परमात्मा का देवी के नाम से ही उल्लेख किया गया है। विज्ञानानन्दघन ब्रह्म का तत्त्व अति सूक्ष्म और गुह्य होने के कारण शास्त्रो मे उसे नाना प्रकार से समझाया गया है। अतः देवी के नाम से परब्रह्म परमात्मा की उपासना करने मे भी परमपद की प्राप्ति होती है। उसी एक ही परम तत्त्व की निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि अनेक नाम रूपो मे भक्त लोग उपासना करते हैं। जो मनुष्य तत्त्व-रहस्य को जानकर शास्त्रो और महापुरुषो के बतलाए हुए मार्ग के अनुसार निष्काम भाव मे उपासना करते हैं, उन सभी साधको को उस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है।

पुराण-मर्मज्ञो की यह भी मान्यता रही है कि देवीभागवत-पुराण तंत्रानुसारी है, अर्थात् इसमे तंत्र का प्रचुर भाव सन्निहित है। शाक्तो ने देवीभागवत के आधार पर अपने तन्त्रात्मक साहित्य का इतना विस्तार किया है कि उनकी कृतियाँ भी शास्त्र बन गई है। देवीभागवत मे प्रकृति या शक्ति की प्रधानता दर्शाई गई है, और यह मान्यता प्रकट की गई है कि एतद् भुवन की नियन्त्रण-अधिष्ठात्री विश्वमोहिनी महाशक्ति चैतन्यमयी ब्रह्मरूपा हैं। भारतीय वाङ्मय के तत्त्व-विज्ञान के अनुसार साधक, महाशक्ति को मानव-देह मे भी अपने शरीर के अन्तर्वर्ती ब्रह्मरन्ध्र में साधन कर प्राप्त कर सकता है।

शक्ति को ही सपूर्ण जगत की आत्मा और चेतन एवं अचेतन जगत का कारण कहा गया है—

एवैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैवमयस्य च ।
योऽसौ सोऽहं योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात् ॥
अन्योरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः ।
विमुक्तः स तु संसारान्मुच्यते नात्र संशयः ॥
एकमेव द्वितीयं वै ब्रह्म नित्यं सनातनम् । (देवीभागवत, ३।६)

अर्थात् (देवी ने कहा—) ब्रह्म एक ही है। मुझमे और इन ब्रह्म मे कभी किंचिन्मात्र भी भेद नही है, जो वे हैं वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही वे हैं। बुद्धि के भ्रम से भेद प्रतीत हो रहा है। हमलोगों के सूक्ष्म भेद को जो जानता है, वही बुद्धिमान पुरुष है। उसके संसार-सागर से मुक्त होने मे कुछ भी संदेह नही है। ब्रह्म नित्य, सनातन और एक ही है।

शास्त्रकारों ने अपने-अपने ढंग से नाना नामो की उपाधि देकर शक्ति की महिमा को प्रकाशित किया है। देवीभागवत मे निर्गुण शक्ति का आद्या-शक्ति से स्मरण किया गया है। यथा—

सगुणा निर्गुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः ।
सगुणाः रागिभि सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः ॥

अर्थात् पराशक्ति देवी को मनीषिगण साकार-निराकार-भेद से दो स्वरूपो मे पाते हैं। संसार म आसक्त साधक जन देवी के सगुण-भाव को और निर्मल ज्ञान एवं विवेकी जन देवी के निर्गुण-भाव को अपनाकर आराधना करते हैं। इस भावना का ही दर्शन कूर्मपुराण के १२वें अध्याय मे मिला है। यथा—

अनन्तं प्रकृतौ लीनं देव्यास्तत्परमं पदम् ।
शुभ्रं निरञ्जनं शुद्धं निर्गुणं दैन्यवर्जितम् ॥
आत्मोपलब्धिविषयं देव्यास्तत्परमं पदम् ।

अर्थात् प्रकृति मे लीन अनन्त शक्ति के उस मंगल-रूप के परम तत्त्व को, देवी के अतीव निर्मल, दीनता-दोष-रहित निर्गुण, निरंजन स्वरूप को शुद्ध, पवित्र विमल चित्तवाले ही प्राप्त करते है।

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

इस प्रकार शक्ति की मातृ-उपासना का रूप भी अत्यन्त प्राचीन है। आरम्भ में यह उपासना अर्द्धनारीश्वर के रूप में होती थी। इसके अतिरिक्त,

शबर एवं पुलिन्द भी शक्ति के उपासक थे। कतिपय विद्वानों का तो यह भी मत है कि शक्ति-पूजा का विकास बौद्धधर्म के माध्यम से ही संपन्न हुआ था। बौद्धधर्म के अन्तर्गत धर्म की पूजा स्त्री-देवता के रूप में होती थी। बौद्धों के द्वारा आदिमाता एवं बुद्ध माता के रूप म स्त्री-देवता की पूजा की जाती थी। आदिमाता समस्त तथागतो की माता समझी जाती थीं। इसके अलावा नेपाली बौद्धधर्म के अन्तर्गत हमें शाक्ततंत्र की तरह देवी के कुमारी, माता आदि अनेक रूप मिलते हैं। हमारे शक्ति-उपासक वैदिक विद्वान तो मानते हैं कि भगवान का यह 'शक्ति-रूप' भी अनादि है और अनादिकाल से ही शक्ति की उपासना प्रचलित है।

शाक्त, द्वैत आदि स्वतत्र संप्रदायों में तो महाशक्ति की पूजा प्रचलित रही ही है। शाकर वेदान्त जैसे विरक्त सप्रदाय मे भी षोडशी-त्रिपुरार्चन की पद्धति है। गायत्री के रूप मे ये ही उपास्य हैं। इनकी उपासना-पद्धति के प्रदशन के लिए सस्कृत-वाङ्मय मे बडी भारी साहित्य-राशि, पद्धति, कथा-निरूपक आदि अनेक प्रकार हैं। पर देवीभागवत मे ये एक साथ उपलब्ध हैं। साथ ही कालिका-पुराण, त्रिपुरारहस्य आदि कथा-ग्रन्थों मे यही सर्वोत्तम है। इसकी कथाएँ बडी ललित हैं और भाषा बडी ही सरल है। गायत्री पर जितना विशद विचार तथा पञ्चाङ्गादि का सविधि निरूपण एव अनुष्ठान-प्रकार इसमे वर्णित है, उतना अन्यत्र नही।

शाक्तमत के पौराणिक साहित्य मे देवीभागवत पर नीलकण्ठ की टीका एव प्रस्तावना और इसी महापुराण का देवीगीता-प्रकरण, मार्कण्डेय-पुराण की देवी-सप्तशती या देवी-माहात्म्य, ब्रह्माण्ड-पुराण के द्वितीय भाग का ललित-रहस्य (३२० श्लोको का प्रकरण) और उपपुराणो मे कालिका एवं सूत-संहिता के यज्ञ-वैभव खण्ड के ४७वें अध्याय का शक्ति-स्तोत्र महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठ वाङ्मय हैं। देवी-शक्ति के मत पर यत्र-तत्र-साहित्य में काश्मीर के पण्डितो की कृतियाँ, दाक्षिणात्य विद्वानो के अद्भुत ग्रन्थ एव बड़ौदा-बगाल की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

शिवपुराण के आधार पर कुछ लोगो का विचार है कि जो लोग वैदिक मार्ग-भ्रष्ट हैं, जिनको वैदिक माग मे अधिकार नही है, वे ही तन्त्रोक्त धर्म का आचरण करें, तन्त्रोक्त पूजादि करें। श्रुतिपथ-निरत मनुष्य के लिए वेदोदित पूजा ही कर्त्तव्य है।

अग्निपुराण में कहा गया है कि विष्णु की तीन प्रकार की उपासना-पद्धति—वैदिक, तान्त्रिक तथा मिश्र—है। यथा—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रो विष्णोर्वै त्रिविधो मखः।

श्रीमद्भागवत (११।२७।७) मे भी भगवान श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥

अर्थात् मेरे मख (यज्ञ, पूजा, उपासना-पद्धति) वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र—तीन प्रकार के हैं। इनमें से यथाभिलषित विधि के द्वारा मनुष्य अपने अधिकार और श्रद्धा के अनुसार मेरी पूजा करे।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि तांत्रिक पूजा वैदिक पूजा नहीं है; या तो शुद्ध तान्त्रिक है या कोई-कोई मिश्रित है।

देवीभागवत (७।३९।२६-२७; ३१-३२) का ही हवाला देते हुए कुछ वेदज्ञों का कथन है कि श्रुति और स्मृति के विरुद्ध जो अन्यान्य विविध शास्त्र हैं, वे सभी तामस शास्त्र हैं।

अन्यानि यानि शास्त्राणि लोकेऽस्मिन् विविधानि च।
श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि तामसान्येव सर्वशः॥
वामं कापालकं चैव कौलकं भैरवागमः।
शिवेन मोहनार्थाय प्रणीतो नान्यहेतुकः॥
× × ×
तत्र वेदा विरुद्धोंऽशोऽप्युक्त एव क्वचित् क्वचित्।
वैदिकैस्तद् ग्रहे दोषो न भवत्येव कर्हिचित्॥
सर्वथा वेदभिन्नार्थे नाधिकारी द्विजो भवेत्।
वेदाधिकारहीनस्तु भवेत् तत्राधिकारवान्॥

अर्थात् यहाँ पर श्रुति और स्मृति के विरुद्ध अन्यान्य शास्त्रों को तामस बतलाते हुए कहा है गया कि शिव ने वामाचार-तंत्र, कपाल-तंत्र, कौल-तंत्र, भैरव-तंत्र आदि तंत्र-ग्रन्थों को मोहित करने के लिए ही रचे।

अतः तंत्रशास्त्र में जहाँ-जहाँ वेद से अविरुद्ध अंश हैं, वेदमार्गानुसारी लोगों के लिए उन अंशों का ग्रहण किसी प्रकार दोषयुक्त नहीं होता, किन्तु द्विजगण वेद-विरुद्ध अंश ग्रहण करने के सर्वथा अनधिकारी हैं। यह जानना चाहिए कि जिनका वेदों में अधिकार नहीं है, वे ही केवल तंत्र के अधिकारी हैं।

देवीभागवत-पुराण से ही (११।१।२५-२६) स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि नारद के प्रश्न पर विष्णु ने कहा कि वेद-विरुद्ध तन्त्र किसी भाव से ग्राह्य नही है। एकमात्र वेद ही धर्म के मुख्य प्रमाण हैं। देवीभागवत मे कहा भी है—

वेदाविरोधी चेत् तन्त्रं तत् प्रमाणं न संशय ।
प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धं यत् तत् प्रमाण भवेन्न च ॥
सर्वथा वेद एवासौ धर्ममार्गप्रमाणकः ।
तेनाविरुद्धं यत् किञ्चित् तत प्रमाणं न चान्यथा ॥

सूत संहिता मे बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की पूजा का वर्णन है। पुन वैदिकी और तान्त्रिकी भेद से बाह्य पूजा भी द्विविध कही गई है। सूत-संहिता में वैदिकी पूजा से वेद और वेदमूलक स्मृति पुराणादि के द्वारा प्रतिपादित पूजा का और तान्त्रिकी पूजा से वेद निरपेक्ष (स्वतन्त्र) शिवोक्त आगम प्रतिपादित पूजा लक्ष्य है। (. .)

"सूत-संहिता और उसकी माधवाचार्य-कृत तात्पर्यदीपिका नाम्नी व्याख्या पढने से ज्ञात होता है कि जो लोग तन्त्रोक्त दीक्षा द्वारा संस्कृत हैं, वे वैदिकी पूजा के अधिकारी है। केवल शक्ति-पूजादि का ही नहीं, अपितु शिव, विष्णु, विनायक आदि की पूजा के भी वैदिक और तान्त्रिक द्विविध विभाग के अनुसार प्रकार-भेद हैं। जो व्यक्ति जिस मार्ग का अधिकारी है, उसके लिए उसी मार्ग के अनुसार पूजा करना उचित है, स्वमार्ग के अतिक्रमण की श्रुति और बाद मे श्रीमद्भगवद्गीता ने निन्दा की है।"[1]

किन्तु अनेक शास्त्रो का कथन है कि "आस्तिक हिन्दुओं को इस बात की खबर ही नही है कि वे जिस धर्म के अनुयायी है, उसकी रचना आगमशास्त्र (शाक्त धर्म) के पुनीत सिद्धान्तो पर हो हुई है। इसी अज्ञान के कारण वह पवित्र शास्त्र (धर्म) इस पुण्यभूमि से धीरे-धीरे तिरोहित होता गया। भूतकाल मे अहिंसावादी जैनो और बौद्धो के प्रबल पड़ जाने पर वेदो के साथ-साथ इसके भी विनाश का उपक्रम दिन-दिन बढता ही गया, यहाँ तक कि हिन्दुओं की एक विशाल संख्या ने उक्त दोनो वेद-विरोधी धर्मों के प्रभाव मे पडकर अहिंसा-धर्म को ग्रहण किया। इस प्रकार स्वय हिन्दू ही वेद के साथ-साथ अपने इस युग विशेष के वेद के भी विनाश के कारण हुए।"[2]

1. श्री शकरतीर्थ जी
2. यशोधर शुक्ल वाममार्ग, पृ० ३-४

किन्तु शुक्ल जी के इस विचार से कि शाक्तमत वेद-प्रतिपादित रहा है और अहिंसा के मूलभूत जो वैष्णव-मार्ग का प्रचार हुआ, वह अवैदिक है, मैं असहमत हूँ। शुक्ल जी का यह भी कथन कि याज्ञिक बलि-प्रथा वेद-विहित थी और वैष्णव-धर्म, जो पूर्णतया अहिंसक और बलि-प्रथा का विरोधी है, वैदिक प्रणाली का अन्त करने का साधन हुआ, सर्वथा निराधार है। वैदिक यज्ञ-प्रथा मूलतः अहिंसक थी और कालान्तर में वेद-मंत्र के अर्थ का मनमाने ढंग से प्रचार कर बलि-प्रथा को प्रश्रय दिया गया। पाञ्चरात्र-धर्म की प्रतिष्ठा तक श्रीकृष्ण ने स्वयं अहिंसा को परम धर्म कहा। यथा—

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद् वाचं न च हिंस्यात् कथञ्चन॥

(महा० कर्ण-पर्व २३।६१)

कुछ विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष में अहिंसा की उत्पत्ति जैनों तथा बौद्धों से मानना एक भयंकर ऐतिहासिक भूल है; क्योंकि इस सिद्धान्त का उदय ब्राह्मण-धर्म के भीतर ही हुआ। प्रो० बलदेव उपाध्याय का यह भी विचार है कि "नितान्त वैदिक भागवत-धर्म ने ही सर्वप्रथम अहिंसा-सिद्धान्त का आरम्भ तथा प्रचार किया।"[1] जो हो, यह अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है कि अहिंसा-धर्म का आरम्भ बौद्ध और जैन सिद्धान्तों के प्रचार से हुआ या इन दोनों धर्मों ने अहिंसा-सिद्धान्त को विशेष रूप से प्रगति दी।

तन्त्रग्रन्थ, जो शाक्त-सम्प्रदाय के आधार हैं, संवाद-रूप में हैं। जिनमें वक्ता का स्थान शिव ने और श्रोता का पार्वती ने ग्रहण किया है, वे आगम कहलाते हैं और जिनमें वक्ता का स्थान पार्वती ने और श्रोता का शिव ने ग्रहण किया है, वे निगम कहलाते हैं। डामरों, यामलों के वक्ता अकेले शिव हैं, और उपतंत्र तपोवन ऋषियों की रचनाएँ हैं।

तन्त्रधर्मानुयायी आगम, निगम और डामर-यामल की श्रेणी के ग्रन्थों को ईश-वाक्य मानते हैं और वेदों के समान ही उन्हें पूज्य समझते हैं। इन पूज्य ग्रन्थों में युग-विशेष के धर्म का उपदेश किया गया है। लिखा है—"कलिदोष के कारण द्विज लोग पवित्रापवित्र का विचार नहीं करेंगे। अतएव वैदिक कृत्यों द्वारा मुक्ति-लाभ करने में समर्थ नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में स्मृतियाँ और संहिताएँ मनुष्य-जाति को कल्याण की ओर नहीं ले जा सकेंगी। हे प्रिये! मैं तुमसे

1. प्रो० उपाध्याय : वैष्णव धर्म, प्रथम परिच्छेद

सत्य कहता हूँ कि कलिकाल मे आगम-सम्मत धर्म को छोड़कर दूसरा मार्ग नहीं है। .. अब वैदिक निर्विष सर्प के सदृश शक्तिहीन हो गए हैं। .. ....जो व्यक्ति कलिकाल में दूसरे धर्म-ग्रन्थो के अनुसार अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहता है, वह मूर्ख है। प्यास से पीडित होकर वह गंगा की बालू में कुँआ खोदना चाहता है। इस युग मे तन्त्रोक्त मंत्र ही शीघ्र फलप्रद है।

"किन्तु अज्ञानवश एव अन्य कारणो से साधारण आस्तिक हिन्दू तंत्रशास्त्र के महत्त्व को नही स्वीकार करते। यही नही, कोई-कोई तो उनका विरोध तथा निन्दा करते है। परन्तु उनका ऐसा करना उचित नहीं है; क्योंकि आस्तिक हिन्दू किसी-न-किसी देवता का उपासक होता ही है। यदि वह शैव, वैष्णव या शाक्त आदि है तो अपने इष्टदेवो की यथाशक्ति षोडशोपचार से पूजा करता ही होगा। ऐसी दशा मे वह तंत्रशास्त्र की कैसे उपेक्षा कर सकता है ?

"वस्तुत तंत्रशास्त्र सार्वजनिक और सार्वदेशिक शास्त्र है। इसमे शैवों, शाक्तो, वैष्णवो आदि सभी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो की उपासना विधियों का वर्णन है और यह अपौरुषेय शास्त्र संपूर्ण आस्तिक हिन्दू-समाज पर आज भी अपना प्रभाव डाले हुए है। वाममार्ग ऐसे ही शास्त्र का एक आधार है। यही नहीं, यह उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग है, क्योंकि उस शास्त्र मे उपासना की सिद्धि का केन्द्र माना गया है।"[1]

शाक्त, वाम (वाममार्गी) और कौल तो जगज्जननी के उपासक, माता के पुजारी होते हैं। वह माता ऐसी-वैसी नही है। वह है त्रैलोक्य-जननी, विश्वम्भरी, कृपा-सागरा और सच्चिदानन्द-रूपिणी। वह है भक्त-वत्सला और पुत्ररूपी वत्स के लिए अमृतरस-दायिनी कामदुहा। वह एक ओर अपने संसार-सागर मे डूबते हुए पुत्रो को अमोघ वाणी से उत्साहित करती है, तो दूसरी ओर वर-प्रदान के लिए सर्वदा उन्मुक्तहस्त खड़ी रहती है, इसीलिए उनका नाम है जगत्तारिणी।

"आदिशक्ति महामाया के जितने रूप शास्त्रो मे प्रसिद्ध हैं, वे दो कोटियों में रखे जा सकते हैं। यहाँ उन्हे अभी मधुर और उग्र के नाम से कहा जाएगा। मधुर रूप मे जैसे लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, सीता एव राधा आदि तथा उग्र रूप में प्रायः काली, तारा, भैरवी, भुवनेश्वरी, दुर्गा आदि प्रसिद्ध हैं। त्रिपुरासुन्दरी

1. वाममार्ग : पं० कुंजीधर शुक्ल

और षोडशी का रूप दिव्य सौन्दर्य और माधुर्य की परिसीमा होने पर भी, उग्रतायुक्त है। उसमे कोमलता और लावण्य का प्राधान्य नही हो सकता है। मातृ-उपासना के मस्तानो ने मधुर रूप को गौण स्थान दिया है और उग्र रूपों की भक्ति-भावना में अपने को मिटा दिया है—यह बड़ा विचित्र है। पर उसमें एक रहस्य है।

"परन्तु इस रहस्य की चर्चा करने के पहले इस प्रकार के रूपो के अवतार-क्रम पर दृष्टि डालनी होगी। दोनो प्रकार के रूप उसी आदिशक्ति सच्चिदानन्द-रूपा महामाया के हैं। दोनो ही उसकी विभूतियो के उत्कृष्टतम प्रकाश हैं। दोनो ही उसी अनादि आद्या के निज इच्छा-निर्मित तनु हैं। किन्तु दोनो के आविर्भाव क्रम मे भेद है। लक्ष्मी, सरस्वती एव पार्वती त्रिदेवो की शक्तियाँ हैं। उनका आविर्भाव उन त्रिदेवो को कर्तृत्व-प्रदानार्थ हुआ है। यही बात सीता और राधा के अवतारो के लिए भी ठीक है। भगवान राम और श्रीकृष्ण की लीला को सर्वांगीणता देने के लिए ही उनका आविर्भाव हुआ था। साख्य के शब्दो मे यदि कहना चाहे तो इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रकृति पुरुष के आनन्द के लिए, अपनी लीला करने का अवसर देने के लिए, अपना भाण्डार खोल-कर उसके सहायतार्थ आप भी आ खडी हुई थी। इसे अधिक सीधी निरलं-कारिक भाषा मे इस प्रकार कहा जाएगा—पुरुष, महापुरुष या पुरुषोत्तम की इच्छा हुई संसार मे आने की। यहाँ आकर ससारानुकूल लीला या आनन्द बढ़ाने की। अतएव उसने सर्वशक्तियो की अधिष्ठात्री महामाया का स्मरण किया, उसकी सहायता के लिए आह्वान किया। इस आह्वान को सुनकर उसको पूरा करने के लिए उसने यथावत् अपनी लीला का विस्तार किया।

"परन्तु इधर की बात दूसरी है। अत्रिपुत्रो ने पुकारा माँ! दौड़ो, रक्षा करो, और उसके आगे तत्काल आ खडी हुई। किस हेतु? अपने इच्छानुसार लीला करने के लिए? नही, पुत्रो की इच्छा के लिए, उनका पालन-पोषण करने के लिए। यह कार्य सपन्न कर पुत्रो को फिर अभय-मन्त्र सुनाती हुई चली गईं।

"अत पहले मे महामाया के अवतार का कारण हुआ है सृष्टि-लीला-विस्तार हेतु पुरुषोत्तम की इच्छा। दूसरे का कारण है सृष्टि-जाल के कठोर बधन से उत्पीड़ित निस्सहाय आत्माओ की विस्तार-कामना। फलतः भव-व्याधि से छूटने की इच्छा रखनेवाले उपासको ने दूसरी श्रेणी के रूपों में ही अपनी इच्छा को फलवती करनेवाली नख-शिख सर्वांगीण मातृमूर्ति का दर्शन

पाया। यह सहज ही देखा जा सकता है कि इन मधुर और उग्र रूपों का क्या भेद है। मधुर रूप पुरुष की लीलाप्रियता-जनित है। उग्र रूप पुरुष की भवभय से विमुक्ति होने की आकाक्षाजनित है। पहला पुरुष की "एकोहं बहु स्याम्" भावना का फल है, दूसरा, "नेह नानास्ति किञ्चन" की भावना में पुनः आत्मस्थ होने की इच्छा का। एक ससार-लीला-विस्तारार्थ है, दूसरा संसार-लीला सवरणार्थ।"[1]

"महाभारत-युद्ध के बाद से बौद्धधर्म के प्रारम्भ होने के पहले तक अर्थात् कोई दो हजार वर्ष तक भारतवर्ष मे तत्रधर्म का प्राबल्य रहा। तंत्र-ग्रन्थों के वचनों से प्रकट होता है कि किसी समय भारत तीन क्रान्तों मे विभक्त था। ये तीन क्रान्त—विष्णुक्रान्त, रथक्रान्त और अश्वक्रान्त के नाम से प्रसिद्ध थे॥ पूर्वोत्तरीय भाग विष्णुक्रान्त, पश्चिमोत्तरीय रथक्रान्त और अवशिष्ट तथा दक्षिणी भाग अश्वक्रान्त था। इन क्रान्तो की सीमा मे आज के ईरान, अफगानिस्तान, तिब्बत, ब्रह्मदेश, जावा आदि देश आ जाते हैं। मतलब यह है कि समस्त पूर्वी एव दक्षिणी एशिया मे तान्त्रिक साधना का बहुत अधिक प्रचार था। इस भौगोलिक देश-विभाजन का केन्द्र विन्ध्याचल का पूर्वी सिरा—करतोया नदी—माना गया था। तत्र ऐसा ही महत्त्वपूण शास्त्र है।

"ब्रह्मोपासना से लेकर क्षुद्रदेवोपासना तक की साधना-विधि तत्रशास्त्र में बताई गई है। हठयोग से लेकर नाम-स्तवन तक की उसमे व्याख्या दी गई है। उसमे पूजा-विधि, भूतों का वर्गीकरण, खगोल, लोकों, नरकों तथा स्त्रियों का वर्णन, युगधर्म, आश्रमधर्म, सस्कार, देव-मूर्ति-प्रतिष्ठा, मत्र यत्र, मुद्रा-क्रिया, साधनक्रम, आन्तर एव बाह्य उपासना-विधि, गृह-वापी तथा कूप की प्रतिष्ठा, वृक्षारोपण, तीर्थ-कथन, पुरश्चरण-विधि, जप-विधि, व्रत, षट्कर्म उत्सव, ध्यान-योग, राजधर्म, धर्मशास्त्र, औषधि-क्रिया, साधारण विज्ञान आदि नाना प्रकार के विषयों का समावेश है। अतएव तत्रशास्त्र सार्वदेशिक शास्त्र है। उसका उपदेश मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए किया गया है।"[2]

शाक्तमत का ध्येय परमात्मा के साथ जीवात्मा की अभेद-सिद्धि है। तान्त्रिक उपासना का प्रथम सिद्धान्त है कि उपासक अपने उपास्य देव के साथ तादात्म्य स्थापित करे। इस प्रकार शाक्तमत अद्वैतवाद का साधन-मार्ग है। शाक्तों की

1. श्री रमाचरण : मातृ-उपासना
2. वंशीधर शुक्ल : वाममार्ग

प्रत्येक साधना मे अद्वैतवाद अनुस्यूत रहता है। सच्चे साधक की यह धारणा रहती है—

अहं देवी न चान्योस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥

अर्थात् मै ही देवी हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ और मैं ही सच्चिदानन्द-रूप हूँ।

तान्त्रिक आचार अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। गुरु से दीक्षा ग्रहण करने के समय शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। तान्त्रिक पूजा केवल चुने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियो के लिए ही है। अतः यह गुप्त रखी जाती है।

शाक्तमत के तीन भाव—पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव—तथा सात आचार बताए गए हैं। शाक्तमत के मान्य ग्रन्थ 'कुलार्णव' मे सात आचारो के नाम श्रेणी के साथ दिए गए हैं। ये हैं—(१) वेदाचार, (२) वैष्णवाचार, (३) शैवाचार, (४) दक्षिणाचार, (५) वामाचार, (६) सिद्धान्ताचार और (७) कौलाचार। एक मत के अनुसार इनके अतिरिक्त अघोराचार तथा योगाचार भी है। भाव मानसिक अवस्था है और आचार बाह्याचरण। जिसमें अविद्या के कारण अद्वैत-ज्ञान लेशमात्र भी नही है, उस भाव को पशुभाव कहा है; क्योकि ऐसे लोग पशु के सदृश अज्ञान मे पड़े हुए हैं। जो साधक अज्ञान-रज्जु को काटने मे कुछ भी कृतकार्य हो चुके हैं, उनका भाव वीरभाव हो जाता है। वीरभाव उद्योग का द्योतक है, किन्तु अद्वैतानन्द का आस्वादन करनेवालो का दिव्य भाव हो जाता है। आचारो मे प्रथम चार पशुभाव के साधक के लिए हैं। वामाचर तथा सिद्धान्ताचार केवल वीरभाव के साधक के लिए है। सवश्रेष्ठ आचार कौलाचार है, जो पूर्ण अद्वैतवाद से विभूषित दिव्य साधक के लिएहै। प्रत्येक साधक को भिन्न-भिन्न श्रेणियो को पार करके अत मे कौल की स्थिति प्राप्त करनी होती है।

१ वेदाचार के साधक को वैदिक नित्य-कर्म करने पडते हैं। इसके सिवा सभी दूसरे आचार सम्मिलित रहते हैं। धर्म की दृढता के इस आचार मे बाह्य और कर्मपरक पूजा करनी पडती है। यह आचार कर्मकाण्ड-प्रधान है।

२. वैष्णवाचार का साधक अंधविश्वास से निकलकर ब्रह्म की इच्छा-शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है। यह भक्ति-प्रधान है।

३. शैवाचार मे धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश के भाव से साधक प्रवेश करता है। उसमे भक्ति और अन्तर्लक्ष्य का मेल होता है। यह ज्ञान-प्रधान है।

४. दक्षिणाचार में ब्रह्म की क्रिया, इच्छा और ज्ञान-शक्तियों की ध्यान-धारणा की जाती है। साधक गुणत्रय के संबंध का अनुभव करता है और पूर्णाभिषेक की स्थिति प्राप्त करता है। इसी स्थिति मे साधक दीक्षा ग्रहण कर वामाचार का अधिकारी होता है। उपर्युक्त चार आचारो को पार करने पर ही साधक इस स्थिति को प्राप्त करता है, किन्तु यदि किसी साधक का जन्म वामाचारी वंश मे हुआ है, तो वह पूर्ण रूप से वाम-मार्ग का अधिकारी समझा जाता है; क्योकि वह अपने पहले के जन्मो मे प्रारम्भिक आचारो को पूर्ण कर चुका है।

५. वामाचार मे प्रवेश करने पर निवृत्ति-मार्ग ग्रहण होता है। इस मार्ग में प्रवृत्ति की शक्ति का ऐसे ढग से उपयोग किया जाता है कि वह अपने-आप विनष्ट हो जाय। इसमे केवल खाने-पीने और भोग की इच्छाओ का ही दमन नहीं किया जाता, बल्कि साधक को आठ पाश तोडने पडते है। इस प्रकार वह शिवत्व का प्राप्त करता है।

परन्तु साधक को देवता की पूजा करने का तभी अधिकार प्राप्त होता है, जब वह पञ्चशुद्धियाँ—(१) भूत-शुद्धि, (२) आत्म-शुद्धि, (३) स्थान-शुद्धि, (४) मंत्र-शुद्धि और (५) देवता-शुद्धि—करता है। स्नान भूत-शुद्धि है। प्राणायाम, षडगादिन्यास करना आत्म-शुद्धि है। पूजागृह को स्वच्छ रखना और उसे फूल-मालाओ से अलकृत रखना तथा सुवासित करना स्थान-शुद्धि है। मूलमत्र को मिलाकर मातृका-मंत्र का अनुलोम-विलोम जप करना मत्रशुद्धि है। मूलमत्र और अस्त्रमत्र से अभिमंत्रित जल को पूजा-द्रव्यो पर छिडककर और उनको धेनु-मुद्रा दिखलाकर उन्हे अमृतमय बनाना द्रव्यशुद्धि है। देवताओ को उपयुक्त पीठ पर स्थापित कर प्राणमत्र से उनकी शक्ति का आह्वान कर उन्हे मूलमत्र से तीन बार स्नान कराकर वस्त्राभूषण पहनाकर धूप-दीप से पूजन करना देवता-शुद्धि है।

ऐसे ही साधक वाममार्गी होते हैं और उनकी अर्चना मे प्रसिद्ध पञ्चमकार—मद्य, मास, मीन, मुद्रा और मैथुन—का उपयोग होता है। इन पञ्चमकारो का उपयोग एकमात्र चक्राचिन् मे ही माना गया है, अन्यत्र नहीं। इसका अधिकारी केवल पूर्णाभिषिक्त साधक ही होता है। इतर साधक इनका सग्रह करने के अधिकारी नही माने गए हैं। इस दृष्टि से पञ्चमकार का उपयोग एकमात्र ज्ञान-प्राप्त साधको के लिए ही विहित है।

ऊपर के पञ्चमकार का विधान साधारण लोगों को भले ही भयंकर प्रतीत हो, पर तान्त्रिक दृष्टि से इसका उद्देश्य रहस्यपूर्ण है। वास्तव में मद्य, मांस

आदि पाँचों वस्तुएँ प्रलोभन की वस्तुएँ हैं। यदि साधक इनके प्रलोभन मे नहीं पडता तो उसका मार्ग सुगम होता है और वह परमानन्द को प्राप्त करता है। किसी साधक के लिए यह कोई हँसी-खेल का काम नही है कि सम्मुख एक नवयौवना सुन्दरी बैठी हो और वह उसकी भगवती के रूप में अचल भाव से पूजा करे। भगवती को अर्पण करने के बाद वह मद्यपान भी करता है, पर मदोन्मत्त होने के लिए नही, बल्कि एकाग्रचित्त होकर अपने इष्ट पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए। वह मास, मत्स्य तथा अन्य सुस्वादु भोजन-सामग्री (मुद्रा) भी खाता है; पर इसलिए नहीं कि ये स्वादिष्ट पदार्थ हैं, बल्कि धर्म-कार्यार्थ अपना शरीर पुष्ट बनाए रखने के लिए। पञ्चमकार के संग्रह का वस्तुत: यही उद्देश्य है। तान्त्रिक साधक इन आनन्ददायक पदार्थों के द्वारा ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने को यत्नवान् होता है। ऐसी दशा मे अपने मनोभावो को दबाना पड़ता है और उन भोगो को इष्ट-सिद्धि का साधन बनाना पडता है। कितना दुर्धर्ष कार्य है, कितनी विकट साधना है। यह अपने-आप स्पष्ट है।[1]

अत तन्त्र का महत्त्व उसकी साधना-विधि मे है। यह विधि न तो केवल उपासना या पूजा है, न प्रार्थना, न इष्ट के आगे अपना दुखडा रोना है और न अपने कर्मो के लिए पश्चात्ताप करना है। यह साधना पुरुष और प्रकृति को एक करने की क्रिया है। यह साधना शरीर के भीतर पुरुष-तत्त्व तथा मातृ-तत्त्व का सयोग कराती है—सगुण को निर्गुण करने का प्रयत्न करती है। तान्त्रिक साधना का उद्देश्य है अपने-आप को विराट् मे मिलाना। तान्त्रिक उपासना की चरम सीमा कौलाचार अवस्था है। इसमें कर्दम (कीच) और चदन, मित्र और शत्रु, गृह और श्मशान, स्वर्ण और मिट्टी मे भेद नही रह जाता है। यही गीता की गुणातीत अवस्था प्राप्त करने पर ही साधक उस विराट् मे मिलने मे समर्थ होता है। भाव-चूडामणि-तन्त्र मे कहा है—

> **कर्दमे चन्दनेऽभिन्ने पुत्रे शत्रौ यथा प्रिये।**
> **श्मशाने भवने देवी तथैव काञ्चने तृणे॥**
> **न भेदो यस्य देवेशि स कौल. परिकीर्त्तितः।**

इस प्रकार तन्त्रशास्त्र का साधन तलवार की धार के सदृश है। साधक तनिक भी फिसला कि अधोगति को प्राप्त हुआ।

---

1. वाम मार्ग : वंशीधर शुक्ल

प्राय सभी वाममार्गी साधनाओ मे कार्य-साधना को आधार माना गया है। अपने से बाहर किसी प्रकार की सिद्धि अथवा परमार्थ को ढूंढ़ना अनावश्यक है। शरीर ही सबसे बड़ा तीर्थ है। इसी मे गगा, यमुना और गगा सागर हैं। इसी मे प्रयाग, वाराणसी, सूर्य और चन्द्रमा हैं। सभी कुछ इसी मे है। कही बाहर भटकना व्यर्थ है। इसी शरीर मे सारा विश्व समाया हुआ है। इस आधार पर हिन्दू तन्त्रवादियो ने शिव और शक्ति का निवास शरीर के अदर माना है। शिव का वास सहस्रार-चक्र मे है और शक्ति मूलाधार मे अवस्थित है। शक्ति कुडलिनी (सर्पिणी) के आकार मे कुडली मारे बैठी रहती है। साधना के द्वारा इस कुडलिनी-शक्ति को चेतन कर ऊपर सहस्रार-चक्र की ओर प्रेरित किया जाता है। साधना की सफलता इसी शिव और शक्ति, पुरुष और स्त्री-तत्त्व के सयोग पर निर्भर करती है। मूलाधार और सहस्रार-चक्र क्रमशः शक्ति और शिव के प्रतीक मान लिए गए है। सभी गुह्य साधनाओ मे यह स्वीकार कर लिया गया है कि विश्व के सभी प्राणियो का विभाजन पुरुष और स्त्री-रूप मे प्राय मनुष्य-शरीर मे इसी विशेषता का प्रतिफल है। साधना की पूर्णता का सच्चा अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि पुरुष और नारी का पूर्ण सम्मिलन हो। अन्तर्जगत की नारी और पुरुष-शक्तियो के मिलन से जिस पूर्णता और महासुख की कल्पना की गई है, उसी का बहिर्जगत मे भी व्यवहार करने के कारण पञ्चमकार वाले वाममार्ग की स्थापना हुई।[1]

किन्तु आज शाक्तधर्म पञ्चमकार के दुरुपयोग से बदनाम हो गया है। अनेक कामुक पुरुष शाक्तधर्म की आड मे अपनी कामवृत्ति की साधना कर अपने को धर्माचारी प्रदर्शित करते हैं। 'कुलार्णव' मे स्पष्ट कह दिया गया है कि "अनेक लोगो की यह मिथ्या धारणा है कि मद्यपान आदि से आत्मा पवित्र हो जाती है। ऐसा समझना सरासर भूल है। यदि ऐसा होता तो सारे मद्यपान करनेवाले ब्रह्मज्ञानी हो जाते। यदि मैथुन-मात्र से मोक्ष सुलभ हो सकता तो उसकी उपलब्धि सभी के लिए एक साधारण बात हो गई होती। व्यर्थ का मद्यपान घोर पाप है, यहाँ तक कि उसकी गध आ जाने से द्विजो को पाप लगता है। अतएव द्विजो को सभी प्रकार के मद्यो से दूर रहना चाहिए। यदि कभी धोखे से मद्य पर निगाह पड़ जाए तो सूर्य का दर्शन कर लेना चाहिए, और

1. डॉ० मोती सिंह निर्गुण-साहित्य और संस्कृति की पृष्ठभूमि, पृ० २९।

यदि धोखे से उसकी गंध तक पहुँच जाए तो प्राणायाम करके उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए।"

'कुलार्णव' के निम्न अवतरण से और भी स्पष्ट हो जाता है कि मद्यपान स्वयं तंत्रों में वर्जित है। उसमें उसका विधान केवल चक्रार्थ में ही है और वह भी पूर्ण अभिषिक्त (कौलाचार) के लिए ही है।

कौलज्ञाने ह्यसिद्धो यस्तद् द्रव्यं भोक्तुमिच्छति।
स महापातकी ज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः॥
मद्यासक्तो न पूजार्थी मांसाशी स्त्रीनिषेवकः।
कौलोपदेशहीनो यः सोऽयं नरकं व्रजेत्॥
स्वेच्छया रमणो यो वै दीक्षासंस्कारवर्जितः।
न तस्य सद्गति क्वापि तपस्तीर्थव्रतादिभिः॥
असंस्कृतं पिबेद् द्रव्यं बलात्कारेण मैथुनम्।
स्वतृप्त्यै साधयेन्मांसं रौरवं नरकं व्रजेत्॥

अर्थात् जो व्यक्ति कौल-ज्ञान से रहित है और कौलों के लिए निर्दिष्ट पदार्थों के उपभोग की इच्छा करता है, उसे महापापी समझना और धार्मिक कामों से दूर रखना चाहिए। जो व्यक्ति पूजा करने की इच्छा नहीं करता है, किन्तु मद्यपान, मांस-भक्षण और स्त्री-भोग में आसक्त है, ऐसा कौल-दीक्षा से रहित व्यक्ति नरक को गमन करता है। जो अदीक्षित व्यक्ति मनमाने ढंग से मद्यादि के भोगों में लिप्त है, वह लाख तप, तीर्थ, यात्रा, व्रतादि करने से भी सद्गति को नहीं प्राप्त होगा। जो व्यक्ति असंस्कृत मद्य का पान करता है, बलपूर्वक स्त्री-संभोग करता है और अपनी तृप्ति के लिए पशुवध करता है, वह रौरव नरक को प्राप्त होता है।

आगे चलकर 'कुलार्णव' में और स्पष्ट रूप से वर्णन है—

मातृरूपां परित्यज्य स्त्रीरूपां शक्तिमाचरेत्।
स याति नरकं घोरं जन्मकोटिशतानि च॥
मन्त्रमाता च पुत्री च भगिनी च कुलाङ्गना।
न रमेत् कौलिको नित्यमेताः सम्यक् समर्चयेत्॥

अर्थात् जो साधक शक्ति को मातृ-रूप में ग्रहण कर स्त्री-रूप में ग्रहण करता है और तदनुसार उसके साथ व्यवहार करता है, वह सैकड़ों जन्मों तक घोर नरक को प्राप्त होता है।

मंत्र देनेवाली माता, पुत्री, बहन और कुलांगना के साथ कौल-साधक कभी रमण न करे, उसे उनकी तो अच्छी तरह पूजा करनी चाहिए।

किन्तु तांत्रिक साधना मे, जो शाक्तधर्म का आधार है, विकृति यहाँ तक आई कि तंत्रमात्र को सात्त्विक समाज ने भर्त्सना की। शाक्तमत की अनेक बीभत्स क्रिया-साधनाओं को समाज ने ग्रहण नही किया। इसका कारण यही है कि छद्म साधको ने ही पञ्चमकारो को विशेषता दी, जिसके परिणाम-स्वरूप तंत्र के विषय मे अनेक भ्रम फैल गए और आज तंत्र का नाम सुनते ही कितने ही लाग नाक-भौं सिकोड़ने लगते है। तंत्र के दार्शनिक विचार उदात्त तथा प्राञ्जल हैं, जिन्हे छद्म साधको ने अपने कलुषित व्यवहार से बदनाम कर दिया है। तंत्र-मंत्र के आचार्य आदि का कथन है कि उनकी साधना का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ, व्यष्टि की समष्टि के साथ अभेद-सिद्धि ही है। पर शाक्तो और वाममार्गियो के पञ्चमकार, स्त्री-पुरुष के रज वीर्य तथा शव आदि के षड्-विधि-अभिचार प्रयोगो के सिद्धान्तो की मान्यता के कारण उनकी पवित्रता को भारतीय एव विदेशी विद्वान् स्वीकार नही करते।

शाक्त सम्प्रदाय मे वाममार्ग एव तंत्रो के प्रयोग से एक विचित्र परिवर्तन हो गया। शैवो की काली-उपासना रहस्यपूर्ण हो गई। शिव से पार्वती को विशेष महत्त्व मिल गया। बगाल तथा असम की उपासना एवं नित्य के आचार सभी तंत्रानुगामी हो गए। तांत्रिक उपासना से प्रभावित होने के कारण ही शैव तथा वैष्णव सम्प्रदाय भी दक्षिण तथा वाम-मार्गों मे विभक्त हो गए। पौराणिक आधार पर दक्षिण-पथ तथा कौलिको के तंत्रशास्त्र के आधार को लेकर वाममार्ग की उपासना चल पडी। शाक्तो की अभिवृद्धि के कारण देवो की पूजा गौण हो गई। शक्तियो मे काली, दुर्गा और जगदम्बिका की उपासना का महत्त्व बढ गया। मोह-ममता से विरक्त होकर महर्षि मेधा के उपदेश से समाधि ने देवी की आराधना कर, ज्ञान प्राप्त कर, मुक्ति प्राप्त की थी। साधारण जन इस मार्ग को भूल गए। राजा सुरथ की भाँति सभी लोग राज्य पाने तथा सावर्णि मनु जैसे ऐश्वर्य-विशिष्ट बनने के लिए शक्ति-उपासना विशेष रूप से करने लगे।

शिव के शुक्ल वर्ण के अनुरूप उमा, गौरी, सरस्वती तथा लक्ष्मी जैसी गौर वर्ण की देवियाँ पूजा पाने लगीं। प्राय. सात्त्विक प्रवृत्ति के लोगो द्वारा इन देवियो का पूजन किया जाता है। शिव के कालरूप के कारण, जो कृष्णवर्णका

है, काली, चण्डी, दुर्गा तथा चामुण्डा कृष्णा या श्यामलाकृति की पूजा प्रचलित हुई। शिव के १००८ नामों के सदृश, रूप-गुणों में सदृश देवी के भी १००८ नाम ख्यात हो गए।

शक्ति-उपासना में (१) काली, (२) तारा, (३) त्रिपुरा या षोडशी, (४) भुवनेश्वरी, (५) भैरवी, (६) छिन्नमस्ता, (७) धूमावती, (८) मातगी, (९) कमला या कमलात्मिका और (१०) बगलामुखी—इन दस महाविद्याओं का अत्यन्त महत्त्व है। वैष्णव-धर्म के दशावतारों की भाँति इनमें से प्रत्येक के उपासक पृथक-पृथक हैं। इनकी भी पूजा गोपनीय मानी गई है। कहा है—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥
मातङ्गी सिद्धविद्या च कथिता बगलामुखी।
एता दश महाविद्याः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः॥

इनमे कुछ के नाम भिन्न हैं, किन्तु संख्या सर्वत्र दस ही है।

"काली की उपासना अवश्य ही शव, पञ्चमुण्डोपासना, रक्त-पान एवं बलि, विशेषतः सिंह-नर-बलि के कारण अत्यन्त भयानक हो गई है। असम एवं बंगाल मातृ-प्रधान प्रदेश हैं। वहाँ आज भी काली की उपासना में कुछ ऐसी विधियाँ चलती हैं, पर अति अमानवीय होने के कारण इन्हे सर्वस्वीकृति प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार पीडादायक शक्तियों—डाकिनी-शाखिनी—की उपासना भी निम्नस्तर तक ही सीमित रह गई।"[1]

शाक्त सम्प्रदाय मे आश्विन, चैत्र, पौष और आषाढ़ के नवरात्रों, श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी (कालरात्रि), आश्विन-शुक्ल-चतुर्दशी (मोहरात्रि) और शिवरात्रि के पावन अवसरों पर देवी की विशेष पूजा की जाती है। बंगीय सरस्वती-पूजा तथा दुर्गा-पूजा विशेष आकर्षक होती हैं।

तंत्र के तीन प्रधान विभाग हैं—(१) ब्राह्मण-तंत्र, (२) बौद्ध-तंत्र और (३) जैन तन्त्र।

ब्राह्मण-तंत्र उपास्य देव की भिन्नता के कारण अनेक प्रकार का है—(१) सौरतंत्र, (२) गाणपततंत्र, (३) वैष्णवतंत्र, (४) शैवतन्त्र, (५) शाक्ततंत्र। इनमे प्रथम दो का प्रचार नगण्य है। वैष्णव और शैवतंत्र का प्रचार कुछ है। वास्तव में शाक्ततन्त्र ही सर्वव्यापी है।

---

1. शाक्त संप्रदाय : पं० श्री रामप्यारे जी ('कल्याण' : उपासना-अंक, १९६८)

वैष्णवतंत्र—आजकल पाञ्चरात्र ही वैष्णव आगमो का प्रतिनिधि माना जाता है। पाञ्चरात्र का सबंध वेद की एकायन शाखा से है।

पाञ्चरात्र तंत्र-विषयक साहित्य नितान्त विशाल, प्राचीन एवं विस्तृत है, परन्तु उसका प्रकाशित अश अत्यन्त स्वल्प है।

पाञ्चरात्र-संहिताओ के विषय चार हैं—(१) ज्ञान-ब्रह्म = जीव-तत्त्व तथा जगत के आध्यात्मिक रहस्यो का उद्घाटन और सृष्टि-तत्त्व का विशेष निरूपण; (२) योगमुक्ति के साधन भूतयोग तथा योग-सबधी प्रक्रियाओ का वर्णन; (३) क्रिया = देवालय का निर्माण, मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का सागोपाग वर्णन, (४) चर्या = आह्निक क्रिया, मूर्तियो तथा यत्रो के पूजन का विस्तृत विवरण। वैष्णवतत्र पूर्णतया वैदिक है।

शैवतत्र—शैवतत्र की वैदिकता के विषय मे प्राचीन ग्रन्थो मे बडा विवेचन है। कुछ विद्वान शिवागम को वैदिक तथा अवैदिक दो प्रकार का मानते हैं। वैदिकतत्र वेदाधिकारियो के लिए माना गया है।

शैव सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रचार दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश मे है। तमिल-सतो ने जिन शैवतत्रो के तत्त्वो का प्रचार किया, वे शैव-सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं।

काश्मीर मे प्रचलित शैवागम को त्रिकदर्शन के नाम से पुकारते है। इस अद्वैतवादी त्रिकदर्शन का साहित्य बडा विशाल है।

इस प्रकार यद्यपि वैष्णव और शैव तत्रो का भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागो मे भिन्न-भिन्न रूप से प्रचार हुआ है, तथापि केवल शाक्त तान्त्रिको मे ही पञ्च-मकार की प्रधानता है। अतएव साधारण बोलचाल मे तान्त्रिक से शाक्त तान्त्रिको का ही बोध होता है।

शाक्तमत का प्रचार सारे भारत मे है, किन्तु इसके पीठ उड्डीयान (उडीसा), जालधर (पजाब), श्रीशैल (आध्र), कामाख्या (असम), कलकत्ता (प० बगाल) आदि मे मान्य हैं। काठमाण्डू (नेपाल) की गुह्येश्वरी देवी की गणना मुख्य पीठो मे की जाती है।

छठा परिच्छेद

अवतारवाद और मूर्तिपूजा

अवतारवाद भागवत-धर्म की ही देन है। श्रीकृष्ण ने गीता मे जितने निरावरण शब्दो मे अवतारवाद का प्रतिपादन किया है, उतना अन्यत्र उपलब्ध नही होता है। पुराणो मे जहाँ जहाँ अवतारवाद का उल्लेख है, वहाँ वहाँ गीता के शब्दो को ही दुहरा दिया गया है।

मत्स्य, कच्छ, वराह और वामन अवतारो का बीज हमे सर्वप्रथम शतपथ-ब्राह्मण मे मिलता है, किन्तु वामन को छोड़कर और किसी का संबध विष्णु से प्रदर्शित नही किया गया है। किन्तु वास्तव मे वे कथाएँ अवतारवाद की पुष्टि नही करती हैं। वे आलकारिक भाषा मे सृष्टि-तत्त्व और उसके विकास का वर्णन करती है। मत्स्य-संबंधी कथा शतपथ-ब्राह्मण के प्रथम काण्ड, अष्टम अध्याय के प्रथम ब्राह्मण मे आई है। सक्षेप मे कथा इस प्रकार है—[1]

एक दिन प्रात काल जब मनु पानी मे हाथ-पैर धो रहे थे, उस समय एक मछली उनके हाथ आ गई और बोली—"मेरा पोषण करो, मैं तुम्हे पार लगाऊँगी।" मनु ने पूछा कि वह किससे पार लगाएगी। मछली ने कहा—"यह जल-प्रवाह जब समस्त प्रजा को अन्यत्र बहाकर ले जाएगा, उस समय मै तुम्हारी रक्षा करूँगी।" इसपर मनु ने पूछा—"तुम्हारा भरण-पोषण कैसे होगा?" मछली बोली—"जबतक जीव छोटा रहता है, उसको भय रहता है। अत आप मुझे पहले एक बरतन मे पानी भरकर उसमे डाल दे। जब मैं बडी हो जाऊँ, तब गड्ढा खोदकर और उसे पानी से भरकर मुझे उसमे छोड दें और जब उससे भी बडी हो जाऊँ तब समुद्र मे छोड दे। वहाँ पहुँचकर मैं नाश करनेवालों से बच जाऊँगी। जब कालान्तर मे प्रलय होगा तब आप नाव बनाकर मेरा ध्यान करें और नाव मे चढ़ जायें।" मनु ने मछली द्वारा बताई गई तरकीब का अक्षरश: पालन किया और नाव बनाकर प्रलय के आने तक मछली के ध्यान में मग्न रहे। जल-प्रवाह उठने पर वह नाव मे चढ़ गए और एक विशाल मछली नाव के पास पहुँच गई। मछली के अग्रभाग मे नाव का

पाश अटक गया और मछली ने नाव को सुरक्षित उत्तरगिरि हिमालय से लगा दिया। जल-प्रलय मे मनु को छोड सारे प्रजाजन का विनाश हो गया। तत्पश्चात् मनु ने तपस्या की और पुनः प्रजा की उत्पत्ति की।

मत्स्य-विषयक यह कथा वास्तव मे ऐतिहासिक क्रम मे घटित जल-प्रवाह की घटना से संबंध रखती है। इससे मिलती-जुलती कथा कुरान मे (सुर ११ मे) निम्न लिखित रूप मे आई है :[1]

"नूह की ओर वह्य[2] की गई कि जो लोग ईमान ला चुके हैं, उनके सिवा तुम्हारी जाति मे अब कोई ईमान नही लाएगा, तो जो कुछ ये कर रहे हैं, उसके लिए तुम दुःखी न हो, और हमारी निगाहों के सामने और हमारी वह्य के अनुसार एक नाव बनाओ और उन लोगो के बारे मे, जिन्होंने जुल्म किया, मुझसे कुछ न कहना। निश्चय ही वे सब-के-सब डूबनेवाले हैं। नूह नाव बनाने लगा और जब कभी उसकी जाति के सरदार उसके पास से गुजरते, वे उसकी हँसी उडाते। इसपर नूह ने कहा—यदि तुम मुझपर हँसते हो तो हम भी तुमपर हँस रहे हैं। जल्दी तुम जान लोगे वह कौन है, जिसपर अजाब आता है। जब हुक्म आ गया और तनूर उबल पडा[3] तब नाव मे हर किस्म का (जानवरो मे से नर और मादा) एक-एक जोडा चढा लिया गया। जितने इन्सान ईमानवाले थे, उन्हे भी नाव मे जगह मिल गई। नूह ने कहा कि अल्लाह के नाम से नाव को चलना भी है और ठहरना भी है। निस्संदेह रब्ब (पालनकर्त्ता) बड़ा क्षमाशील और दयावान है। और नाव उन्हे लिए

1. यह सुर हजरत नूह से संबंध रखता है। बाइबल और कुरान में ईश्वर के अनेक दूतों (हजरत—prophets) का जिक्र आया है। इनमें हजरत आदम पहले थे और हजरत नूह दूसरे। हजरत नूह का वर्णन कुरान के सुर ७,१०,११,२३,२५,२६,२६,३७,५४ और ७१ में आया है। इस प्रलय का जिक्र सुर ११ की आयत १२३ में आया है।

2. वह्य का अर्थ है आकाशवाणी, ईश्वरीय संदेश।

3. अर्थात् जब अल्लाह ने तुम्हारी हठधर्मी को देखकर तुम्हारे बारे में यही फैसला किया है कि तुम जिस डगर पर चलना चाहते हो, उसी पर तुम्हें भटकने के लिए छोड़ दिया जाएगा।

पहाड़-जैसी ऊँची लहरों के बीच चलने लगी। नूह ने अपने बेटे को पुकारा—'हे मेरे प्यारे बेटे ! हमारे साथ सवार हो जा, तुम काफिरो के साथ मत रह।' बेटे ने कहा—'मैं किसी पहाड़ की शरण ले लेता हूँ, वह मुझे डूबने से बचा लेगा।' नूह ने कहा—'आज अल्लाह के हुक्म से कोई बचनेवाला नहीं है, सिवाय उनके, जिनपर उसकी दया है।' इतने में लहर दोनों के बीच आ गई और वह भी डूबनेवालो मे हो गया। और फिर कहा गया (अल्लाह की ओर से)—'हे भूमि ! अपना पानी निगल जा और हे आकाश ! थम जा।' तो पानी जमीन में बैठ गया और फैसला चुका दिया गया और वह नाव अल-जुदी (नामक पर्वत) पर टिक गई।"[1]

अत यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि मत्स्य-संबंधी कथा, जो शतपथ-ब्राह्मण मे उल्लिखित है, वह जल-प्लावन की ऐतिहासिक घटना से संबद्ध है। इसी प्रकार कूर्म-सबंधी कथा शतपथ-ब्राह्मण, काण्ड ७, अध्याय ५ के प्रथम ब्राह्मण मे आई है। कुछ रूपान्तर के साथ यह कथा जैमिनी-ब्राह्मण ३।२७२ मे भी आई है। वराहवाली कथा शतपथ-ब्राह्मण १४।१।२।११, तैत्तिरीय सहिता ७।१।५।१ तथा वामनवाली कथा शतपथ के पंचम ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के द्वितीय अध्याय मे और तैत्तिरीय संहिता २।१।३।१ में आई है। इस सबध मे डॉ० मुंशीराम शर्मा के इस विचार मे हम सहमत हैं कि ये कथाएँ अवतारवाद के पोषक नही हैं। इन कथाओ मे अवतारवाद की गध भी नही मिलती और शतपथ-ब्राह्मण की मत्स्य, कूर्म, वराह और वामन संबधी आख्यायिकाएँ अवतारवाद के समर्थक नही हैं। विष्णु के अवतार का उल्लेख तो इन कथाओ मे कही पर भी नही है। प्रजापति परमात्मा जब सृष्टि की रचना करता है, तब इस सृष्टि का रूप क्या होता है, इसे कूर्म और वराह की कथाओ द्वारा समझाया गया है।

डॉ० मुंशीराम शर्मा ने बडी ललित भाषा मे अवतारवाद का समन्वय विकासवाद के सिद्धान्त से किया है। "ब्राह्मण-ग्रन्थो की आख्यायिकाओ को भागवत-धर्म की मान्यताओ के अनुकूल इस युग मे विकासवाद की दृष्टि से भी समझाने का प्रयास किया गया है। विकास मे मानव की सृष्टि अन्य सभी

1. कुरान मजीद : हिन्दी-अनुवाद अरबी मूल ग्रन्थ के साथ, पृ० २३१-३२; मकतबा अल-हसनात रामपुर, उ० प्र० द्वारा प्रकाशित।

प्राणियों के पश्चात् हुई है। जल के बाद पृथ्वी निकली, तो प्राणत्व भी प्रथम जल के साथ ही सबधित रहा होगा। प्राणियों मे मत्स्य जल का जीव है। वह स्थल पर नही रह सकता। जल मे ही उसका जीवन निहित है। अत: पुरुष-रूप ब्रह्माण्ड के अवतार के पश्चात् प्राणी-जगत् का प्रथम जीव मत्स्य, प्राणत्व की दृष्टि से, सर्वप्रथम अवतार माना गया। मत्स्य के पश्चात् कूर्म आता है, जो जल और थल दोनो का जीव है। वह पानी मे भी रहता है और पृथ्वी पर भी। अतः विकास की दृष्टि से यह अवतार की दूसरी कोटि मे रखा गया। वराह विशुद्ध रूप से स्थल का प्राणी है, परन्तु कीचड से भी प्रेम रखता है। विकास के प्रथम स्तर का स्नेह कुछ-न-कुछ इसके साथ भी चिपटा हुआ है। अत इसे अवतारवाद की तीसरी कोटि मे रखा गया। नरसिंह एक ओर पशुत्व का द्योतक है, तो दूसरी ओर मनुष्यत्व का। सिंह पशुओ का राजा है। पशुत्व का सर्वश्रेष्ठ अश उसके अन्दर है और साथ-साथ नरसिंह-रूप मे वह नरत्व की ओर झुका हुआ है। पाशव कोटि के ऊपर तथा नर-कोटि से सयुक्त नरसिंह का रूप विकास की दृष्टि से उत्तम माना जाना चाहिए। अतएव यह भी अवतारवाद की कोटि मे सम्मिलित किया गया और इतिहास मे कल्पना के आधार पर नरसिंह-अवतार की कहानी गढ ली गई, जो चमत्कारपूर्ण और कौतूहलवर्द्धक होने के साथ-साथ भगवद्भक्ति का उन्नयन करती है। इसके पश्चात् मानव के स्वरूप वामन जी आते हैं। वह अन्दर लघु एव विशाल दोनो रूपो को छिपाए हुए हैं।

अवतार के स्वरूप के सबध में भागवत-पुराण (११।४।३) मे लिखा है

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥

अर्थात् भगवान ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—इन पाँच भूतो की अपने-आप मे सृष्टि की है। जब वे इनके द्वारा विराट शरीर, ब्रह्माण्ड का निर्माण करके उसमे लीला से अपने अश अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करते हैं (भोक्ता-रूप से नहीं, क्योंकि भोक्ता तो अपने पुण्य के फलस्वरूप जीव ही होता है) तब उन आदिदेव नारायण को पुरुष नाम से सबोधित करते हैं। यही उनका पहला अवतार है। इसी पुरुष से अन्य अवतारो का भी जन्म होता है।

अवतारों की चर्चा सभी पुराणो में तथा महाभारत में आई है; किन्तु अवतारो के नाम और संख्या सबधी विभिन्नता है। यहाँ तक कि श्रीमद्भागवत-

पुराण में ही स्थल-स्थल पर विभिन्नता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। इसके प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय मे २२ अवतारो का वर्णन है। द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय मे २३ और एकादश स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में १६ अवतारो का उल्लेख है। किन्तु दशावतार की भावना सर्वमान्य रही है। महाभारत (शान्तिपर्व ३३९।७७-७८) से ज्ञात होता है कि नारद के यह पूछने पर कि महाप्रभो! किन किन स्वरूपो मे आपका दर्शन (और स्मरण) करना चाहिए, भगवान ने कहा—

> शृणु नारद तत्त्वेन प्रादुर्भावान् महामुने।
> मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामनः॥
> रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की च ते दश।

अर्थात् महामुनि नारद! तुम मेरे अवतारो के नाम सुनो। मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण तथा कल्कि—ये दस अवतार हैं।

किन्तु इसी अध्याय के १०३-४ श्लोको से ज्ञात होता है कि स्वय नारायण ने दशावतारो की कोटि से बलराम को हटाकर 'हंस' का उल्लेख किया है। यथा—

> हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तमः॥ १०३॥
> वराहो नरसिंहश्च वामन राम एव च।
> रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च॥ १०४॥

अर्थात् द्विजश्रेष्ठ! हस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण तथा कल्कि—ये सब मेरे अवतार हैं।

किन्तु आज मत्स्यपुराण के अनुसार जो दशावतार सर्बमान्य हैं, उनमे न हंस है और न बलराम और उनके स्थान पर बुद्ध की गणना अवतारो में की गई है। यथा—

> कर्त्त धर्मव्यवस्थानं सुराणां च प्रणाशनम्।
> बुद्धो नवमको जज्ञे तपसा पुष्करेक्षणः॥
> देवसुन्दररूपेण [illegible]पायनपुर.सर ॥ ४८।२४२

अर्थात् धर्म की रक्षा तथा असुरो के विनाशार्थ नवीं बार भगवान बुद्ध, कमल के समान नेत्रवाले, देव-स्वरूप, [illegible]पायन के पौरोहित्य-काल में उत्पन्न हुए।

श्रीमद्‌भागवत पुराण मे २० अवतारो का उल्लेख करने के बाद बुद्धावतार का उल्लेख आया है, जिसमे कहा गया है कि "उसके बाद कलियुग के आ जाने पर मगध-देश (बिहार) मे देवताओ के द्वेषी दैत्यो को मोहित करने के लिए अजन के पुत्र-रूप मे आपका बुद्धावतार होगा।

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥

इस प्रकार आदिदेव नारायण के अवतारो की सख्या सब पुराणो में एक समान नहीं है। अवतारो का वर्णन भी विशेषत उन्ही पुराणो मे है, जो भागवत-धर्म से विशेष रूप से प्रभावित है।

बुद्ध को अवतार-रूप मे मान्यता बहुत बाद की ज्ञात होती है और मत्स्य तथा भागवत-पुराण के अतिरिक्त बुद्ध का उल्लेख केवल अग्निपुराण (१६।४९) और पद्मपुराण (५।७२, ६।२५०) मे आया है।

अवतारवाद की भावना भागवत-धर्म की ही विशेषता है। अवतारवाद की मोहिनी शक्ति ने भागवत के अतिरिक्त कतिपय अन्य संप्रदायो को भी आकर्षित कर लिया है, जिसके परिणाम-स्वरूप बौद्धो ने महात्मा बुद्ध के अनेक अवतारो का वर्णन किया। गोरख सप्रदायवाले गोरखनाथ को, कबीरपथी कबीर को और सिक्ख गुरु नानक को अवतार मानते हैं।

श्रीमद्‌भागवत-पुराण की यह विशेषता रही है कि महात्मा बुद्ध तथा जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव अवतार की कोटि मे सम्मिलित हो गए है।

समस्त विश्व को भी प्रभु का अवतार माना जा सकता है, पर अवतार वस्तुत' दिव्य जन्म एव कर्म से सबंध रखता है। अत. विशिष्ट गुण-सपन्न व्यक्ति को अवतार-रूप में आदृत करने की प्रणाली प्रचलित हो चली और इस विचार की पुष्टि स्पष्ट रूप से श्रीमद्‌भागवत-पुराण मे और गीता मे आई हुई भगवद्वाणी से होती है। यथा—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥२६॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥२७॥
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥२८॥

अर्थात् भगवान विष्णु ने शौनकादि ऋषियों से कहा—जैसे अगाध सरोवर से हजारों छोटे-छोटे नाले निकलते हैं, वैसे ही सत्त्वनिधि भगवान श्रीहरि के असंख्य अवतार हुआ करते हैं।

ऋषि, मुनि, मनु, देवता, प्रजापति, मनुपुत्र और जितने भी महान् शक्ति-शाली हैं, वे सब के-सब भगवान के ही अंश हैं।

ये सब अवतार तो भगवान के अंशावतार अथवा कलावतार हैं, परन्तु भगवान श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान (अवतारी) ही है। जब लोग दैत्यों के अत्याचारों से व्याकुल हो उठते है, तब युग-युग में अनेक रूप धारण करके भगवान उनकी रक्षा करते है।

इस अवतारवाद की धारणा की पुष्टि स्पष्ट रूप से हमे गीता (४।७-८) से होती है। जब भगवान स्पष्ट शब्दो मे अर्जुन से कहते हैं कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की प्रबलता बढ़ती है, तब (-तब) मैं स्वयं ही जन्म (अवतार) लिया करता हूँ। साधुओं की सुरक्षा के निमित्त और दुष्टों का नाश करने के लिए तथा युग-युग मे धर्म-संस्थापना के लिए मैं जन्म लिया करता हूँ।

भागवत-पुराण मे अवतारों की मान्यता की कुछ भावना दीख पड़ती है। अवतारों मे पूर्णावतार श्रीकृष्ण को ही माना जाता है और उन्हें साक्षात् विष्णु कहा जाता है। श्रीकृष्ण को सोलह कलाओं से युक्त अवतार माना गया है। अतः अवतारवाद, भागवत-धर्म के अभिन्न रूप के साथ प्रारम्भ हुआ, जिसके प्रतिष्ठाता श्रीकृष्ण हुए और इसी कारण श्रीकृष्ण की मूर्ति-रूप में पूजा सर्व-प्रथम प्रचलित हुई। डॉ० शर्मा का विचार है कि "जब योगाचार्य भगवान श्री कृष्ण ने पाञ्चरात्र अथवा भागवत-धर्म को अभिनव रूप प्रदान किया, तब उनके अनुयायियों ने नारायण, विष्णु और कृष्ण में एक ही विभूति के दर्शन किए। अवतारवाद की नींव यहीं से पड़ी।"

ऐसे तो मूर्ति के रूप मे विभिन्न अवतारों की पूजा प्रचलित हो गई और आज प्रायः सभी अवतारों के मन्दिर भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे पाए जाते हैं, किन्तु राम और कृष्ण—दो के व्यक्तित्व सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए। यद्यपि श्रीकृष्ण की पूजा भारत मे भगवान के रूप में राम की पूजा से बहुत पहले आरम्भ हुई और अनेक मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण और प्रतिष्ठापन हुआ, किन्तु राम संबंधी, पुण्यश्लोक राम की, पावन जीवनगाथा जितनी

लोकप्रिय और आकर्षक रही है, इसका प्रमाण जावा, सुमात्रा तथा कम्बोज के मन्दिरों एवं प्रस्तर-खण्डों पर खुदी हुई राम-जीवन की घटनाएँ और मैक्सिको का राम-सीतोत्सव हैं।

विद्वानों का विचार है कि अवतार-रूप में राम की उपासना कृष्ण की उपासना के बाद प्रचलित हुई। ज्ञात होता है कि वाल्मीकीय रामायण ने अपना प्रचलित रूप ईसा की दूसरी शताब्दी तक प्राप्त कर लिया था, क्योंकि इसके बाल और उत्तर-काण्डों में राम को स्पष्ट रूप से ईश्वर का अवतार माना गया है और अन्य काण्डों मे जहाँ-जहाँ भी राम के अवतारी होने के संबध मे श्लोक आए हैं, उन्हे विद्वान प्रक्षिप्त मानते हैं। कृष्ण की भक्ति और उसके फलस्वरूप मूर्ति की स्थापना को प्रश्रय सर्वप्रथम निम्बार्काचार्य और बाद मे वल्लभाचार्य आदि से मिला। किन्तु राम की भक्तिभावपूर्वक पूजा का प्रचार भारत में दसवीं शताब्दी के अनन्तर ही हो पाया। भण्डारकर महोदय के मतानुसार आचार्य मध्व (स्वामी आनन्द तीर्थ) बदरिकाश्रम से राम की प्रतिमा लाए और सन् १२६४ ई० के लगभग उन्होंने नरहरि तीर्थ को राम और सीता की प्रतिमाएँ लाने के लिए जगन्नाथपुरी भेजा। अतः डॉ० शर्मा का विचार है कि ग्यारहवी सदी के आसपास राम-सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ होगा। फिर डॉ० शर्मा आगे कहते हैं कि "स्वामी रामानन्द के साथ राम-भक्ति गंगा-देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रवाहित होने लगी और पूर्णावतार का जो पद भगवान श्रीकृष्ण को प्राप्त था, वही पद-मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी प्राप्त हो गई। जनता की अभिरुचि तथा आचार्यों की विश्लेषण-बुद्धि मे कितना अन्तर है ! वासुदेव कृष्ण, जिन्हे साक्षात् भगवान घोषित किया गया था, एक प्रदेश तक सीमित रह गए थे, परन्तु राम, जो केवल स्वरूपावेश अवतार के अपेक्षाकृत हीन कोटि मे रखे गए थे, जन-जन के मानस मे प्रतिष्ठित हो गए।" उत्तर भारत में राम के अवतार-रूप मे प्रतिष्ठा पाने और अनेक मन्दिरो मे राम-मूर्ति की स्थापना का श्रेय विशेषतः संत तुलसीदास को है, जिनके 'रामचरितमानस' ने रामावतार की कथा को हिन्दी-भाषाभाषी क्षेत्र मे घर-घर फैला दिया और राम कथा जनजीवन का विशिष्ट अंग बन गई।

सातवाँ परिच्छेद

जैन-धर्म और मूर्ति-पूजा

जैन-धर्म में मूर्ति-पूजा कब से चली, इसका इतिहास लुप्त है। फिर भी यह अर्वाचीन भी नही है। अंतिम तीर्थंकर के बाद ही यह चल पडी। मूर्ति और मूर्ति-गृह के जो चैत्य ओर चैत्यालय हैं, वे इस बात के सूचक हैं कि मूर्ति चिता-परक स्मारक है।

मूर्ति पूजा का विधान महावीर स्वामी ने नही किया, इसलिए मूर्ति-पूजा अनुचित नही कही जा सकती। कोई महात्मा अपने स्वागत की बात नहीं कहता तो उसका स्वागत करना पाप नही कहा जा सकता। सच पूछा जाय तो यह संप्रदाय का प्रश्न नही है, बल्कि योग्यता का प्रश्न है। जिसकी आत्मा विकसित है, उसे मूर्ति-पूजा की जरूरत नही है। जिसकी आत्मा विकसित नही है उसे मूर्ति पूजा सहारा दे सकती है।

अपने-अपने पक्ष के समर्थन मे दोनो पक्ष मिथ्या युक्ति का सहारा लेते हैं। मूर्ति-पूजक लोग उसे जैन-धर्म के प्रारम्भ मे सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं और मूर्ति-विरोधी लोग मूर्ति-पूजा को, अर्हत की कही हुई नही होने के कारण अनुचित बताते है। मूर्ति-पूजकों को समझना चाहिए कि साधारण लोगो के लिए मूर्ति आवश्यक होने से वह उपादेय अवश्य है; किन्तु इसीलिए वह जिनोक्त नही कही जा सकती। और, मूर्ति-विरोधियो को समझना चाहिए कि मूर्ति पूजा जिनोक्त नही है, इसलिए अनुचित नहीं कही जा सकती। इन दोनो विचारो पर कक्षाएँ बनानी चाहिए, न कि संप्रदाय।

मूर्ति पूजा का विरोध मुसलमानो के आक्रमण का फल है। उस समय मूर्ति को हटाने मे धर्म सुरक्षित रह सकता था तथा अप्रभावना से भी पिण्ड छूटता था। सिक्ख-सम्प्रदाय ने इसीलिए मूर्ति पूजा को स्थान नहीं दिया। वहाँ ग्रन्थ-पूजा का प्रचार हुआ। जैनियो के दोनों संप्रदायों (श्वेताम्बर और दिगम्बर) मे मूर्ति-विरोधी उप-संप्रदाय खड़े हुए। श्वेताम्बरों में

'स्थानकवासी' संप्रदाय हुआ और दिगम्बरों मे 'तारण-पंथ' । स्थानकवासी संप्रदाय ने अच्छी उन्नति की । आज यह संप्रदाय जन-संख्या तथा धन-बल आदि में मूर्ति-पूजक श्वेताम्बरो के बराबर है । दिगम्बर सम्प्रदाय का तारण-पंथ उतनी उन्नति नहीं कर पाया । इस संप्रदाय ने मूर्ति को हटाकर मूर्ति के स्थान पर शास्त्र को बिठलाया । एक तरह की मूर्ति-पूजा हट गई और दूसरी तरह की मूर्ति पूजा चल पडी या रह गई ।

एक समय था कि जैन-धर्म मे यापनीय सम्प्रदाय पनप उठा । दिगम्बर संप्रदाय ने मूर्ति को हटाकर शास्त्र (ज्ञान) पर जोर दिया और श्वेताम्बरो ने महावीर के चरित्र पर । किन्तु यापनीय ने दोनो पर जोर दिया । आज श्वेताम्बरों के साथ-साथ अनेक दिगम्बर भी मूर्ति के पूजक हैं और उनके भी विशाल मन्दिर हैं । राजगृह (बिहार-राज्य) के मन्दिरो और उनमे स्थित मूर्तियों के अधिकार एव पूजा के सबंध में इन दोनो संप्रदायो—श्वेताम्बर और दिगम्बर—के बीच का मुकदमा लन्दन मे प्रिवी-कौसिल तक चला । मुकदमे के निर्णय के अनुसार दोनो संप्रदायो का समान अधिकार हुआ ।

भारत में जैन-मन्दिरो की सख्या काफी है । सन् १९५३ ई० मे अहमदाबाद से सेठ आनन्दजी कल्याणजी के द्वारा प्रकाशित 'जैनतीर्थ सर्वसग्रह' नामक ग्रन्थ से—जो तीन जिल्दो मे छपा है—ज्ञात होता है कि सिर्फ श्वेताम्बर जैन-मन्दिरों की सख्या ४,४०० है । इनमे लगभग दो हजार मन्दिर गुजरात राज्य और कच्छ मे और १,१०० केवल राजस्थान राज्य मे तथा १,३०० भारत के विभिन्न अचलों मे हैं ।

सम्मेद शिखर (पार्श्वनाथ पहाडी) सबमे महान तीर्थ है । यहाँ चौबीस तीर्थंकरो मे बीस ने कैवल्य प्राप्त किया था । यहाँ मन्दिरो को सख्या भी काफी है । यह स्थान दोनो सम्प्रदायो को समान रूप से मान्य है ।

मूर्तियों की सख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान पालीताना का है । यह नगर तो मन्दिरों का ही नगर है । किन्तु, यह केवल श्वेताम्बर जैन-तीर्थ है ।

इसी प्रकार भारत की सबसे विशाल जैन-मूर्ति (गोम्मटेश्वर की मूर्ति) श्रवण-बेल गोला मे है, जो ५७ फुट ऊँची है । यह केवल दिगम्बर जैन-तीर्थ है ।

जैन-धर्मावलंबी विशेषत· धनी हैं। अतः सभवतः सभी जैन-मन्दिर भव्य और कलापूर्ण हैं। दिलवारा (आबू पर्वत) का जैन-मन्दिर तो विश्व-प्रसिद्ध है। यहाँ के सिर्फ दो मन्दिरो—ऋषभनाथ और नेमिनाथ—के निर्माण मे क्रमशः १२ और १८ करोड रुपये सन् १०८८ और १२८७ ई० मे लगे थे। इन अत्यन्त कलापूर्ण मन्दिरो मे संगमरमर के कडे पत्थर को कुशल कारीगरो ने मोम की भाँति नरम बनाकर जो बारीक और सुन्दर कोरनी की है, उसे देखते ही बनता है। यह आश्चर्य होता है कि उन दिनों जयपुर मे संगमरमर-पत्थर की विशाल शिलाएँ किस प्रकार पहाड के उच्चतम शिखर पर पहुँचाई गई।



आठवाँ परिच्छेद

बौद्धधर्म-और प्रतीक-पूजा

भगवान बुद्ध की मृत्यु पर उनकी अस्थि और भस्म को आठ भागों में बाँटकर चैत्यों का निर्माण हुआ। इनमें वैशाली के लिच्छवि, अल्लकाप के बुल्ली और मगध के सम्राट् अजातशत्रु प्रमुख थे। चम्पारन (बिहार) के मारियों ने भी बुद्ध के भस्मावशेषों पर चैत्य तैयार करवाए थे। इन चैत्यों में कैसी कारीगरी शिल्पियों ने की, कितना व्यय हुआ और इनकी क्या महत्ता थी, इन सबका पता राजगृह के चैत्य-निर्माण से चलता है। इस चैत्य के निर्माण का वर्णन दीर्घनिकाय के परिनिब्बानसुत्त की अट्ठ-कथा में बुद्धघोषने किया है।

सम्राट् अशोक ने भगवान बुद्ध की मूर्ति बनवाकर स्थापित नहीं कराई, इसका मुख्य कारण यह था कि अशोक हीनयान सम्प्रदाय को माननेवाला था। हीनयान में बुद्ध-मूर्ति का निर्माण वर्जित है। इस सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध के प्रतीकों (चैत्यों) की ही पूजा की जा सकती है, जैसे वज्रासन, वृक्ष, उष्णीप, चक्र, स्तूप, पदचिह्न, चक्रमस्थान आदि। भगवान बुद्ध ने परिनिर्वाण-काल में प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि मेरे निर्वाणोपरान्त मेरी धातुओं की पूजा हो, मेरी मूर्ति की नहीं।[1] अतः आरम्भ में इन्हीं वस्तुओं का आदर हुआ करता था। ईसवी सन् के प्रारम्भ में महायान-मत का प्रचलन होने पर गौतम बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की उपासना आरम्भ हुई। कलकत्ता के अजायबघर में बुद्ध की सबसे पुरानी मूर्ति सुरक्षित है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वह ईसवी सन् १४२ की बनी हुई है।

कनिष्क के समय (पहली सदी ई० पूर्व) के कुछ पूर्व ही बौद्धधर्म के एक नवीन सम्प्रदाय का सूत्रपात हो चुका था, जो आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस संप्रदाय का नाम महायान था। 'महायान' ने जीवन का एक ऊँचा आदर्श जनता के सम्मुख रखा, जिसके अनुसार कोई भी चीज ऐसी नहीं हो सकती,

1- परिनिर्वाण-सूत्र

जिसे प्राणिमात्र के हित के लिए अदेय समझा जा सके। इस चरम साधना के लिए महायान ने बोधिसत्त्व-जीवन का उपदेश दिया। बोधिसत्त्व का तात्पर्य है—दूसरों के कल्याण के लिए अपने देश, घर तथा सुख का परित्याग। अन्धे को दृष्टिदान करने के लिए अपनी आँखें निकालकर देना, भूखे बाघ को अपना शरीर देकर उसकी क्षुधा को शान्त करना—इस संप्रदाय के माननेवाले अपना परम धर्म समझते हैं। दूसरो के हित के लिए अपनी स्त्री और बच्चों का उत्सर्ग कर देना और परोपकार के लिए कष्ट को कष्ट नही समझना, यह उनका उद्देश्य है। बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व सिद्धार्थ गौतम ने बोधिसत्त्व के रूप में अनेक जन्म लिए थे। मनुष्य-जीवन का आदर्श यही है कि वह दुःखतप्त प्राणियों के कष्ट को नाश करने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करे, बोधिसत्त्व के रूप मे जीवन व्यतीत करे, और अन्त मे बुद्धत्व प्राप्त कर अपना निर्वाण कर ले। बोधिसत्त्व का जीवन भिक्षु और गृहस्थ दोनो ही अपना सकते हैं। इसके लिए भिक्षु व्रत ग्रहण करना अनिवाय नही है। बोधिसत्त्व का पद पाने के लिए मनुष्य को दस गुण—जिन्हें महायान संप्रदाय के अनुयायी 'पारमिता' कहते हैं—अपने मे विकसित करने चाहिए। ये दस पारमिताएँ (१) दान, (२) शील, (३) शान्ति, (४) वीर्य, (५) ध्यान, (६) प्रज्ञा, (७) उपाय, (८) कौशल्य-प्रणिधान (९) बल और (१०) ज्ञान हैं। इन गुणों को विकसित करके ही मनुष्य बोधिसत्त्व बन सकता है और अनेक जन्मों मे बोधिसत्त्व का जीवन व्यतीत करते हुए अन्त मे बुद्धत्व प्राप्त करने में समर्थ होता है।

महायान सम्प्रदाय ने बुद्ध को लोकोत्तर प्रतिपादित करना आरम्भ कर दिया था। जनता मे किसी लोकोत्तर शक्ति की भक्ति करने की भावना बहुत प्रबल होती है। उस समय भारत मे अनेक संप्रदाय प्रचलित थे। उनमें से भागवत और वैष्णव सप्रदाय के अनुयायी भक्ति को बहुत महत्त्व देते थे। सर्वसाधारण लोग किसी सत्ता की भक्ति करना चाहते हैं, जो लोकोत्तर हो और जिसको देखकर उच्च भावनाएँ उदित हो। महायान के प्रतिपादको ने बुद्ध के स्वरूप को ही जनता के सम्मुख उपस्थित किया। उन लोगों ने बुद्ध की मूर्तियाँ बनवानी आरम्भ कीं और वे उन्हें चैत्यों में प्रतिष्ठित करना बहुत महत्त्व की बात समझते थे। महासांघिक संप्रदाय की ऐसी प्रवृत्ति पहले विद्यमान थी और महायान से इसे नया बल मिला और यह विकसित हुआ।

बोधिसत्व की कल्पना महायान सम्प्रदाय की विशेषता है। बुद्ध ने अनेक जन्म ग्रहण कर बोधिसत्त्व का जीवन बिताया और पारमिताओ को प्राप्त किया। अत यह प्रत्येक मनुष्य के लिए आदर्श है। बुद्ध के इन पूर्व-जन्मों का वृत्तान्त जातक-कथाओ मे वर्णित है। हीनयान सम्प्रदाय मे बोधिसत्त्व को कोई स्थान प्राप्त नही है। उसने भिक्षु-जीवन को ही महत्त्व दिया है। महायान के अनुसार अनेक व्यक्ति बोधिसत्त्व बनकर परोपकार मे प्रवृत्त रहें, ऐसा विधान है और ऐसे व्यक्ति अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं और उनकी प्रायः वही स्थिति होती है, जो पौराणिक हिन्दू-धर्म मे देवताओं की है। वे चैत्यो मे इनकी मूर्तियाँ भी स्थापित करने लगे और बुद्ध के समान इनकी पूजा करने लगे। बोधिसत्त्वो मे अवलोकितेश्वर, मंजुश्री, वज्रपाणि, सामन्तभद्र, आकाशगर्भ, महास्थानप्राप्त, भैष्यराज और मैत्रेय प्रमुख है।

श्री निखिलेश शास्त्री का कथन है कि उपासना के क्षेत्र मे देवताओ की अपेक्षा देवियो को हिन्दू-धर्म मे कही अधिक उच्च स्थान दिया गया है। इसी आस्था पर बौद्ध-धर्म मे देवियो को उच्च मान्यता मिली है। इनमे देवी तारा का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। ८वी और १२वी शताब्दी तक यह देवी बौद्ध-धर्म मे अत्यन्त लोकप्रिय हो गई। तभी से तारा के सम्मान मे जगह-जगह मन्दिर बनवाए गए और घर-घर प्रतिमाएं पूजी जाने लगी।[1]

भारत के तान्त्रिक बौद्धो ने देवी तारा को अतिशय सुन्दर और उदार माना है। यह उनका शान्त रूप है। इस रूप मे तारा हिन्दुओ की देवी लक्ष्मी जैसी प्रतीत होती हैं। जब तारा रौद्र रूप धारण करती है तब वे दुर्गा के सदृश लगती हैं। तारा के शान्त एव रौद्र रूपो के आधार पर बाद मे तान्त्रिक बौद्धों ने २१ रूपों की कल्पना की और विभिन्न वर्ण और नाम लेकर विवेचन किया। तारा के विभिन्न वर्णों मे श्याम, सित, पीत, नील एव रक्त वर्ण भक्तों को बहुत प्रिय हैं।

इन विभिन्न वर्णों की ताराओं में श्याम तारा प्रमुख है। बौद्ध तान्त्रिकों ने श्याम तारा को शान्त रूप मे प्रकट किया है। प्रतिमाओ मे श्याम तारा को अभिनव यौवन से युक्त तथा नाना अलंकारों से विभूषित दिखाया गया है। उनकी

1. श्री निखिलेश शास्त्री : विविधरूपा बौद्ध-देवी (कादम्बिनी मई, १९६९)

उपासना स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य की रक्षा के लिए करती हैं। तांत्रिक बौद्धों ने उन्हें धनदायिनी देवी के रूप में माना है और 'ॐ तारे तुत्तारे तुरे धनं ददे स्वाहा' मंत्र भी कहा है। कहा जाता है कि इस मंत्रोच्चारण से तुष्ट होकर देवी भक्तो को अतुल द्रव्य प्रदान करती हैं। इसलिए उन्हें धनदा तारा कहा गया है।

वर्ण के आधार पर तारा का दूसरा रूप है, सिततारा। बौद्धधर्म में सिततारा पतिव्रता की देवी मानी गई हैं। प्रतिमाओं में ये अपने अर्धांग बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के साथ उपस्थित की गई हैं। विचित्र रंगों के वस्त्र एवं अलंकार पहने हुए यह देवी स्वरूप से अति आकर्षक हैं।

बौद्ध तंत्र में सिततारा के अनेक रूप हैं। इनमें महाचीन तारा बहुत विख्यात है। बौद्धो ने इस देवी को रौद्र रूप प्रदान किया है और उग्रतारा की संज्ञा दी है। इस देवी की अनेक प्रतिमाएँ नेपाल मे भी हैं।

वर्ण के अनुक्रम मे तारा का तीसरा वर्ण पीत है, जिसमे वज्रतारा प्रमुख है। तान्त्रिको को यह देवी बहुत ही प्रिय है, क्योंकि उनके अनुसार इसकी किसी भी रूप मे उपासना की जाने पर यह अवश्य सिद्धि प्रदान करती है। कहा जाता है कि यदि एक वस्त्र के छोर पर गाँठ बाँधकर कोई व्यक्ति 'ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा' मन्त्र का सात बार उच्चारण करे तो वह व्यक्ति निर्भय होकर किसी भी दुर्गम स्थान मे जा सकता है।

पीततारा का एक और रूप प्रसन्न-तारा है। आकृति से सौम्य होने के कारण इन्हे अमृतमुखी और अमृतलोचना भी कहा गया है। इनके चेहरे पर हल्की-सी मुसकान है। देवी का चतुर्थ वर्ण नील वर्ण है। इनका सौन्दर्य अनुपम है, पर जब ये रौद्र रूप धारण करती हैं, तब इन्हे एकजटा-तारा या विद्युज्ज्वाला-कराली कहा जाता है।

देवी के पाँच वर्णों मे अंतिम रक्त वर्ण है। बौद्ध-तंत्र में इस वर्ण में देवी तारा केवल एक रूप में मिलती है और वह कुरुकल्ला कही गई है। बौद्धों का विश्वास है कि इस देवी का मनुष्य के हृदय से घनिष्ठ संबंध है। यह देवी बिरही प्रेमियो को उनके प्रियजनों से मिलाकर प्रसन्न करती है। बौद्धों की धारणा है कि प्रत्येक नवयुवक को इस देवी की आराधना करनी चाहिए।

वस्तुतः तारा बौद्ध-तान्त्रिकों की शक्तिरूपिणी देवी हैं, जिन्हें इन तांत्रिकों ने निर्वाण की प्राप्ति के लिए इष्ट माना है।

बौद्ध-मूर्तिकला के विकास के लिए गुप्तकाल बहुत प्रसिद्ध है। इस काल की मूर्तियाँ भारतीय कला की मुकुटमणि है। किन्तु इस काल मे हीनयान सम्प्रदाय का ही बोलबाला था। तबतक महायान पनप नही सका था। अतः बुद्धमूर्ति-निर्माण के नमूने कम मिलते हैं।

कुषाण-काल तो बौद्ध-शिल्पकला के उत्थान का स्वर्णयुग है। इस काल में महायान-सम्प्रदाय पूर्ण विकसित हो गया था। बुद्ध की पूजा के लिए प्रतिमाएँ बनने लगी थी। मूर्तिकला-विशारदो का कहना है कि भगवान बुद्ध की शुद्ध प्रतिमा का निर्माण मथुरा और अमरावती मे साथ-साथ हुआ। मथुरा की बुद्ध-मूर्ति भारतीय कला का उत्कृष्ट एव विशुद्ध रूप है, जिसमें मगध का यक्ष यक्षिणी मूर्ति का साम्य, मृदुलता और पौष्टिकता का अनुपम निखार हुआ है। बिहार-राज्य मे बुद्ध की जो पहली मूर्ति बनी, वह बोधगया मे मिली है। श्रावस्ती की मूर्ति की तरह यह भी मथुरा के लाल पत्थर की बनी है। इस मूर्ति के निर्माता का नाम विक्रम था। कनिंघम ने इस मूर्ति का निर्माण-काल दूसरी शताब्दी माना है। किन्तु मूर्ति पर जो प्राकृत भाषा का अभिलेख मिला है, उसके आधार पर श्री बेणीमाधव बरुआ ने इसे दूसरी और तीसरी शताब्दी के बीच की कहा है। किन्तु इसी लेख के आधार पर श्री रामप्रसाद चन्दा ने इसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की बतलाया है। जो भी हो, पर इस मूर्ति की आकृति की शान्ति एव कान्ति गुप्तकालीन ही जान पडती है।[1]

गुप्तकाल मे निर्मित बौद्ध-विहार, सघाराम और बुद्ध तथा अन्य बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रचुर और प्रसिद्ध हैं। बोधगया का मन्दिर इस काल की भास्कर्य-कला की अनुपम देन है। इसका वर्णन फाहियान और ह्वेनसांग ने भी किया है। मन्दिर के प्रागण मे स्थित अनेक मूर्तियो की चर्चा वे करते है, जिनमे अनेक आज भी देखी जा सकती हैं। इनके कथनानुसार चूने और बालू-मिट्टी की बनी अनेक मूर्तियाँ बोधगया के मन्दिर के ताखो पर प्रतिष्ठित थी। उसने बोधिवृक्ष के पश्चिम एक बुद्ध-मूर्ति देखी थी, जो काँसे की बनी थी और उसमे कीमती नगीने जडे हुए थे। गया के कपोत-विहार के समीप ही एक पहाडी पर भी बौद्ध-मन्दिर देखा था, जिसमें शान्त, गम्भीर मुद्रा मे अवलोकितेश्वर की एक प्रभावशालिनी मूर्ति स्थापित थी।

1. श्री हवलदार त्रिपाठी : बौद्धधर्म और बिहार, पृ० २०५

सारनाथ के धम्मेक-स्तूप और चक्र-प्रवर्तन की मुद्रावाली बुद्ध-मूर्ति भी गुप्त-काल की ही कृति है। सारनाथ सग्रहालय में रखी ३०० बुद्ध-मूर्तियाँ भी गुप्त-काल की मानी गई हैं। गुप्तकाल मे मूर्ति-निर्माण के तीन केन्द्र—पाटलिपुत्र, मथुरा और सारनाथ थे। ये कला के अनुपम आदर्श स्थल थे।

पाल-युग मे बौद्ध-मातृदेवियो की भी प्रचुर परिमाण में मूर्तियाँ बनी और भगवान बुद्ध की करुणामय मुखाकृति एवं सुडौल अगों का कलात्मक प्रदर्शन हुआ। पाल-काल मे इस वश के राजाओ की राजधानी ओदन्तपुरी (बिहार-शरीफ) थी, जो आज नालंदा जिले का मुख्यालय और समृद्ध नगर है। पाल-काल में यहाँ मूर्तियो की भरमार थी। यहाँ भी एक मूर्ति प्राप्त हुई है, जो ललितासन मे है और वह लोकनाथ की मूर्ति है। पाल-काल में निर्मित नालन्दा में अवलोकितेश्वर की जो एक मूर्ति मिली है, वह विष्णु-मूर्ति की तरह चतुर्भुजी है। बौद्ध-देवताओ की मूर्तियो की एक यह भी विशेषता है कि हिन्दुओं के सभी सप्रदायो के देवताओ के विभिन्न रूप उनमे दर्शाए गए हैं।

सुतरा, अशोक के बाद बडी शीघ्रता से मन्दिरो का निर्माण और मूर्तियो की स्थापना होने लगी। अशोक-काल तक बुद्ध को मान्यता गुरु, पूज्य, सस्थापक और महात्मा के रूप म थी, पर वे उपास्य देव नही थे। निर्वाण की प्राप्ति तबतक धर्म-पालन से समझी जाती थी। अलबत्ता उनकी अस्थियो आदि पर स्तूप स्थान-स्थान पर बने थे। परन्तु पीछे चलकर बुद्ध की ही नही, बल्कि बोधिसत्वो, देवी तारा आदि की भी मूर्तियाँ बनने लगी और परिणाम-स्वरूप चीन, बर्मा, जापान, कोरिया, तिब्बत, तुर्किस्तान, खोतान, स्याम, अनाम, कम्बोडिया, जावा, लका आदि दूर-दूर के देशो मे भी बुद्ध, बोधिसत्वों, तारा, आदि की स्वर्ण, रजत, ताम्र, काँसा, प्रस्तर आदि से निर्मित प्रतिमाएँ पूजी जाने लगी।



तीसरा खण्ड

पहला परिच्छेद

संतमत और गुरु-पूजा

संतमत की परिभाषा

भारत के धार्मिक इतिहास मे संतमत का एक विशिष्ट स्थान है। 'संत' शब्द का मतलब है—'आत्मज्ञान' अथवा उच्चतम श्रेणी के आत्मतत्त्ववेत्ता एवं अनुभवी महापुरुषो का बताया हुआ साधन या मार्ग।

सभी महापुरुष जो आज दिन तक आए या जो आज मौजूद हैं, यह सवाल हमारे सामने लाते हैं—"वह कौन-सी विद्या या ज्ञान है, जिसके जानने से सब कुछ जाना हुआ-सा हो जाता है ?" और साथ ही इस सवाल का जवाब भी देते हैं कि वह अपने-आप का, मानव-देह के निवासी, अविनाशी आत्मा का ज्ञान है, जिसके जानने से सब कुछ जाना हुआ-सा हो जाता है। सतमत अधविश्वास नही सिखाता। वह व्यक्तिगत अनुभव की, हरएक के करने की विद्या है। जो मान्यता या धारणा व्यक्तिगत अनुभव से सिद्ध-प्रमाणित न हो सके, उसका मूल्य नही। इसलिए सत कहते है कि अपनी आँखो से देखो, अपने कानो से सुनो, दूसरो की देखी-सुनी पर न जाओ।

सतमत का सिद्धान्त

सतमत पिण्ड (मानव-देह) को खोजने की, जड-चेतन की ग्रन्थि को खोलने की, चेतन (आत्मा) को जड (शरीर) मे अलग करके उसको अनुभव करने की विद्या है। किन्तु सतमत कहता है कि परमात्मा को जानने से पहले अपने-आप को, अपनी आत्मा को जानना होगा। वह प्रभु महाचेतनता का समुद्र है, और यह आत्मा उसका अग है—यह भी चेतन-स्वरूप है। चेतन को चेतन ही जान सकता है।

संतमत का सिद्धान्त है कि गुरु के बिना बाहरी ज्ञान भले ही हो जाए, किन्तु गूढार्थ का प्रकाश संभव नही है। अत सतमत की साधना के क्षेत्र मे दो ऐसे तत्त्व हैं, जिनका बहुत महत्त्व है। वे हैं गुह्यतत्त्व और गुरुतत्व। इसका सिद्धान्त है कि सभी व्यक्ति ब्रह्मज्ञान के अधिकारी नही हैं, और योगादि का

अभ्यास बिना गुरु के निर्देशन के सभव नहीं है। यही कारण है कि अनेकानेक संतमतों का साहित्य अभी अप्रकाशित पड़ा हुआ है।

संतों का एकेश्वरवाद अद्वैतवाद को आधार मानकर चलता है; चाहे शाकर अद्वैत हो, या शैव अद्वैत हो; चाहे सगुणवादी वैष्णवों का अद्वैत हो, या निर्गुणवादी संतो का अद्वैत हो—सबके मूल मे मुख्यतः उपनिषदें हैं। अद्वैत ही नहीं, संतमत की प्राय सभी मान्यताएँ उपनिषद्-युग मे मूर्त्त रूप धारण कर चुकी थी। कर्म, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप, न्यायकृत कर्मनाश आदि संतो के सिद्धान्त अति विस्तृत रूप मे उपनिषदो मे विद्यमान हैं।

संतो ने ब्रह्म को निर्गुण माना है और इसलिए हम जब कभी निर्गुण-भक्ति की चर्चा करते हैं, उसके द्वारा संतमत की ओर संकेत करते हैं। यद्यपि सगुण राम अथवा कृष्ण के उपासक सूर, तुलसी, मीरा आदि भी सत थे, तथापि 'संत' शब्द धीरे-धीरे निर्गुणवादी साधको तथा महात्माओ के अर्थ मे रूढ़ होता चला आया है। संतो ने वैष्णव-भक्ति से प्रभावित होकर निर्गुण-भावना के क्षेत्र मे 'राम' का व्यापक रूप से अगीकरण किया है। किन्तु उन्होंने 'राम' को सगुण न मानकर निर्गुण माना है। उन लोगो ने अवतार-वाद के प्रति अनास्था प्रकट की है, क्योकि अवतार ग्रहण करने का अर्थ है निर्गुण का सगुण रूप धारण करना।

संतमत में गुरु का स्थान :

संतमत मे गुरु का प्रमुख स्थान है। योगियो की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आती है। इसमे भी गुरु का विशिष्ट स्थान है। अपने शरीर के विभिन्न अगो पर प्रभुत्व जमाकर उनपर प्राप्त विजय द्वारा प्राकृतिक शक्तियो को भी वश मे लाना सभव हो जाता था। तदनुसार हम उस काल के साधको में से बहुतो को भिन्न-भिन्न प्रकार की तपश्चर्या मे निरत पाते हैं। तप के द्वारा उस समय एक अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होना समझा जाता था। परन्तु यह कहना अत्युक्ति नही होगी कि हठयोग का वास्तविक प्रचार नाथयोगी सप्रदाय द्वारा हुआ। नाथयोगी संप्रदाय के प्रारम्भिक इतिहास का कुछ पता नहीं चलता। बहुतो की धारणा है कि इसके मूल प्रवर्त्तक गुरु गोरखनाथ थे, जिन्होंने सर्वप्रथम कनफटा योगियो की परम्परा चलाई थी और हठयोग की साधना का प्रचलन किया था। इसमे संदेह नहीं कि गुरु गोरख-

नाथ योगी-संप्रदाय के सर्वप्रथम नेता थे। वास्तव में इसे सुसंगठित करने एवं सुव्यवस्थित रूप देने में सबसे अधिक हाथ इन्हीं का था। इसके लिए इन्होंने कई स्थानों पर केन्द्र स्थापित किए और वहाँ योग्य शिष्यों को प्रचार के लिए नियुक्त किया। तदनुसार प्रसिद्ध है कि इनके यत्नों के प्रभाव के कारण इसकी अनेक भिन्न-भिन्न शाखाएँ चल निकलीं, जिनमे (१) भुवनेश्वर का सत्यनाथ-पंथ, (२) कच्छ का धर्मनाथ-पथ, (३) गगा-सागर का कपिलानी पथ, (४) गोरखपुर का रामनाथ-पंथ, (५) झेलम (पाकिस्तान) का लक्ष्मणनाथ-पथ, (६) राथाडूगा (पुष्कर-क्षेत्र) का वैराग्य पंथ, (७) जोधपुर का मीमनाथी उर्फ पावनाथ-पथ, (८) दिनाजपुर का आई पथ, (९) गुरदासपुर (पंजाब) का गगानाथ-पथ, (१०) अबाला का ध्वजनाथ-पथ, (११) बोहर (प्राचीन इन्द्र-प्रस्थ) का पागल-पथ और (१२) रावलपिण्डी (पाकिस्तान) का रावल या नागनाथ-पथ अधिक प्रसिद्ध हैं। रावल-पथ मे अधिकतर मुसलमान योगी थे। गोरखनाथ जी के मन्दिर विभिन्न स्थानों में हैं, जिनमे उनकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। इनमे गोरखपुर और हरिद्वार के गोरखनाथ-मन्दिर प्रसिद्ध और दर्शनीय हैं।

इस प्रकार यद्यपि शाक्तमत तथा नाथ-संप्रदाय मे गुरु की महत्ता और उपादेयता कबीर साहब के जीवन-काल के पूर्व से ही भारत मे प्रचलित थी, तथापि संतमत की जो धारा प्रवाहित हो रही है, उसका वेग संत कबीर से आरम्भ होकर अबाध रूप से लगभग ५०० वर्षों से जारी रहा है और गुरुपूजा संतमत का प्रधान अंग हो गई है। समस्त परवर्ती संत कबीर साहब के सिद्धान्त से प्रभावित हुए है। नानक, दादू, रैदास, रज्जब, सुन्दरदास, धरणी-दास, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, पलटूदास, मलूकदास आदि के अतिरिक्त सरभंग (अघोर-मत) के संत किनाराम, भिनकराम, भीसमराम, टेकमनराम, सदानन्द बाबा आदि ने अपने-अपने समय मे इस धारा को पुष्ट किया।

सरभंग या अघोरमत में भक्ष्याभक्ष्य का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता और मद्य मांस आदि गर्हित नहीं माने जाते। यह वाममार्ग का एक रूप है। वाम-मार्ग को कौलमार्ग भी कहा जाता है, क्योंकि 'कुल' नाम है कुण्डलिनी का और कुण्डलिनी को जाग्रत करना तंत्रविहित योग की मुख्य साधना है।

संतमत और निर्गुण उपासना :

इन संतों ने एक ईश्वर की ही उपासना का उपदेश दिया। छुआछूत और जात-पाँत की निन्दा की। भूत-प्रेत की पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदि का निषेध

किया। पीर, औलिया, कब्र आदि की वन्दना से लोगो को रोका। सदाचार की महिमा बताई। हिन्दू-मुसलमान को मिल-जुलकर रहना सिखाया। इनमे से कई अब्राह्मण थे और कुछ जन्मना हिन्दू भी नही थे। संस्कृत तो इनमे से शायद ही कोई जानता था। इस कारण पण्डित-वर्ग अप्रसन्न हुए, पर जनता मे इस मत का खूब प्रचार हुआ।

अतः निर्गुण-सम्प्रदाय की उत्पत्ति रूढ़िवाद और अधविश्वास की प्रतिक्रिया के रूप मे हुई। मनुष्य मात्र की एकता और समता तथा जातिवाद का खण्डन, मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का विरोध—सत-सम्प्रदाय का मौलिक आधार था।

इन सतो ने सगुण-साकार की उपासना के स्थान पर निर्गुण-उपासना, योग और ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया। यह बात ठीक है कि भक्ति मार्ग मे भी ऊँच-नीच का भेद नही है, किन्तु सबको मन्दिर, पूजा की सामग्री आदि प्राप्य नही होते। अछूतो का तो मन्दिर-प्रवेश भी वर्जित था। किन्तु निर्गुण-उपासना और योगाभ्यास के लिए तो कोई बाहरी साधन नही चाहिए। पूजा की सामग्री के लिए पैसे भी नही चाहिए। इसलिए यह मार्ग सबके लिए सुलभ और सुगम है, यद्यपि है कठिन। पर सच्ची भक्ति कोई हँसी-खेल की चीज नही है। इसलिए विशेषकर निम्नस्तर की जनता का इस ओर अधिक व्यापक आकर्षण हुआ। नाई, धोबी, जुलाहे, मोची, जन्म से मुसलमान आदि भी ऊँची जातिवालो के समकक्ष इसमे आए। इस प्रकार भारत पर मुसलमानो के आक्रमण और शासन के आपातकाल मे भक्ति-मार्ग ने मुमूर्षु हिन्दू-जाति मे जान डाली और संतमत ने उसे सक्रियता प्रदान की। योगी मे बल होता है, आत्म-विश्वास होता है। उसकी वाणी मे अपूर्व शक्ति होती है। इससे जनता मे आत्म निर्भरता आई। उसी आत्म-निभरता को कली मुगल-साम्राज्य के अवसान-काल मे मुगलो के अत्याचार से पीडित, मूलत शान्ति-पथ के पथिक, सिक्ख-सम्प्रदाय के रूप मे खिली।

किन्तु भक्ति-मार्ग और उसके परिणाम स्वरूप मूर्तिपूजा सतमत से पहले चल चुकी थी। उसने जो वैष्णव वातावरण पैदा कर दिया था, उसका प्रभाव संतो पर पडा, जिसके परिणाम-स्वरूप सतमत के आचार्यों की रचनाओ मे भक्ति-भावना से ओतप्रोत वाक्य मिलते हैं। साथ-ही साथ भक्ति-मार्ग भी इस प्रभाव से अछूता नही रहा, और भक्ति-मार्ग के ग्रन्थो मे योग के अनुभव की झलक मिलने लगी।

एकाध को छोड़कर संतों ने निश्चित रूप से पुस्तकें नहीं लिखीं। उनकी कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं, जिनको समय-समय पर उनके शिष्यों ने लिख लिया था। इनमें से जो गाने लायक हैं, उनको 'शब्द' तथा शेष को, जो प्रायः दोहा, सोरठा आदि छन्दों मे हैं, 'साखी' कहते हैं।

संत वाणियों मे गुरु की महिमा भरी-पड़ी है। गुरु वंदना और गुरु महिमा के प्रसंग बहुत है और सभी संतो की वाणियों में हैं। एक बात है कि यहाँ जितने भी निराकारवादी हैं, उनकी साधना गुरु का आश्रय लिए बिना चल नही सकती।

"जीव के स्वरूप का ज्ञान बिना गुरु के हो सकता है। ईश्वर के स्वरूप का दर्शन भी बिना गुरु के हो सकता है, किन्तु जीव तथा ईश्वर के तत् तथा त्वं के अभेद का ज्ञान महावाक्य के उपदेश के बिना नही हो सकता। यह अभेद-ज्ञान, जो वास्तविक ज्ञान है, गुरु जब महावाक्य का उपदेश करेंगे तभी होगा। महावाक्य का तात्पर्य सूचित करनेवाला किसी भी भाषा का कोई भी वाक्य महावाक्य है।"[1]

ज्ञान के मार्ग मे तत्त्व-जिज्ञासा के लिए गुरु की आवश्यकता दो क्षण के लिए है, यदि जिज्ञासु उत्तम अधिकारी है। महावाक्य के श्रवण-मात्र से उसे ज्ञान हो सकता है, किन्तु योग के साधक के लिए तो पूरे साधन-काल में गुरु का प्रत्यक्ष संरक्षण एवं नियंत्रण आवश्यक है। पुस्तकें पढ़कर या किसी की देखादेखी जो लोग योग-साधन प्रारम्भ करते हैं, उनको प्रायः असाध्य रोगों का शिकार बनना पड़ता है।

संतमत की परम्परा वैदिक तान्त्रिक मतो से कुछ भिन्न है; किन्तु जहाँ तक गुरु के स्वरूप की बात है, इन मतो मे भी गुरु साधन-निदेशक तथा साध्य-स्वरूप है। संतमत मे धुरधम अथवा सहस्रार में गुरुमूर्ति का ध्यान किया जाता है। इन संतमतो में से कई मे तो अपने गुरुदेव की मूर्ति का ही ध्यान और उसके नाम का जप करने की प्रणाली है।

संतमत में गुरु की महिमा :

तंत्र मे श्रीगुरु का सर्वोच्च पद स्वीकार किया गया है। अतएव तंत्र-मतानुयायी साधकों के लिए गुरु-पूजा अत्यावश्यक मानी गई है। गुरु-पूजा के बिना साधक की सब साधना निष्फल है। कलिविलास-तंत्र (१।१३) मे कहा भी है—

1. परमार्थ : गुरु-महिमा-अंक, पृ० ४२।

गुरुपूजा विना देवी स्वेष्ट पूजां करोति यः।
मंत्रस्य तस्य तेजांसि हरते भैरवः स्वयम् ॥

संतो ने तो सद्गुरु-महिमा के बखान में सचमुच कलम तोड़ दी है। यथा—

१. बिनु सद्गुरु कोई भेद न पावा।
धरती से आकाश ले धावा ॥ (वजहन)

२. दादू काढ़े कालमुख, अंधे लोचन देई।
दादू ऐसा गुरु मिला, जीव ब्रह्म करि लेई ॥ (दादू)

३. गुरु चरनन पर तन मन वारू।
गुरु न तजूँ, हरि को तजि डारूँ ॥ (सहजोबाई)

४ सद्गुरु आदि अनादि है, सद्गुरु मध्य अरु मूल।
सद्गुरु को सिजदा करूँ, एक पलक नहीं भूल ॥ (गरीबदास)

श्रद्धा और उल्लास का भाव प्रायः गुरु के प्रति आदर और भक्ति निवेदित करते हुए अथवा योग की चरम स्थिति के आत्मानन्द की अनुभूति और प्रेम-मिलन का वर्णन करते हुए व्यक्त हुआ है। गुरु के प्रति भक्ति का जो उत्कर्ष निर्गुण-संप्रदाय मे मिलता है, वह अन्यत्र सुलभ नही। कबीर की प्रसिद्ध उक्ति, जिसमे गुरु को गोविन्द से भी ऊँचा बताया गया है और गुरु को मनुष्य समझनेवालो को अधा कहा गया है, लोक-प्रसिद्ध है:

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काको लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपनो जिन गोविन्द दिया दिखाय ॥ १ ॥
गुरु को मानुष जानते, सो नर कहिए अंध।
होए दुःखी संसार में, आगे जम को फंद ॥ २ ॥

साधक के उपदेश तथा सरक्षण के लिए योग के सभी मार्गों मे गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है और आराध्य रूप से भी वहाँ गुरु का ही ध्यान-चिन्तन किया जाता है।

तत्र-साधना भी योग का ही एक रूप है। इस पथ मे तो गुरु ही शिव है। गुरु के बिना वहाँ साधन का श्रीगणेश भी संभव नही है।

इस प्रकार ज्ञान तथा योग मे मन्त्रानुष्ठानो एव तंत्र की साधनाओं में गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है।

तीन प्रकार के गुरु :

एक पक्के संत का कथन है कि गुरु तीन प्रकार के होते हैं—(१) पत्थर, (२) लक्कड़ और (३) फक्कड़।

जो स्वयं भी डूबे और शिष्य को भी साथ लेता जाए, वह पत्थर गुरु है। जिसके मंत्र और उपदेश का सहारा लेकर शिष्य अपनी श्रद्धा-साधना के बल से पार हो सकता है, वह लक्कड़ गुरु है।

एक संत ने चुटकी बजाकर बताया कि जो यों पार कर दे, वे फक्कड़ गुरु हैं।

फक्कड़ गुरु ही समर्थ और सच्चे गुरु होते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि एक ही पहचान है सच्चे गुरु की—**पर्दा दूर करे आँख का, निज दर्शन दिखलावे, सतगुरु मोहि भावे।**

किन्तु जिन गुरुओं ने चमत्कार किया, किसी को चुटकी बजाते ही आत्म-साक्षात्कार या भगवत्‌दर्शन करा दिया, उन्होंने भी अपने समीप आनेवाले सबके साथ ऐसा नहीं किया। इसका कारण यह है कि वे व्यक्ति, जिनके साथ चमत्कार हुए, वे पूर्व जन्म के साधन से संपन्न-विशेष थे और सद्‌गुरु की सहायता से शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर सके।

आज अधिकतर गुरु पत्थर गुरु हैं। फक्कड़ गुरु की शिष्य-परम्परा में रहने के कारण वे भले ही पत्थर गुरु की कोटि में हों, किन्तु जनता उन्हें गुरु-रूप में ही वरण करती है। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण मठाधीश हैं।

सच कहा जाय तो सब लोग गुरु की कोटि में रहने योग्य नहीं हैं। अधिकांशतः वे स्वार्थ-साधक हैं और उस स्वार्थ की पूर्ति वे उसी प्रकार धन द्वारा करना चाहते हैं, जिस प्रकार संसार की दूसरी वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। अधिकांश लोग तो ऐसे ही गुरु करते हैं कि यदि गुरुदेव के यहाँ जाएँ तो वे खूब स्नेह करें, सम्मान करें, ठहरने और भोजन की सुव्यवस्था करें और चलते समय फल या मीठा प्रसाद दें। घर-भर का कुशल-मंगल पूछें। उनके यहाँ रहने की पूरी सुविधा उपलब्ध हो। ऐसे गुरुदेव प्रायः धनी-मानी श्रद्धालुओं को अपेक्षित हैं, और देश में उनका कोई अभाव नहीं है।

गुरुदेव को चमत्कारी और ममताशील होना चाहिए। उनकी पहुँच बड़े लोगों तक भी हो तो सोने में सुगंध। वे बच्चे को नौकरी लगवा दें, किसी से कह-सुनकर लड़की का ब्याह तय कर दें, व्यापार में कुछ सहायता दिलावें, विपत्ति

में अफसरो को प्रेरित करके अनुकूल बना दे, अनुष्ठान बतावें ही नही, बल्कि स्वय कर दे अथवा किसी से करवा दे, जिससे पुत्र प्राप्ति, धन-प्राप्ति, सफलता, मुकदमे मे जीत आदि निश्चित होती हो, वे ज्योतिष के अच्छे जानकार हो, और कुछ दवा-दारू का भी ज्ञान रखते हो। तात्पर्य यह कि ज्योतिषी, अनुष्ठानो के ज्ञाता, वैद्यकशास्त्र से परिचित तथा उच्चवर्ग तक पहुँचवाले गुरुदेव बहुत बडे वर्ग को अभीष्ट होते हैं। ऐसे लोगो को भी अपने अनुकूल गुरु पाने मे कम ही परिश्रम करना पडता है।

किन्तु लक्कड या फक्कड गुरु ही साधक को अभीष्ट स्थान तक जानेवाले माग से परिचित कराते है। केवल वह मार्ग ही नही बतलाते हैं, प्रत्युत उस माग मे आनेवाली सभी कठिनाइयो और बाधाओ से भी पहले ही सावधान करके और बाधाओं का किस प्रकार दूर किया जा सकता है और कठिनाइयो पर किस प्रकार विजय प्राप्त हो सकती है—इन सब बातो पर भलीभाँति प्रकाश डालत है जिसमे साधक अपना मार्ग निर्विघ्न समाप्त कर सके।

फक्कड़ गुरु पाने के साधन :

वस्तुतः फक्कड गुरु की खोज प्रारम्भ होती है वैराग्य से, सत्सग से, सच्छास्त्रो के पठन-श्रवण से अथवा पूर्वजन्म के पुण्य-प्रभाव से। जब चित मे भोगो से वैराग्य हो जाता है, जन्म-मरण के चक्कर से छूटने की इच्छा जाग्रत होती है, आनदघन परमात्मा को प्राप्त करने अथवा अपने-आप का, सत्य को जान लेने की तीव्र इच्छा होती है, तब गुरु की आवश्यकता का ठीक-ठीक अनुभव होता है। आवश्यकता का अनुभव हुए बिना खोज नही हुआ करती।

महापुरुषो का मिलना दुलभ है, मिल भी जाते हैं तो उन्हे पहचानना कठिन है। नारद-भक्तिसूत्र मे लिखा है कि सच्चे महापुरुष जगल-जगल भटकने, पूछताछ करने या अपने श्रम से नही मिलते, बल्कि भगवत्कृपा से महापुरुष मिलते है। साधक जिस स्थिति का अधिकारी अपने को बना लेते हैं, भगवत्कृपा से वह स्थिति उन्हे तत्काल प्राप्त हो जाया करती है। प्रकाश उन्हे मिलता है, जिन्हे प्रकाश की आवश्यकता होती है। भगवत्कृपा का अर्थ है 'अधिकार-सपादन'। परमार्थतत्त्व का कोई जिज्ञासु जिस स्थिति या साधन

का अधिकारी होता है, उस स्थिति या साधन से से एक क्षण के लिए भी वंचित नही रखा जाता। एक संत का कथन है—
"तुम्हे गुरु को नही ढूँढ़ना है; गुरु स्वयं तुमको ढूँढ़ लेगा।" ऐसी घटना अनेक उत्कृष्ट साधको के साथ घटती रहती है।

अद्‌भुत प्रतिभा एवं चमत्कार-सपन्न महापुरुष प्राय: हिमालय मे दिव्य योगियो की निवास-भूमि बताते है। उनके वर्णनानुसार वहाँ युगो से सिद्ध पुरुषों का समुदाय निवास करता है ओर कभी-कभी उन सिद्ध पुरुषो मे से कोई-कोई भारतभूमि मे अदृश्य या गुप्त रूप से आ भी जाते हैं। ब्रह्मलीन योगिराज लाहिड़ी महोदय को ऐसे ही एक सत का दर्शन हिमालय पर्वत पर हुआ और वाद मे भी वे उन्हे यदा-कदा दर्शन देते रहे। ब्रह्म-विद्या सस्था के सदस्यो का तो विश्वास है कि श्वेत-सघ के सत, जिन्हे 'मास्टर्स' कहा जाता है, हिमालय मे निवास करते हैं और देश-विदेश के साधको को साधना मे सहायता प्रदान करते रहते हैं। उन्ही लोगो की सहायता से सोसाइटी के कुछ साधक अद्‌भुत तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का चयन कर सके। जबतक ऐसे महात्मा स्वयं इच्छा न करे, सामान्य मनुष्य उनके दर्शन नही कर सकता। अनेक भाग्यवानो को यदा-कदा ऐसे सतो के दर्शन हो जाते हैं।

सतमत योगाभ्यास को मोक्ष का साधन प्रतिपादित करते हैं। पतञ्जलि के अनुसार **अभ्यास वैराग्यभ्या तन्निरोध.**, अर्थात् अभ्यास ओर वैराग्य से चित्त की वृत्ति का निरोध होता है; दूसरे शब्दो मे योग द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। वैराग्य का उपदेश देनेवाले पद सतो की वाणियो मे भरे-पडे है।

योगाभ्यास की कई रीतियाँ प्रचलित हैं। इनमे लक्ष्यगत कोई भेद नही है। मुख्य भेद धारणा अर्थात् चित्त की वृत्ति को एकाग्र करने के अन्तर्मुख साधन के सबध मे है। प्राय सभी सतो ने जिस प्रक्रिया का मुख्यतया उपदेश दिया है, उसे 'सुरत शब्दयोग' कहते हैं। यह कोई नूतन आविष्कार नही है, परन्तु सतकाल के पहले इसका स्यात् इतने विस्तार से अवलबन नही हुआ था। सूरत, जिसे सुरति भी कहते हैं, स्त्रोत शब्द का अपभ्रश है। दर्शन-ग्रन्थो मे स्त्रोत का अर्थ है—'चित-वृत्ति-प्रवाह'। अत सुरत शब्दयोग वह पद्धति है, जिसमे शब्द की धारणा की जाती है, अर्थात् चित्त की वृत्ति का प्रवाह शब्द मे लय किया जाता है। शब्द का किसी बाह्य मत्र से तात्पर्य नही

है। शरीर के भीतर एवं बाहर एक प्रकार की ध्वनि बराबर होती रहती है, जिसे 'अनाहत' (जो बिना किसी प्रकार का आघात किए हुए उत्पन्न हो) कहते हैं। संतों ने इसे अनहद कहा है। गुरु प्रदिष्ठ मार्ग द्वारा अभ्यास करने से इस ध्यान की डोर हाथ आ जाती है और फिर उसके सहारे चढ़कर चित्त की वृत्ति बीच की भूमिकाओं को पार करती हुई असंप्रज्ञात समाधि-पद मे सहज ही लीन हो जाती है।

ध्यान-बिन्दु उपनिषद् मे बतलाया है—

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम् ।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥

अर्थात् अनाहत शब्द से भी परे जो शब्द है, उसको पाने से योगी के संशय की निवृत्ति होती है।

शिवसंहिता आदि ग्रन्थो मे भी अनाहत ध्वनि और उसके द्वारा चित्त-वृत्ति के उपक्रम का वर्णन आया है।

इसी ध्वनि का आश्रय लेकर योगी को अन्तर मे आदि-ध्वनि अर्थात् प्रणव का अनुभव होता है। पतञ्जलि कहते है कि प्रणव ओंकार ईश्वर का वाचक है। ओंकार के अकार, उकार तथा मकार—इस प्रकार टुकडे टुकडे करके अनेक प्रकार के अर्थ किए गए हैं। योगी की दृष्टि मे ओंकार आदि शब्द, अर्थात् पाञ्चभौतिक जगत का आदिम रूप, शब्द तन्मात्रा का सूक्ष्माति-सूक्ष्म सार है। इसलिए पाञ्चभौतिक जगत मे ईश्वर की पहली अभिव्यक्ति है। इसी कारण ओम् को उसका वाचक या पवित्र नाम कहा गया है।

संतमत में सतनाम की महिमा :

जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थो मे ओंकार को प्रणव, उद्गीथ आदि अनेक नामो से पुकारा गया है, उसी प्रकार संतो ने उसे प्राय. इन्ही नामो या सत्नाम (सत्य-नाम) कहकर पुकारा है। सत्यनाम की अपार महिमा का उन लोगो ने बार-बार वर्णन किया है। वे भी कहते है कि नाद के परे जो भूमिका है, वह नि शब्द अनामी लोक है। उसके अवतरण इस प्रकार हैं—

१. ओऽमकार पानी अरु पवन। सूर्य, चन्द्र, धनि, महि, भवन ॥
ओऽमकार पूजा अरु मान। ओऽमकार जप संयम ध्यान ॥
ओऽमकार तप तीरथ दान। ओऽमकार राखे सुर ग्यान ॥

ओअंकार गुरु आद बेला । ओअंकार रहु रासी मेला ॥
ओअंकार निरंतर बानी । जिन जानि तिन गुरमुख जानी ॥ (नानक)

२. सतनाम निज सार है, अमर लोक को बाम ।
कहु दरिया सतगुरु मिले, संसय सकल मिटाय ॥ (दरिया)

३. मूल मंत्र निज नाम है, सुरत सिन्धु के तीर ।
गैबी बानी अरस मे, सुर नर घटै न और ॥ (गरीबदास)

४. तापर अकहलो कहै भाई, पुरुष अनामी तहाँ रहाई ।
जो पहुँचे जानेंगे वाही, कहन सुनन से न्यारा है ॥ (कबीर)

संतमत और सुरत-शब्दयोग :

संतो ने सुरत शब्दयोग को ही निदिध्यासन की प्रधान प्रक्रिया माना है। वे इसी का भजन भी करते हैं। अभ्यास करते करते योगी को जो अनुभव होते हैं, उनका वर्णन श्वेताश्वतर-उपनिषद् मे (अध्याय २।११।१२) आया है कि योगाभ्यास आरम्भ करने पर पहले अनुभव होनेवाले कुहरे, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), विद्युत्, स्फटिकमणि और चन्द्रमा इनके रूपब्रह्म की अभिव्यक्ति करानेवाले होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की अभिव्यक्ति होने पर अर्थात् पञ्चभूतमय योग-गुणो का अनुभव होने पर, जिसे योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो गया है, उस योगी को न रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न उसकी असामयिक मृत्यु होती है। शरीर का हलकापन, निरोगता, विषयासक्ति की निवृत्ति, शारीरिक कान्ति की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता, सुगंध और मल-मूत्र की न्यूनता—इन सबको योग की पहली सिद्धि कहते हैं। इसी विषय का नाद, बिन्दु आदि उपनिषदो मे किञ्चित् अधिक विस्तार से वर्णित हैं।.... .. तंत्रग्रन्थो मे भी कही-कही इसका अच्छा वर्णन है।

संतो ने भी इस अनुभव का वर्णन किया है। योगी के अभ्यास के प्रसाद से चतुर्दश भुवन में कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रह जाती। वह अणिमादि सिद्धियो का स्वामी हो जाता है।[1]

सूफी-मत—मुसलमानों में एक फिरका सूफियों का है। इनके सिद्धान्त भी संतमत से लगभग मिलते-जुलते हैं। पीर-परस्ती अर्थात् गुरु उपासना की इनके

1. श्री संपूर्णानंद : संतमत में साधना ('कल्याण', साधनांक)

यहाँ प्रधानता रहती है। संतमत की तरह गृहस्थ और विरक्त दोनों तरह के मनुष्य इनमे पाए जाते हैं। इनके यहाँ साधन भी संतो के सदृश सरल होते हैं, यद्यपि सूफियो मे कुछ लोग तप और वैराग्य का जीवन व्यतीत करते हुए कठिन योग-क्रियाओ के करनेवाले भी देखे जाते हैं। परन्तु श्रेष्ठता भक्ति व प्रेम को ही दी जाती है। ये लोग पुस्तकीय ज्ञान को ज्ञान नहीं मानते। अनुभवी ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करते रहते हैं। ये संतों की तरह उदार ; दयवाले होते हैं। जात-कुजात, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान सबको प्रेम की निगाह से देखते है और बिना भेद-भाव के, जिज्ञासु देखकर सबको अपना इल्म-रुहानी (अध्यात्म-विद्या) देने के लिए तैयार हो जाते है।

'सूफी' शब्द का अर्थ है साफ दिलवाला आदमी। जिसने आध्यात्मिक क्रिया द्वारा अपने ; दय को से मलावरण हटाकर उसे शुद्ध कर लिया है, वही सूफी है। ; दय-रूपी दर्पण के निर्मल होने पर ही उसमे प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थ का बिम्ब साफ प्रतिबिम्बित हो सकता है, और इसी से मनुष्य को यथार्थ ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है। इस काम के लिए दो साधन उनके यहाँ मुख्य हैं—(१) तजकिया नफस और (२) तसफिया कल्ब। 'तजकिया नफस' इन्द्रियो के दमन को और 'तसफिया कल्ब' ; दय की शुद्धता को कहते हैं।

कबीर साहब के समय मे भी सूफीमत पूरे विकास पर था। ब्रह्मलीन परम सत डॉ० चतुर्भुज सहाय ने अपने ग्रन्थ 'एकनिष्ठा और विश्वास' मे सूफी संत मखदूम साहब के कबीर साहेब से मिलने को उपदेशपूर्ण, पर रोचक कथा का वर्णन किया है।

कबीर साहब—जब वैष्णव-धर्म मे संकीर्णता आ गई, छुआछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण का विचार उठ खडा हुआ तथा परमात्मा की स्थूल मूर्ति की पूजा की प्रधानता ने जोर पकडा और गोलोक से आगे जाने की इच्छा त्याग दी गई तथा भौतिक सुख को प्राप्त करना अन्तिम लक्ष्य रह गया, तब काशी मे श्री रामानन्द जी प्रकट हुए। ये रामानुज सम्प्रदाय के एक उच्चकोटि के त्यागी साधु थे। 'राम-नाम' इनका इष्ट था। परन्तु इनके 'राम' अन्य वैष्णवो की भाँति स्थूल नही थे, वरन् सर्वव्यापी, चैतन्य एव सर्वशक्तिशाली थे। इन्होने जात-पाँत जैसी विषाक्त विचारधारा का परित्याग कर मनुष्य-मात्र को अपने झडे के नीचे आमंत्रित किया। भगवत्प्रेम के सभी समान अधिकारी हैं—ऐसा एलान

इन्होंने बुलन्द आवाज में किया। श्री कबीर साहब, श्री रैदास जी, सदन कसाई, गणिका वेश्या, सौना नाई, धना जाट आदि इनके मुख्य शिष्य थे। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके शिष्यों ने अपनी-अपनी अलग शाखाएँ स्थापित कर इनके सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया।

कबीर साहब का दर्जा और सब शिष्यों से ऊँचा था। अन्य शिष्य तो सिद्धान्तों मे मतभेद होने पर भी वैष्णव-संप्रदाय को नही छोड़ सके; किन्तु कबीर साहब ने (१) सत्तनाम, (२) सत्संग तथा (३) सत्तगुरु की त्रिकुटी बना-कर एक नए मार्ग की नींव डाली, जिसे 'संतमत' कहते हैं। गुरु के आश्रय में रहकर सत्संग के द्वारा सत्तनाम का सुरति से समागम करा देना और उसी के सहारे ध्रुवपद तक चढ़ाई करके पहुँच जाना संतमत है। इस मत मे द्वैत-अद्वैत दोनों के परे जो अलख-अगोचर ब्रह्म है, वहाँ तक पहुँचने की कोशिश की जाती है। वही ध्रुवपद और अन्तिम लक्ष्य है। कबीर-पंथी वैष्णवों की भाँति पत्थर आदि की मूर्ति न बनाकर जिन्दा और मौजूद गुरु को ही ईश्वर का रूप मानते है। गुरु मे और परमात्मा मे वे भेद नही समझते और गुरु का ही आश्रय लेकर उन्नति करते है। वे राम और कृष्ण को अवतार मानते हैं, पर उन्हे इष्ट नही समझते। वे माया से परे की वस्तु हैं, जिनका कोई भी नाम रख लिया जाए। कहा भी है—

एक राम दशरथ घर डोले, एक राम घर घर में बोले।
एक राम का सकल पसारा, एक राम त्रिगुण से न्यारा॥

× × × ×

इका राम दशरथ घर डोले, निराकार घर-घर में बोले।
बिन्दु राम का सकल पसारा, निरालम्ब सबसे ही न्यारा॥[1]

कबीर साहब की मुख्य शिक्षा यह थी कि ईश्वर के दर्शन के लिए उसके भक्त का हृदय टटोलना चाहिए, उससे प्रेम का संबंध दृढ़ करना चाहिए। ईश्वर सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है, उसको पकडना या उसके यहाँ तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इसलिए सबसे सुलभ उपाय यह है कि भक्त किसी संत को बीच में डाल ले, उसके ख्याल से अपना ख्याल मिला दे, यानी दोनों के ख्यालो का तादात्म्य

1. 'समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी की जीवनी और उपदेश'
—डॉ० चतुर्भुज सहाय

हो जाए। इस तरह जिज्ञासु अथवा भक्त को ईश्वर तक पहुँचने में देर नहीं लगती, उसका सीधा संबंध ईश्वर तक उसी समय हो जाता है। इससे एक-निष्ठा जल्दी प्राप्त हो जाती है, क्योंकि 'दो' का झमेला जाता रहता है। ईश्वर और गुरु अलग-अलग मानने पर ध्यान मे कभी ईश्वर आता है और कभी गुरु। साधक की यह अड़चन भी जाती रहती है। वह एक पर ही निष्ठा रखने से अति शीघ्र शान्त हो जाता है। बताया गया है कि विश्व-प्रेम प्राप्त करो, भेद-दृष्टि दूर करो, सबमे ईश्वर का ही वास समझो। ये सब बातें इस प्रकार के साधन करनेवालो को बहुत जल्द मिलती हैं। इसका सबसे सरल उपाय यही है कि प्रथम एक मनुष्य के लिए मन के भाव को बदलो। जब उसमे त्रुटि न रहे तब धीरे-धीरे उसका विस्तार करते चलो और अन्त मे उसे बढ़ाकर विश्व मे फैला दो। इससे भेद-दृष्टि मिट जाती है और आत्म-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। आत्म-दृष्टि के खुलने पर प्राणिमात्र ईश्वर का रूप दिखाई देता है, सारे ससार मे उसी का वास नजर आता है। प्रत्येक वस्तु उसके दिव्य तेज मे झलकती हुई नजर आती है। यही ईश्वर-प्राप्ति है। इसका प्रमाण उनकी साखियो मे मिल रहा है। वे कहते ह :[1]

मन तेरा पंछी भया, उड़कर चला अकास।
स्वर्गलोक खाली पड़ा, साहिब संतन पास ॥
गुरु की मानुस जानते, सो न कहिए अंध।
होए दुखी संसार में, आगे जम को फंद ॥
पूरा सों परचय भया, दुख-सुख-मेला दूर।
जमसों बाकी कट गई, साईं मिला हजूर ॥
प्रेम-प्याला भर पिया, राच रहा गुरु-ज्ञान।
दिया नगाड़ा प्रेम का, लाल खड़े मैदान ॥

आज संतमत की जो धारा प्रवाहित हो रही है, वह संत कबीर से आरम्भ होकर अबाध रूप से लगभग ५०० वर्षों से बहती आ रही है। कबीर-कालीन संतमतो के अतिरिक्त भारत मे गत दो सौ वर्षों के भीतर कतिपय संतमत स्थापित होकर आज जन-कल्याण मे संलग्न हैं। इनमें (१) साहिब-पंथ,

---

1. डॉ० चतुर्भुज सहाय : एकनिष्ठा और विश्वास, पृ० १५-१६

(२) नामी संप्रदाय, (३) संतमत-सत्संग, (४) राधास्वामी मत, (५) रामाश्रम-सत्संग, (६) ब्रह्मानी सत्संग और (७) सिक्ख-संप्रदाय प्रमुख हैं।

१. **साहिब-पंथ**—साहिब-पंथ के प्रवर्तक तुलसी साहेब थे। इनका दूसरा नाम साहेब जी था। इनके जन्म और मरण की तिथियों की जानकारी नहीं है। ज्ञात होता है कि ये सुदूर दक्षिण के थे। कहा जाता है कि ये बाजीराव पेशवा के बड़े भाई थे। इनके पिता जब इन्हें राजगद्दी पर बैठाना चाहते थे, तब ये निश्चित तिथि के एक दिन पूर्व किसी तुर्की घोड़े पर सवार होकर भाग गए। कहते हैं कि तुलसी साहेब ने किसी को अपना गुरु नहीं बनाया। ये सदा सत्संग में ही रहकर संतमत के रहस्यों से पूर्णतः परिचित हो गए थे और इन्होंने अपनी साधना अपने-आप कर ली थी।

संत तुलसी साहेब के जीवन की अधिकांश घटनाओं का हाल विदित नहीं है। आपने हाथरस (उत्तर प्रदेश) से एक मील पर जोगिया नामक ग्राम में अपना सत्संग जारी किया और बहुतों को सन्मार्ग पर ला दिया था। अक्सर ये गहरे विचार में डूबे रहते थे और आवेश की दशा में इनके मुख से जो धारा-प्रवाह वाणी निकलती थी, वह उत्कृष्ट भावनाओं से ओत-प्रोत रहा करती थी। उस समय इनके निकटवर्ती सेवक इनके भाषणों या प्रवचनों को शब्दों में अंकित कर लेते थे। इस प्रकार अनेक शब्दों से मिलकर इनकी शब्दावली बन गई।[1]

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'शब्दावली' से ज्ञात होता है कि साहेब जी का देहावसान ८० वर्ष की आयु में संवत् १८९९ या १९०० में ज्येष्ठ सुदी द्वितीया को हुआ।

तुलसी साहेब की रचनाओं में 'घटरामायण', 'शब्दावली' तथा 'रत्नसागर' नाम की तीन पुस्तकें उपलब्ध हैं, जो उक्त प्रेस से प्रकाशित हो चुकी हैं। शब्दावली भाग २ के अंत में 'पद्मसागर' नाम का एक छोटा-सा ग्रन्थ भी छपा मिलता है। घटरामायण बड़ा ग्रन्थ है, जिसमें पिण्ड और ब्रह्माण्ड का रहस्य देने के अनन्तर वैराग्य, योग, भक्ति तथा ज्ञान का वर्णन आया है। संत मैंहीदास के अनुसार इसमें तुलसी साहेब की निर्मित अछूती-वाणी स्वल्प-मात्र है, अधिकांश क्षेपक ही है।

---

1. घटरामायण, भाग १ (जीवन-चरित्र) : बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

संत तुलसी साहेब अपने मत को सतमत की सज्ञा से अभिहित करते थे। इनके कथमानुसार वास्तविक रहस्य को ब्रह्मा, विराट आदि तक नही जानते। इस मत का कोई अन्त नहीं है, किन्तु इसी के अनुसरण द्वारा प्राप्त घट मे सभी संत निरन्तर निवास करते हैं। ये कहते हैं कि सत्सग तथा सतगुरु ने मुझे संतपथ की ओर उन्मुख कर दिया। मैंने उससे परिचित हो जाने पर किसी भिन्न मत के प्रचार की आवश्यकता नही समझी, और न नया पथ ही चलाया। इन्होंने कबीर, नानक, दादू, दरिया, रैदास, मीरा तथा नाभा का आदर्श सत के रूप मे वर्णन किया है, किन्तु इसके साथ ही इन्होंने अपने आलोचनात्मक उपदेशो के द्वारा उनके विविध अनुयायियो को पथ-भ्रष्ट भी सिद्ध करने की चेष्टा की है। नानक-पथ अथवा सिक्ख-धर्म के वाहगुरु, कड़ा, प्रसाद तथा ग्रन्थ जैसे शब्दो से भी भिन्न-भिन्न तात्पर्य निकालने का यत्न किया है।[1]

संत-परम्परा के इतिहास मे इनके व्यक्तित्व का बहुत महत्त्व है। इनके द्वारा प्रचलित किया गया पथ 'साहिब-पथ' के नाम से प्रसिद्ध हो चला। इनके सहस्रो अनुयायी भारत के विभिन्न नगरो मे पाए जाते हैं।

संत तुलसी साहेब की समाधि हाथरस मे उसी स्थान पर आज भी वर्त्तमान है, जहाँ बैठकर वे नित्य उपदेश दिया करते थे। यह साहिब-पथियो का प्रधान तीर्थस्थान समझा जाता है। इसे तुलसी साहेब का मन्दिर (किला दरवाजा) कहते हैं। यहाँ पर प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ल द्वितीया को भण्डारा होता है।

२. **नागी संप्रदाय**—नागी सप्रदाय के मूल प्रवर्त्तक सत डेहराज का जन्म सवत् १८२८ वि० मे पजाब के नारौल तहसील के अन्तर्गत थाव्स ग्राम मे हुआ था। इनका सक्रिय कार्यक्षेत्र अधिकतर नारौल से लेकर गुरगाँव जिले तक रहा।

कहा जाता है कि डेहराज ने तीन ग्रन्थो की रचना की, किन्तु आज इनमे से किसी का पता नहीं चलता। कहा जाता है कि इनके भजन और उपदेश इनके अनुयायियो के पास सुरक्षित हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि इस पंथ के अनुयायियों के साथ सत्संग करनेवालो का कहना है कि ये लोग राम नामधारी परमात्मा को मानते हैं, जो निराकार, अद्वितीय, अतुलनीय,

1. श्री परशुराम चतुर्वेदी : उत्तर भारत में सत-परम्परा पृ० ७८४,

शाश्वत तथा सर्वव्यापक है। वही एकमात्र सत्य है और उसी का पसारा (प्रसार) सर्वत्र लक्षित होता है। उसके सिवा ये किसी भी देवी या देवता का अस्तित्व नहीं मानते। ये हिन्दू और मुसलमान की साधनाओं का समान रूप से आदर करते हैं। स्त्रियों को इस संप्रदाय मे समान अधिकार प्राप्त है। प्रार्थना के अवसर पर सभी अनुयायी एक ही पंक्ति मे एकत्र हुआ करते हैं, पद गा-गाकर झूमा करते हैं और कभी-कभी भावावेश मे आकर नाचा भी करते हैं।

इनका प्रधान मठ गुरगाँव जिले के भिवाना नामक स्थान में है। खेलड़ी-अचल के चुरना गाँव मे भी एक मन्दिर है, जहाँ संत डेहराज का पूजन नेह-कलंक या कल्कि-अवतार के रूप मे होता है। इस पंथ के अनुयायियो की अधिक संख्या वर्त्तमान हरियाना राज्य के गुरगाँव, नारोल आदि मे पाई जाती है।

सत्य के प्रति विशेष आस्था और शुद्धाचरण इस पथ के अनुयायियों की विशेषताएँ हैं। इनका ध्यान सामाजिक सुधारो की ओर भी गया था। समाज के अन्तर्गत सारी कुरीतियो का मूलोच्छेद तथा उसके प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के लिए समान अवसर देना परम कर्त्तव्य है। इसी प्रकार ईश्वर की आराधना के संबंध मे सबका समानाधिकार, मूर्ति-पूजा की व्यर्थता तथा ग्रन्थ-विशेष के प्रति आस्था—इस संप्रदाय के अन्य नियम कहे जाते हैं।

३. **संतमत-सत्संग**—सतमत-सत्संग की सर्वप्रथम प्रेरणा प्रदान करनेवाले महापुरुष बाबा देवी साहेब समझे जाते हैं। इनका जन्म सन् १८४१ ई० मे हुआ था और मृत्यु सन् १९१९ ई० मे हुई। ये मुरादाबाद के सतसई मुहल्ले मे रहते थे।

इनके सदुपदेशो का साराश बतलाते हुए परमहस मेंहीदास ने कहा है कि सभी संतो के प्रति ये श्रद्धा-भाव रखते थे। इनके मत को सतमत का नाम देते थे तथा 'सत्संग' शब्द से इनका अभिप्राय ईश्वर-भक्ति का उपदेश था। चाहे कोई किसी धर्म या संप्रदाय का हो, उसे बराबर ध्यानाभ्यास मे निरत रहना चाहिए। इनका दृष्टिकोण (दृष्टि साधन) तथा इनका शब्दयोग (शब्द-साधन) कबीर साहेब द्वारा अनुमोदित साधनाओ से भिन्न नहीं कहे जा सकते। जिस प्रकार संगीत-मण्डली मे सभी साजो को एक समान कस लेने पर उन सबकी ध्वनियो मे एकता आ गई प्रतीत होती है, और उन्हे पृथक-पृथक निरूपित करना कठिन है; उसी प्रकार सभी शब्दो तथा ध्वनियो के मूल मे हम सूक्ष्मतम

सार शब्द की कल्पना कर सकते हैं। यह सूक्ष्मतम नाद चिरकाल तक रहता है और उसमें आसक्त मनुष्य की मति भी उसी प्रकार स्थिरता प्राप्त कर ले सकती है।[1] तदनुसार बाबा देवी साहेब ऐसी दशा प्राप्त करने के लिए उक्त शब्दयोग का उपदेश देते थे। उसके पूर्व उक्त दृष्टियोग का अभ्यास कर लेने का आग्रह भी करते थे, जिसके बिना इस प्रकार का ध्यान करना अत्यन्त कठिन बन जा सकता है। बाबा साहेब की एक अन्य विशेषता सभी के लिए जीवन मे सदाचार तथा स्वावलबन की आवश्यकता भी कही जाती है।

बाबा देवी साहेब के प्रमुख शिष्यो मे बाबा नन्दन साहेब, धीरजलाल गुप्त (गुरुजी साहेब), रामदास चौधरी (ध्यानानन्द), राजेन्द्रनाथ जी तथा महर्षि मेंहीदास जी के नाम लिए जाते हैं। इनमें धीरजलाल गुप्त और रामदास चौधरी पूर्णिया जिले (बिहार) के रहनेवाले थे। इनके द्वारा सतमत का प्रचार इस अंचल मे हुआ। इन दोनो से ही प्रेरणा पाकर मेंहीदास जी सतमत की ओर आकृष्ट हुए और राजेन्द्रनाथ ने इनका पथ-प्रदर्शन किया। मेंहीदास जी को इन गुरुभाइयो की ओर से सदा प्रोत्साहन और सहयोग मिलता गया और आज आपने सतमत के सतो मे प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है तथा आपके लाखो अनुयायी संतमत मे सम्मिलित हो चुके हैं।

परमहंस मेंहीदास पूर्णिया जिले के निवासी हैं। आपका जन्म सन् १८८५ ई० मे हुआ था। आपकी शिक्षा इन्ट्रेन्स क्लास तक हुई थी, जिसको आपने सन् १९०४ ई० मे परीक्षा-काल मे त्याग दिया था। शैशव-काल से ही आपकी धार्मिक प्रवृत्ति रही। रामचरित-मानस से आपको अत्यधिक प्रेम था। साधु-संतो के सत्संग मे रहना पसन्द करते थे। अपने विद्यार्थी-जीवन-काल मे ही आपने दरिया-पंथी योगी रामानन्दन से दीक्षा ली थी। आपकी आध्यात्मिक जिज्ञासा बलवती हो चली और आप गुरु की खोज मे निकल पड़े। दूर-दूर का भ्रमण करने के बाद अन्त मे बाबा देवीदयाल की शरण मे सन् १९०९ ई० मे आए। इनके यहाँ से इन्हे 'सुरत-योग' की साधना का रहस्य सन् १९१२ ई० में प्राप्त हुआ। इन्होने बाबा साहेब के आदेशानुसार अपनी साधना का अभ्यास बड़ी तत्परता के साथ किया, जिसके परिणाम-स्वरूप इनका चित्त स्थिर हो चला और इनको सतमत का पूरा बोध हो गया।

---

1. श्री मेंहीदास-वचनामृत

परमहंस मेंहीदास की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इनकी विचारधारा अन्य संतों जैसी है। ये परमतत्त्व का वर्णन उन्हीं शब्दों में करते हैं, जिनका प्रयोग संत कबीर के समय से होता आया है। मुख्य अन्तर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि इनके पूर्ववर्ती संत लोग केवल अपनी अनुभूति-मात्र या अपने से पूर्व के संतों के कथनों की ओर संकेत कर देते थे, परन्तु मेंहीदास जी उपनिषद् आदि का भी हवाला दे दिया करते हैं। वास्तव में ये अपने वक्तव्य को पूर्णतः साधार प्रमाणित करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त ये अपने विचार को अधिक-से-अधिक स्पष्ट कर देने का यत्न करते हैं। इसी तरह प्रभुसत्ता का परिचय देते समय एक स्थल पर बताते हैं: "अपरा (जड़) और परा (चेतन) दोनों प्रकृतियों के परे अगुण एवं सगुण, परन्तु अनादि-अनन्त-स्वरूपी, अपरंपार, शक्तियुक्त, देश-कालातीत, शब्दातीत, नाम-रूपातीत, अद्वितीय; मन, बुद्धि और इन्द्रियों से ऊपर, जिस परम सत्ता पर यह सारा प्रकृति-मण्डल एक महान् यंत्र की नाईं परिचालित होता रहता है, जो न व्यक्ति है न व्यक्त, संतमत में उसी को परम अध्यात्मपद या परम अध्यात्म-स्वरूपी परम प्रभु सर्वेश्वर मानते हैं।" इन्होंने इसी प्रकार उस अव्यक्त से व्यक्त हुए सर्वव्यापक आदिशब्द के विषय मे भी कहा है—"इस शब्द के द्वारा परमप्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है; इसलिए इस शब्द को परमप्रभु का नाम रामनाम कहते हैं। यह सबके साररूप से है, तथा यह अपरिवर्तनशील है। इसलिए इसको सारशब्द, सत्य शब्द और सत्यनाम हिन्दी-संतवाणियों में और उपनिषद् मे ओम् कहा है। इसलिए यह आदिशब्द संसार में ओम् कहकर विख्यात है।" जीवात्मा को इन्होंने उसी प्रकार अंश कहा है और बताया है कि वह उसी प्रकार उससे पृथक जान पड़ती है, जिस प्रकार घटाकाश को महाकाश या नभ से अलग समझ लिया जाता है। दोनो के बीच तम, प्रकाश तथा शब्द के मानो तीन प्रकार के पद के आवरण पड़े हुए हैं, जिन्हें दृष्टि तथा ध्वनि के योग की साधना द्वारा दूर कर देना चाहिए।[1]

बाबा देवी साहेब द्वारा प्रचारित संतमत को स्वीकार कर लेने पर परमहंस मेंहीदास ने अपने जीवन को तदनुसार ढाल लिया। उसकी महत्ता में पूर्ण विश्वास हो जाने के कारण इन्होंने उसका प्रचार-कार्य भी आरम्भ किया।

1. उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० ९५

ये भ्रमण के साथ-साथ आवश्यक साहित्य के निर्माण द्वारा भी उसे सदा आगे बढ़ाने में यत्नशील रहे हैं। इन्होंने उसके लिए प्राचीन ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, गीता आदि से लेकर मध्यकालीन संतों की उपलब्ध वाणियों का भी मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया और (१) रामचरितमानस-सार (सटीक), (२) विनयपत्रिका-सार (सटीक), (३) भावार्थ-संहिता (घट-रामायण), (४) वेद दर्शन-योग, (५) गीतायोग-प्रकाश, (६) सत्संग-योग, (७) संतमत का सिद्धान्त, (८) गुरु-कीर्तन, (९) पदावली, (१०) वचनामृत आदि ग्रन्थों का प्रणयन-संकलन किया, जो सर्वथा पठनीय हैं।

आप ८४ वर्ष की आयु में भी तत्परता के साथ संतमत-सत्संग के प्रचार में संलग्न रहे हैं। समय-समय पर स्थान-स्थान पर सत्संग-समारोह होते हैं, जिसमें हजारों भक्त तथा साधक योग देते हैं। आरम्भ में आप गंगा-तटवर्ती मनियारी घाट पर अधिकतर निवास करते थे, किन्तु कुछ वर्ष हुए, भागलपुर नगर के कुप्पाघाट पर बड़ा ही सुन्दर और भव्य आश्रम तथा सत्संग-भवन बन गया है। कुछ वर्ष पूर्व इस स्थान पर दो महान संत—परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी तथा परमहंस मेंहीदास जी का अद्भुत मिलन, सत्संग और उपदेश देखने-सुनने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

संतमत-सत्संग का विशेष प्रचार बिहार-राज्य के पूर्णिया, भागलपुर, सहरसा आदि जिलों में तथा उसके पश्चिमी अंचलवाले क्षेत्र में ही दीख पड़ता है। किन्तु इसका प्रभाव अन्यत्र भी बढ़ता जा रहा है।

संतमत-सत्संग की कार्य-प्रणाली अधिकतर मंडनात्मक तथा तर्क-प्रधान ही प्रतीत होती है। इनकी अन्य विशेषताओं में सर्वसाधारण का ध्यान सदाचार तथा स्वावलम्बन की ओर समुचित ढंग से आकृष्ट करना है। इस बात के लिए उन्हें तैयार भी करते रहना है कि वे वास्तविक जीवनादर्श के पालन में कभी ढिलाई न आने दें। सत्संग की अपनी साधना-संबंधी विशेषता दृष्टियोग की उस प्रक्रिया में दीख पड़ती है, जिसे ध्यानयोग का एक प्रारम्भिक प्रयास कहा जा सकता है। इस सत्संग ने संतों द्वारा प्रचारित 'सुरति-शब्दयोग' को परम आवश्यक माना है और इसकी ओर सभी साधकों का ध्यान आकृष्ट किया है। इस मत के अनुसार बिना किसी प्रकार के ध्यानयोग का अभ्यास किए हम कभी कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। इस वर्ग के अनुयायियों को प्रायः प्रत्येक बात की वैसी गोपनीयता बरतते भी हम नहीं पाते, जिससे सांप्रदायिक

संकीर्णता को प्रश्रय मिले। संतमत-सत्संग को हम वस्तुतः संत-परम्परा की एक नवीनतम कड़ी के रूप में देख सकते हैं तथा इसके भविष्य के संबंध में कुछ आशा कर सकते हैं।[1]

४. राधास्वामी-मत—इस मत के आदि आचार्य का नाम श्री शिवदयाल सिंह साहब था। आपके अनुयायी आपको परमगुरु स्वामी महाराज कहकर पुकारते हैं। आपका जन्म आगरा शहर के पन्नी गली मुहल्ले में भाद्र-कृष्णाष्टमी, संवत् १८७५ वि०, को रात्रिकाल साढ़े बारह बजे एक खत्री-कुल में हुआ था। आपके जन्म धारण करने के अवसर पर आपके घर 'साहिब-पंथ' के प्रवर्तक हाथरस के सुप्रसिद्ध महात्मा संत तुलसी साहब भी आ उपस्थित हो गए थे तथा उन्होंने इस नवजात शिशु की परम आध्यात्मिक शक्ति-संपन्नता तथा उच्च गति का संकेत भी किया था। उन्होंने स्वामी महाराज की माता से कहा था: "महारानी जी! तुम इनको पुत्र-भाव करके मत समझना, यह कोई परम संत आकर तुम्हारे यहाँ जन्मा है।" आपके पिता का नाम श्री दिलवाली सिंह था। वे नानक-पंथी थे। छह-सात वर्ष की अवस्था में ही आप मुख्य-मुख्य लोगों को परमार्थ की शिक्षा देने लगे थे। आध्यात्मिक क्षेत्र में आपका कोई गुरु नहीं था और न आपने किसी से दीक्षा ही ली थी, अपितु स्वयं ही अपने माता-पिता तथा अन्य आगन्तुक साधु एवं जिज्ञासुओं को आप पार-मार्थिक उपदेश दिया करते थे। लगभग पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक आप अपने मकान के एक प्रकोष्ठ में बैठकर 'सुरत-शब्दयोग' का अभ्यास करते रहे और इस बीच कभी कभी दो-दो, तीन-तीन दिनों तक उससे बाहर भी नहीं निकलते थे और न इस अवकाश में आपको मल-मूत्र-त्याग की आवश्यकता ही पड़ती थी। आपने अपने जीवन-निर्वाह के लिए अध्यापन का कार्य किया था। आप गृहस्था-श्रम में ही रहे। स्वामी जी महाराज के कोई सन्तान न थी। राधास्वामी मतावलंबी आपको राधास्वामी (परमात्मा) का अवतार मानते हैं। संवत् १९१७ की वसंत-पंचमी से आपने प्रकट रूप से सत्संग-कार्य आरंभ किया और अपने घर पर ही जिज्ञासुओं से धर्म-चर्चा करने तथा उन्हें उपदेश देने लगे। आपका सत्संग निरन्तर सत्रह वर्षों तक दिन और रात चलता रहा; और इस काल में भिन्न-भिन्न जाति के लगभग तीन हजार व्यक्तियों ने आपकी शरण स्वीकार

---

१. तुलसी साहब की संत-परम्परा, पृ० [illegible]

की। आपकी महिमा और अलौकिकता की बात क्रमश: दूर-दूर तक फैल चली और आपकी आध्यात्मिक शक्ति की परख लोगों को मिलने लगी। सत्संग का कार्य बढ़ने लगा, अत: आपने अध्यापन-कार्य का परित्याग कर दिया। जब आपके भाई को नौकरी लग गई, तब आपने सूद पर रुपए देने का पारिवारिक व्यवसाय भी केवल छोड़ ही नहीं दिया, बल्कि कर्जदारो के दस्तावेज भी फाड़कर (नष्ट कर) बहुत बड़े त्याग का परिचय दिया।

स्वामी जी महाराज अन्य पूर्व संतों की भाँति सत्यनाम का ही उपदेश दिया करते थे। राधास्वामी नाम को आपने अपने पूरे गुरुमुख (उत्तराधिकारी) परम गुरु हुजूर साहेब (राय शालिग्राम साहेब बहादुर) द्वारा प्रकट कराया और तबसे 'राधास्वामी' नाम का ही उपदेश दिया जाने लगा।

राधास्वामी नाम से बहुतों को भ्रम हो जाता है कि इस मत का कृष्ण-वल्लभा गोपी राधा से संबंध है। किन्तु वास्तव में परम संत कबीर साहेब, जो संतमत के आदिगुरु माने जाते हैं, की निम्नांकित गुरुवाणी ही इस नाम का आधार है :

कबीर धारा अगम की, सतगुरु दई लखाय।
ताहि उलटि सुमिरन करि, स्वामी संग लगाय ।।

आपने 'सार-वचन-नजम' (पद्य) तथा 'सार-वचन-नसर' (गद्य) नाम की दो पुस्तकें लिखीं, जो राधास्वामी-मत की मुख्य एवं प्रामाणिक पुस्तकें मानी जाती हैं। आपका समाधि-मन्दिर स्वामी-बाग, आगरा में है, जो अबतक बन ही रहा है। इसमें अबतक अपार धन लग चुका है। सारा मन्दिर संगमरमर के पत्थर से निर्मित हो रहा है। इसकी वास्तुकला अद्भुत है। आशा की जाती है कि संपूर्ण संसार में यह एक अद्वितीय स्मारक तथा आपके प्रति आपके अनुयायियों का एक अपूर्व प्रेम-प्रतीक होगा। इसमें प्रत्येक देश और जाति की वास्तुकला की शैलियों के नमूने पाए जाएँगे।

स्वामी-बाग में ही आपका वार्षिक भंडारा आपके निधन के दिन आयोजित किया जाता है। इस अवसर पर दूर-दूर से सत्संगी लोग एकत्र होते हैं।

'सार-वचन' की भूमिका के अनुसार राधास्वामी-मत में तीन चीजें आवश्यक हैं—(१) गुरु, (२) नाम तथा (३) सत्संग। ये ही तीन चीजें वसीलाएँ (सहायक) निजात (उद्धार) की हैं। अव्वल गुरु पूरा और सच्चा होना चाहिए,

यानी संत सद्गुरु। वंशावली के गुरुओं से काम नहीं चल सकता। नाम भी सबसे ऊँचा और सच्चा, पूरा और असली होना चाहिए। तीसरा, सत्संग भी सच्चा चाहिए। उसकी दो किस्मे हैं एक सत्संग है अन्तरीय और दूसरा बाहरी। अन्तरीय सत्सग यह है कि जब अभ्यासी अपनी सुरत यानी जीवात्मा या रूह को अन्दर मे चढ़ाकर सत्पुरुष राधास्वामी (भगवान) के चरणों मे लगावे, उस तरफ मुतवज्जह हो। और, दूसरा यह कि जब उसको दर्शन और सत्संग सत्पुरुष का, जो कि सच्चे व पूरे सत या साधु हैं, नसीब होवे और उनके बचन सुने और दर्शन करे और जो सेवा बन सके, करे। इन दोनो किस्मों के सत्संग से कई दिनो मे हालत बदलती हुई साफ मालूम होगी।[1]

राधास्वामी मत उन्नति का साधन है। वह बतलाता है कि 'किसी एक स्थान पर न ठहरो, वर्ना काम न बनेगा। चलो, चलो, बढ़ते चलो और बिना ध्रुव तक पहुँचे चैन न लो और तुम्हारी पहुँच इष्ट पद तक हो जाएगी।

सहस कंवलदल डेरा डालो, जोत में जोत मिलाओ।
जोत निरंजन जोती झलके, घंटा, शंख बजाओ।
जोत शब्द की निरख-परख में, गुरु का ध्यान लगाओ।
मेघा बरसे बिजली चमके, अमृतधार बहाओ॥

राधास्वामी-सतमत का मार्ग भक्ति-मार्ग है, यानी सच्चे और पूरे मालिक के चरणो मे प्रेम, प्रीति और प्रतीति करना। इसको उपासना भी कहते हैं। इस मार्ग में या तो सत सतगुरु और साधुगुरु की महिमा है या उनके असली शब्द-स्वरूप की महिमा है। संत सतगुरु उनको कहते हैं, जो सत्पुरुष और राधास्वामी मुकाम पर पहुँचे हैं। साधु गुरु उनको कहते हैं, जो ब्रह्म या परब्रह्म के स्थान पर पहुँचे हैं और जो यहाँ तक नहीं पहुचे, उनको साधु या सत्सगी कहा जाता है। इन दोनों, यानी सत और साधु का असली स्वरूप 'शब्द-स्वरूप' है। जाहिरी स्वरूप तो इन्सानी चटका (मानव-देह) है, जो कि लोगो को समझाने और बुझाने तथा उपकार अथवा उद्धार के लिए शरीर धरकर ससार मे प्रकट होते हैं। जब यह मालूम हुआ कि वह पूरे सत या पूरे साधु है, तब फिर उनमें और सत्पुरुष परब्रह्म में भेद नहीं माना जाता है। इस वास्ते जब-जब पूरे संत या पूरे साधु प्रकट होते हैं, तब उनके चरण-सेवक उनकी महिमा सत्पुरुष या परब्रह्म

1. राधास्वामी-योग, भाग-१, पृ० ३४—३६

के बराबर करते हैं, और बाहर से उनकी पूजा, सेवा, आरती वगैरह उसी तौर से बजा लाते हैं जिस तौर से मालिक (भगवान) की करनी चाहिए। इसी जाहिरी स्वरूप की सेवा, दर्शन, वचन-श्रवण व उनके चरण मे प्रेम-प्रीति करने से और जो उपाय वे बतलाएँ, उनका अभ्यास करने से 'सुरत' यानी जीवात्मा मन और माया के जाल से अलग होकर आकाश मे और उससे भी ऊँचा चढ़ती है। अन्त मे जब स्वरूप यानी शब्द मे पहुँचती है तब सच्चा और पूरा उद्धार जीव का होता है।

इससे प्रकट है कि राधास्वामी-मत वास्तव मे प्रेम-मार्ग और भक्ति-पथ है। उसमे गुरु से प्रेम किया जाता है, मगर यह जरूरी शर्त है कि गुरु या तो संत हो या साधु, तब काम बनेगा। अधिक स्पष्ट शब्दो में यह एकमात्र गुरु-पूजा (मुरशिद-परस्ती) का मार्ग है।[1]

राधास्वामी-मत के प्रथम आचार्य के निधन के पश्चात् आपके प्रमुख शिष्य राय शालिग्राम साहेब बहादुर ने सत्संग का कार्य-भार ग्रहण किया। आपको इस मत के अनुयायी परमगुरु 'हुजूर साहेब' कहकर संबोधित करते हैं। आपका जन्म आगरा मे एक माथुर कायस्थ-परिवार मे फाल्गुन शुक्ल अष्टमी, सं० १८८५ वि० में हुआ था। शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद आपने भारत-सरकार के डाक-विभाग मे काम करना शुरू किया और इस विभाग के पोस्टमास्टर-जेनरल के पद पर पहुँचकर अवकाश ग्रहण किया। उस समय तक इस पद पर पहुँचनेवाले आप सर्वप्रथम भारतीय थे।

आपकी भक्ति बहुत ही उच्च एव आदर्श कोटि की थी। आप जीवन-भर अधिक-से-अधिक समय अपने प्रीतम हुजूर राधास्वामी दयाल की भक्ति मे ही व्यतीत करते थे। आपने कुल ग्यारह पुस्तके लिखी हैं। इनमें 'राधास्वामी-प्रकाश' अंग्रेजी मे और शेष हिन्दी मे हैं। हुजूर साहेब लगभग २० वर्षों तक सत्संग का भार ग्रहण कर ६ दिसम्बर, १८९८ ई० को ७० वर्ष की आयु मे परलोकवासी हुए। आपमे एक विचित्र आकर्षण था। आपमें दया और शील की मात्रा बहुत थी और बहुत ही उदारचेता थे। आपके 'प्रेम-विलास' नामक मकान में ही आपकी समाधि बनी। यहाँ पर २७ दिसम्बर को आपका वार्षिक भंडारा होता है। आपके नाम से आगरा में एक बाग़ है, जिसे 'हुजूरीबाग' कहते हैं।

---

1. राधास्वामी-योग, भाग-१, पृ० ६२-६३

इस मत की एक विशेषता है कि इस मत के आचार्य के पुत्र, स्त्री अथवा प्रथम शिष्य के नाते कोई गद्दी का अधिकारी नही माना जाता। जब कोई आचार्य अपना शरीर-त्याग करता है, उस समय अथवा उसके पूर्व ही वह अपने उत्तराधिकारी के संबध मे सकेत कर जाता है। हुजूर साहेब ने पं० ब्रह्मशंकर मिश्र जी को, जिन्हें इस मत के अनुयायी परमगुरु 'महाराज साहेब' कहकर सबोधित करते हैं, अपना उत्तराधिकारी होने का उल्लेख अनेक बार आम-सत्संग मे ही स्पष्ट रूप से कर दिया था।

राधास्वामी-संतमत की आज कुछ शाखाएँ हो गई हैं, जो मूल शाखा से स्वतंत्र हैं। दूसरे गुरु 'हुजूर साहेब' के जीवन-काल में ही श्री जयमंगल सिंह ने डेराव्यास मे स्वतंत्र गद्दी की स्थापना की। आज इस गद्दी का कार्य 'रुहानी सत्सग' के नाम से संत कृपाल सिंह द्वारा संचालित होकर जगत-प्रसिद्ध हो गया है। दूसरे गुरु के दो प्रधान शिष्य पं० ब्रह्मशंकर मिश्र तथा महर्षि शिवव्रत लाल थे। ब्रह्मशकर मिश्र 'महाराज साहेब' के नाम से तीसरे गुरु हुए और महर्षि शिवव्रत लाल ने गोपीगंज मे अलग गद्दी की स्थापना की। महर्षि शिवव्रत लाल बहुत बडे विद्वान थे। राधास्वामी-सत्संग मे कदाचित ही किसी व्यक्ति ने इनके समान ग्रन्थ का निर्माण किया है या इनके समान प्रचार-कार्य मे लगे। अवधूत-गीता तथा श्रीमद्‌भगवद्‌गीता आदि ग्रन्थो का संतमत के आधार पर आपने अनुवाद भी किया है।

तीसरे गुरु प० ब्रह्मशकर मिश्र ने अंग्रेजी में एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद नवम्बर, १८८५ ई० में हुजूर साहेब की शरण स्वीकार की तथा सन् १९०१ से १९०७ ई० तक आपने सत्सग का भार-वहन किया। बनारस के कबीरचौरा मुहल्ले मे आपका समाधि-मन्दिर है, जो स्वामी-बाग के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ प्रतिवर्ष आश्विन शुक्ल पचमी तथा नवमी को आपका वार्षिक भंडारा हुआ करता है। आपने अंग्रेजी मे 'डिस्कोर्सेज ऑन राधास्वामी फेथ' नाम की एक पुस्तक लिखी है।

तीसरे गुरु महाराज साहेब के चार प्रमुख शिष्य—(१) माहेश्वरी देवी उर्फ बुआ साहिबा, (२) मुंशी कामता प्रसाद (सरकार साहेब), (३) श्री आनंद स्वरूपजी (साहेब जी) और (४) श्री अनुकूलचन्द्र चक्रवर्ती थे। बुआजी महाराज साहेब की बहन थीं। आपकी आध्यात्मिक साधना उच्च कोटि की

थी। महाराज साहब ने राधास्वामी-सत्संग को सुचारु रूप से चलाने के सदुद्देश्य से सन् १९०२ ई० मे केन्द्रीय शासन-समिति की स्थापना की। इसके अन्तर्गत छोटी-सी कार्यकारिणी समिति भी बनी। संबंधित नियम और उप-नियम बने। सन् १९०४ ई० में सात सदस्यो का ट्रस्ट बना और उसकी रजिस्ट्री भी हुई। लगभग नौ वर्ष तक संत सद्गुरु का कार्य-संचालन करने के बाद जब महाराज साहेब का निधन अक्टूबर, १९०९ ई० मे हुआ, तब उनके उत्तराधिकारी संत सद्गुरु का प्रश्न उपस्थित हुआ। केन्द्रीय शासन-समिति और ट्रस्ट के अधिकांश सदस्यो ने श्रीमती माहेश्वरी देवी उर्फ बुआ साहिबा को संत सद्गुरु माना, यद्यपि कुछ काल पूर्व प्रसंगवश एक सत्संगी ने महाराज साहेब से पूछा था कि "स्वामी जी महाराज के निधन पर उनकी धर्मपत्नी, जो अध्यात्म-पथ पर बहुत आगे थीं, संत सद्गुरु क्यो नहीं मानी गईं ?" महाराज साहेब ने उत्तर में कहा था कि परम पूज्य स्वामी जी महाराज के पूर्व किसी संत का उत्तराधिकारी संत सद्गुरु कोई महिला न हो सकी थी। महिला में 'निजधारा' (शक्ति) का प्रवेश नहीं होता। अतः राधास्वामी-मत की ११६ शाखाओं मे से १११ शाखाओ ने मुरार (भोजपुर जिला, बिहार)-निवासी श्री कामता प्रसाद सिन्हा को ही संत सद्गुरु माना। भिन्न-भिन्न स्थानो के रहनेवाले अनेक सत्संगियों को स्वप्न हुआ कि संत सद्गुरु महाराज की 'निजधारा' कामता बाबू मे प्रवेश कर गई। बहुतो ने 'महाराज साहेब' के स्वरूप को 'सरकार साहेब' (कामता बाबू) के स्वरूप मे परिवर्तित होते भी देखा। इस प्रकार 'सरकार साहेब' के उपनाम से श्री कामता प्रसाद सिन्हा चौथे संत परम गुरु हुए।

'हुजूर महाराज' ने अपने जीवन-काल मे ही अपने प्रमुख शिष्य प० ब्रह्मशंकर मिश्र को दीक्षा देने का अधिकार दे दिया था। अतः १८९१ ई० मे आपने श्री कामता प्रसाद सिन्हा को दीक्षा दी और ध्यान की प्रक्रिया समझा दी। कुछ काल बाद महाराज साहेब ने कामता बाबू को हुजूर साहेब के सम्मुख उपस्थित करते हुए निवेदन किया कि वे एक अप्राप्य उपहार प्रस्तुत कर रहे हैं। तत्पश्चात् जब कामता बाबू आगरा मे हुजूर साहेब के सान्निध्य मे गए तब उन्होंने 'प्रार्थना' नामक ५२ पद्य-संग्रह भेंट कर मधुर वाणी मे पढ़ा, जिसकी पहली पंक्ति थी :

'हे संतन सिरताज कृपाला, हे गुरु दीनदयाला।'

जब आप 'सरकार साहेब' के उपनाम से चौथे गुरु हुए तब आपने इन पदो की आवश्यक सुधार के बाद 'प्रेम समाचार' मे छपने की अनुमति दी। सरकार

साहेब का लिखा हुआ एकमात्र ग्रन्थ 'प्रेम-समाचार' ही है। इसमें राधास्वामी-मत का सार-संग्रह है।

एक समय कबीर साहेब की प्रसिद्ध वाणी 'दुःख मे सुमिरन सब करे, सुख मे करे न कोय। सुख मे सुमिरन जो करे, दुःख काहे को होय॥' का उल्लेख करते हुए सरकार साहेब ने उपदेश दिया कि राधास्वामी-मत के साधको को सयमित जीवन व्यतीत करते हुए सब समय पवित्र नाम का उच्चारण करते रहना चाहिए। जो सभी समय पवित्र नाम का उच्चारण करता है, उसे राधास्वामी दयाल कभी नही छोड़ते।

महाराज साहेब के जीवन-काल में राधास्वामी-मत का केन्द्र-स्थान प्रयाग में था। बाद में वाराणसी में रहा। पर उनके निधन के बाद चौथे गुरु सरकार साहेब के समय सत्संग-केन्द्र गाजीपुर रहा; क्योंकि वहीं सरकार साहेब वकील थे। तत्पश्चात् सरकार साहेब की जन्मभूमि मुरार में उनकी मृत्यु तक सत्संग सक्रिय रूप से चलता रहा।

पाँचवे सद्गुरु सर आनन्द स्वरूप हुए, जो वाराणसी में सरकारी कर्मचारी थे। अतः सुविधापूर्वक रविवार तथा छुट्टियों के दिन सरकार साहेब की सेवा मे उपस्थित हो जाया करते थे। सन् १९१२ ई० मे आपकी बदली आगरा हुई। अतः आगरा से मुरार आना सुविधाजनक नहीं था। इससे आप बहुत दुःखी हुए। जब अश्रुपूर्ण नेत्रो के साथ आप सरकार साहेब के समक्ष उपस्थित हुए, तब सरकार साहेब ने हँसते हुए कहा कि "रोने की क्या बात है ? तुम आगे चलो, मैं पीछे-पीछे आ रहा हूँ।" इस कथन के स्पष्टीकरण के लिए निवेदन करने पर सरकार साहेब ने कहा कि राधास्वामी-सत्संग-केन्द्र आगरा निश्चित किया गया है। जहाँ आज राधास्वामी शिक्षा-भवन स्थित है, वह भूमि खरीदी गई। तत्पश्चात् जब २७ दिसम्बर, १९१४ ई० को 'हुजूर साहेब' का भंडारा आगरा मे हुआ, उसी अवसर पर राधास्वामी-सभा ने २९ दिसम्बर, १९१४ ई० की अपनी बैठक में केन्द्र-स्थान आगरा निश्चित करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। स्थान का नाम 'दयालबाग' रखा गया। इस निर्णय के अनुसार २० जनवरी, १९१५ ई० को मलबरी (शहतूत) के एक वृक्ष-रोपण-कार्य के साथ 'दयालबाग' की नींव डाली गई।

स्वामीजी महाराज की समाधि स्वामीबाग, आगरा मे हुजूर महाराज के जीवन-काल से ही निर्मित हो रही है। दूसरे गुरु हुजूर महाराज की समाधि

आगरा में उनके प्रेम-विलास मकान के अहाते मे ही स्थित है। वहाँ नियमित रूप से भडारा होता है। तीसरे गुरु की समाधि वाराणसी में है, जहाँ प्रतिवर्ष भडारा होता है। ये तीनों समाधियाँ स्वामीबागवालो के अधिकार मे हैं। दयालबागवाले सत्सगियों को उन समाधियो पर उपस्थित होने और ध्यान-पूजा आदि करने में अडचन डालने लगे। सरकार साहेब तथा उनके बाद के पाँचवे गुरु साहेब जी ने स्वामीबाग के लोगो से समझौता करने का प्रयत्न किया, किन्तु अपने प्रयास मे वे न केवल विफल रहे, बल्कि स्वामीबाग वाले दयालबाग के पूज्य गुरुओ के प्रति अपमानजनक शब्दो का भी व्यवहार करने लगे, जिससे क्षुब्ध होकर सरकार साहेब के अनुयायियों ने मार्च, १९१० ई० में 'राधास्वामी सत्सग-सभा' की स्थापना की और स्वामीबागवालों से पूर्णतया संबध-विच्छेद कर लिया। अन्त में विवश होकर 'राधास्वामी-सत्संग' ने १९४३ ई० मे आगरा के सब-जज की अदालत मे मुकदमा दायर कर दिया। यह मुकदमा १।१९४३ के रूप मे ५ जुलाई, १९६१ को फैसला प्राप्त कर सका। निर्णय दयालबागवालो के पक्ष मे हुआ। स्वामीबागवालो ने अपील कर दी, जो अभी विचाराधीन है।

बुआ साहिबा के निधन के पश्चात् स्वामीबागवालों ने रायबहादुर माधो प्रसाद सिन्हा को गुरु माना। सन् १९४९ ई० मे जब उनकी मृत्यु हो गई, तबसे इस शाखा का कोई गुरु नही हुआ। इस शाखा के अन्तर्गत समस्त चल तथा अचल सपत्ति ट्रस्ट तथा स्वामीबाग-समिति के अधिकार मे है।

सरकार साहेब ने चौथे सद्गुरु के रूप मे राधास्वामी-सत्सग का संचालन लगभग सात वर्ष तक सफलतापूर्वक किया और २३ मार्च, १९१३ को निज धाम सिधारे। आपके कार्य-काल में राधास्वामी सत्सग की शाखा सुदूर तमिलनाडु (मद्रास) राज्य मे भी स्थापित हो चुकी थी।

सरकार साहेब का विवाह छपरा (बिहार) के प्रसिद्ध वकील श्री रघुबंश सहाय की कन्या के साथ हुआ था। सरकार साहेब के दो पुत्र हैं। ज्येष्ठ पुत्र गुरुदेव प्रसाद सिन्हा टेकनिकल कॉलेज, दयालबाग (आगरा) के प्रिंसिपल थे। अब उन्होंने उस पद से अवकाश ग्रहण कर लिया है। दूसरे पुत्र श्री गुरुदयाल प्रसाद सिन्हा बिहार-सरकार के को-ऑपरेटिव विभाग मे कर्मचारी थे। अब ये भी सेवा-निवृत्त हो चुके हैं।

हुजूर साहेब (सर आनन्द स्वरूप) का जन्म ६ अगस्त, १८८१ ई० को अंबाला (पंजाब) जिले के कल्माजरी ग्राम मे हुआ था। बाल्यकाल से ही साहेब जी शांत प्रकृति के और चिन्तनशील थे। युवावस्था प्राप्त करने पर आपने अनुभव किया कि केवल पुस्तकों के अध्ययन से ही ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः आप गुरु की खोज मे निकल पड़े। इस संबंध में संसार के प्रसिद्ध तत्त्व-चिन्तक मिस्टर पॉल ब्रण्टन के साथ हुआ उनका वार्तालाप उल्लेखनीय है। सन् १९३१ ई० मे जब श्री पॉल आपसे मिलने दयालबाग आए तब आपसे निम्नांकित बातें हुईं :—

साहेब जी—धार्मिक क्षेत्र में आत्म-निर्भरता का कोई स्थान नहीं है। गुरु की नितान्त आवश्यकता होती है।

पॉल ब्रण्टन—क्या आपने गुरु की आवश्यकता अनुभव की ?

साहेब जी—निस्संदेह। चौदह वर्ष तक गुरु की खोज करने पर मुझे सद्गुरु मिले।

पॉल ब्रण्टन—जीवन के चौथे भाग, यानी चौदह वर्ष तक गुरु की तलाश करना क्या महत्त्वपूर्ण था ?

साहेब जी—गुरु की तलाश मे जो समय लगता है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। पहले मैं नास्तिक था। बाद मे ऐसे गुरु की खोज के लिए व्यग्र हो उठा, जो आत्मानुभूति करा सके। बालक के समान मैं रोता था और प्रकाश के लिए प्रार्थना करता था। अन्त मे निराश होकर मैंने निश्चय किया कि यदि मुझे ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका, तो मैं उपवास कर प्राणान्त कर दूँगा। दूसरी ही रात्रि मे मुझे स्वप्न हुआ। स्वप्न मे गुरु ने मेरे सम्मुख आकर अपना परिचय दिया। मैंने उनका पता पूछा तो उन्होंने इतना ही कहा—'इलाहाबाद'। यह भी कहा कि मुझे पूरा पता बाद में मिलेगा।

साहेब जी के बड़े भाई, द्वारिका बाबू, राधास्वामी-मत में पहले ही दीक्षित हो चुके थे, पर इसकी जानकारी किसी को न थी। जब साहेब जी ने उनसे अपने स्वप्न की बात कही, तब उन्होंने एक फ़ोटो लाकर साहेब जी को दिया और पूछा कि क्या वह उस फोटो में किसी को पहचानते हैं। तत्काल ही उन्होंने हुजूर महाराज साहेब को पहचान लिया। उन्हीं को उन्होंने स्वप्न में देखा था। द्वारिका बाबू ने सूचित किया कि राधास्वामी-मत के सद्गुरु का वह

दिन इस ओर वे प्रयाग मे रहते थे। तत्पश्चात् आपने दीक्षा के लिए आवेदन-पत्र दिया और महाराज साहेब की आज्ञा मिलने पर लाहौर के साधु श्री लाल चन्द्र सूरि ने दीक्षा दी। दीक्षा के पूर्व और बाद की अपनी अवस्था का साहेब जी ने निम्न पदो मे वर्णन किया है—

(क) सतगुरु मेरे पियारे, खुद घर से चलके आए।

(ख) मिले मोहिं राधास्वामी प्यारे, सराहूँ भाग क्या अपना।

दीक्षा के बाद जिन दिनो साहेब जी प्रयाग मे रहते थे, वे नियमित रूप से सत्सग मे सम्मिलित होते थे और महाराज साहेब की सेवा में भी उपस्थित रहते थे। उनको आध्यात्मिक अनुभूति होने लगी। सन् १९०७ ई० के आरम्भ मे छुट्टी लेकर महाराज साहेब वाराणसी मे रहने लगे। साहेब जी भी वहाँ यदा-कदा जाया करते थे। एक दिन महाराज साहेब साहेब जी को अपने निजी कमरे में ले गए और विशेष प्रसाद दिया। इस घटना का जिक्र साहेब जी ने निम्न पद में किया है—

फिर ऐसी मौजधारी, गहरी दया बिचारी।
योंही बहाना करके, खुद घर पर अपने लाए।।

महाराज साहेब के १२ अक्टूबर, १९०७ ई० को निज धाम पधारने के बहुत थोड़े काल बाद आत्मानुभूति द्वारा उन्हे गाजीपुर-सत्संग में जाने की आज्ञा हुई।

सन् १९१३ ई० मे जब सरकार साहेब मसूरी मे लौटे तब मार्ग में वाराणसी में ठहरे और महाराज साहेब की समाधि पर सत्संग हुआ। इस अवसर पर साहेब जी भी उपस्थित थे। सत्सग के बाद प्रसाद-वितरण हुआ। प्रसाद बुंदी के लड्डू का था। जब साहेब जी प्रसाद लेने पहुँचे तब सरकार साहेब ने कहा—"देखो, शीराजे को बिखरने न देना।" इसका अर्थ था सत्संग का संगठन बिखरने न पावे। साहेब जी महाराज ने सरकार साहेब की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। २४ वर्ष के कार्य-काल में आपने दयालबाग-सत्संग को सर्वतोमुखी उन्नति प्रदान की। सत्संग का देशव्यापी प्रचार हुआ। अनेक ग्रंथों का संकलन हुआ। दयालबाग एक अखिल भारतीय प्रसिद्धि का शैक्षणिक एवं औद्योगिक केन्द्र हो गया। सन् १९३२ ई० मे जब अजमेर के प्रसिद्ध नेता दीवान हरविलास शारदा दयालबाग देखने आए तब साहेब जी ने निम्नलिखित शब्दों में दयालबाग की स्थापना का उद्देश्य बतलाया :

"हमलोगों का विश्वास है कि किसी देश की उन्नति और अवनति अति महान आत्मा के रहने या चले जाने पर निर्भर करती है। महान आत्मा उसी देश और समाज में अवतीर्ण होते हैं, जहाँ उन्हें कार्य करने की काफी सुविधा होती है। इसी कारण हमलोग दयालबाग में पवित्र धार्मिक वातावरण—जो भारत की संस्कृति के अनुकूल हो—के साथ-साथ जिस प्रकार पश्चिमी देशों में स्वतंत्रता और साधन उपलब्ध हैं, उसी प्रकार यहाँ उपलब्ध करना चाहते हैं।"

सन् १९३७ ई० में दक्षिण-भारत के सत्संगियों ने साहेब जी से दक्षिण जाने की जोरदार प्रार्थना की और वे उसी साल २१ मई को दक्षिण-यात्रा पर निकल पड़े। २४ जून को कुटलालम में सत्संग हुआ, पर उसी दिन संध्या में ८-३० बजे आप इस लोक से कूच कर गए।

साहेब जी के निधन के पश्चात् उनके आदेशानुसार श्री गुरुचरण दास मेहता छठे सद्गुरु हुए और संप्रति दयालबाग-सत्सग का संचालन कर रहे हैं। आपका जन्म सन् १८८५ ई०. में हुआ था। आप अवकाश-प्राप्त इंजीनियर हैं।

श्री अनुकूलचन्द्र चक्रवर्ती ने पवना (बंगाल) में एक अलग शाखा स्थापित की। भारत-विभाजन के कुछ पूर्व आपने अपना आश्रम देवघर (बिहार) में स्थापित किया। आपके लाखों अनुयायी हैं; किन्तु जानकारों का कथन है कि यह शाखा राधास्वामी-सिद्धान्त से हटती जा रही है।

दयालबाग राधास्वामी-मत और व्यास-सत्संग में समझौता

सन् १९३२ ई० में साहेब जी महाराज के परम सद्गुरु होने के बीस वर्ष की समाप्ति पर दयालबाग के सत्संगियों ने बहुत उल्लास प्रदर्शित किया। दिसम्बर, १९३२ ई० में विशेष उत्सव हुआ, जिसमे लगभग १२,५०० व्यक्ति सम्मिलित हुए। इसी अवसर पर श्री जयमगल सिंह द्वारा स्थापित व्यास-शाखा के सतगुरु सरदार सावन सिंह भी उपस्थित थे। अबतक व्यास-शाखा के सत्संगियों को भगवान के पाँच नामों—निरंजन, ओम्, ररम, सोहंम और सत—का उच्चारण करने का उपदेश दिया जाता था। किन्तु दयालबाग के सत्संगियों को 'राधा-स्वामी' का जप करने को कहा जाता था। इस विषय पर सरदार सावन सिंह और साहेब जी महाराज के बीच विचार-विमर्श हुआ और दोनों सद्गुरुओं ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। २५ दिसम्बर की एक विशेष बैठक में दो सद्गुरुओं

के बीच हुए समझौते को व्यास-सत्संग के मंत्री ने पढ़कर सुनाया। अन्य बातों के साथ-साथ समझौते मे लिखा था कि कुछ विचार-विभिन्नता के कारण व्यास और दयालबाग के सत्संगी अलग रहे, किन्तु अब विभिन्नता नही रही और दयालबाग तथा व्यास के सत्संगी परम पुरुष पूरणधनि स्वामी जी महाराज को दयावान् राधास्वामी का अवतार और 'राधास्वामी' शब्द को परमात्मा का सच्चा नाम मानते हैं और भविष्य में दीक्षा के समय व्यास के सत्संगियो को 'सच्चा नाम' का ज्ञान करा दिया जाएगा, जिस प्रकार दयालबाग के सत्संगियो को कराया जाता है।

अत: आज यद्यपि व्यास-सत्संग दयालबाग-सत्संग की एक शाखा है, तथापि इसने गत लगभग १७ वर्षों में 'रुहानी सत्संग' के नाम से अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है, इसलिए 'रुहानी सत्सग' का वर्णन एक स्वतत्र संतमत के रूप मे आगे किया गया है।

राधास्वामी-मत मे वर्तमान गुरु का ध्यान करने का विधान है। इस मत के प्रवर्त्तक स्वामी जी महाराज ने अपने ग्रन्थ 'सार वचन' मे स्पष्ट रूप से कहा है कि "वक्त गुरु को मान, तेरे भले की कहूँ; पिछलों की तज टेक, वक्त गुरु को मान, तेरे भले की कहूँ।" अतएव समस्त साधक वर्तमान गुरु का ही ध्यान करते हैं; किन्तु सब गुरुओ को आदर की दृष्टि से देखते हैं।

"राधास्वामी-सत्सग के मुख्य चार अग हैं, जिन्हें पूरा गुरु, नाम, सत्सग तथा अनुराग कहते हैं। पूरा गुरु से अभिप्राय संत सद्गुरु या साधु सद्गुरु से है। स्वामीबाग के अनुसार सत सद्गुरु तथा राधास्वामी में वस्तुतः कोई अन्तर नही है। दयालबाग उन्हे केवल इनका प्रतिनिधि-मात्र अथवा निजधार-स्वरूप स्वीकार करता जान पड़ता है।

राधास्वामी-मत के प्रत्येक अनुयायी के लिए संत सद्गुरु अथवा उनके चित्रादि के समक्ष अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन मुख्य कर्त्तव्य माना जाता है। संत सद्गुरु द्वारा स्पर्श की गई अथवा व्यवहार में लाई गई प्रत्येक वस्तु पवित्र तथा उपादेय है। उसे बिना तर्क-वितर्क के अपना लेना परम धर्म है।

राधास्वामी-सत्संग का न्यूनाधिक प्रचार भारत के प्रायः प्रत्येक राज्य में हो चुका है। इसके अनुयायियो की संख्या [illegible] लाखों की दीख पड़ती है। इसकी रहस्यमय अंतरंग कार्य-प्रणाली इसकी प्राणायाम-विहीन योग-साधना को बाह्य

सरलता, इसका सादा तथा सद्भावपूर्ण व्यवहार की ओर अधिक झुकाव तथा आध्यात्मिक जीवन में भी समृद्धि-लाभ संबंधी इसकी योजना इसके प्रति आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त साधन है ।[1]

रामाश्रम-सत्संग—रायपुर-निवासी हजरत मौलाना फजल अहमद खाँ साहब (कुद्दस सुर्रहू) उच्च कोटि के सूफी संत थे। आप इस विद्या को हिन्दुओं की विद्या कहते थे। आपने वेदान्त तथा सूफी साधनों को मिलाकर एक ऐसा अनुपम प्रेममय मार्ग निकाला, जिसके द्वारा साधक गृहस्थी में रहते हुए गुरु की सहायता से षट्चक्रों को वेधता हुआ अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाता है।

पूज्य महात्मा रामचन्द्र जी तथा उनके अनुज महात्मा रघुवर दयाल जी मौलाना के प्रमुख शिष्यों में थे। दोनों ने अध्यात्म पथ में काफी प्रगति की। दोनों आजीवन गृहस्थ-आश्रम में रहे। दुखियों का दुःख दूर करने की ओर इन दोनों महानुभावों का ध्यान रहता था। इन्हीं महात्मा रामचन्द्र जी के शिष्य परम संत डाक्टर चतुर्भुज सहाय थे।

रामाश्रम-सत्संग के प्रवर्त्तक डा० चतुर्भुज सहाय जी का जन्म पुण्यसलिला गंगा के पास स्थित एटा जिले के अन्तर्गत चमकरी गाँव में कार्तिक शुक्ल चतुर्थी, संवत् १९४० (३ नवम्बर, १८८३ ई०) को हुआ था। आपने कायस्थ-वंश की कुलश्रेष्ठ शाखा को गौरवान्वित किया था। आपकी जन्म-पत्री को देखकर पण्डितों ने बतलाया था कि यह अपने समय के एक अच्छे महापुरुष होंगे तथा बहुत-से लोगों का कल्याण करेंगे। विद्याध्ययन के उपरान्त आपके मन में यह अभिलाषा जगी कि किसी प्रकार देश का कुछ सुधार हो। ये विचार हृदय में तरंगित हो ही रहे थे कि एक दिन आपको अपने ननिहाल फतहगढ़, जिला फर्रुखाबाद जाना पड़ा। कुछ समय आप वहाँ रहे और वहीं पर आपने एलोपैथी तथा होमियोपैथी का ज्ञान प्राप्त किया। आपके पिताजी को आयुर्वेदिक चिकित्सा का अच्छा ज्ञान था। अतः आपको आयुर्वेद का भी उत्तम ज्ञान हो गया। यह सब सीखकर आपने देश-सेवा करने का विचार किया।

कुछ काल उपरान्त आपने डाक्टरी का कार्य आरम्भ कर दिया। लेकिन ये सब कार्य भी आपको दूसरी ही ओर ले जा रहे थे। जितने भी अस्वस्थ लोग

---

1. उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० ८०८—११

आते, सबको औषधि देते, उनकी सेवा करते। जो कुछ किसी ने दे दिया, खुशी-खुशी ग्रहण कर लेते। गरीबो और मुहताजो का इलाज निःशुल्क कर दिया करते, क्योकि उनका क्लेश देखकर आपका हृदय द्रवित हो उठता और उनकी जो भी सहायता हो सकती थी, आप तत्परता से किया करते। उन लोगो को भोजन-वस्त्र की भी आवश्यकता होती तो उनकी भी पूर्ति आप कर दिया करते। एक तरफ से अर्जन कर दूसरी तरफ दान कर देना उनकी वृत्ति हो गई थी। धीरे-धीरे आपके पास केवल वही लोग आने लगे, जो निर्धन थे। उसी बीच प्लेग का प्रकोप हुआ और आप फतहगढ़ चले गए। वहाँ भी चिकित्सा-कार्य बराबर चलता रहा।

ऐसा ईश्वरीय नियम है कि जिसकी जिस किसी कार्य में लगन रहती है, भगवान उसे पूरा करते हैं। डाक्टर साहब हर समय शान्त भाव से यह सोचा करते थे कि मनुष्य ऐसी उलझनों मे क्यों है ? सब कुछ होते हुए भी उसे शान्ति क्यो नही मिलती ? संतों के जीवन और उनकी सुहबत से आपको यह पता चला कि शान्ति न धन मे है, न वैभव मे और न विद्या में। वह तो बिना भगवान की शरण मे आए और बिना आत्म-ज्ञान के किसी प्रकार आ नहीं सकती और उसके लिए सर्वप्रथम किसी सद्गुरु का चरण पकडना होगा।........इस दृष्टि से आप बराबर महात्माओ से मिलते रहते थे और उनके बतलाए कुछ प्रयोगो का अभ्यास भी करते जाते थे।

फतहगढ़ गंगा के तट पर होने के कारण वहाँ महात्माओ से मिलना-जुलना सुलभ था। नेति, धोती, प्राणायाम आदि भी आपने बहुत समय तक किया; परन्तु आपको इनके द्वारा शारीरिक लाभ के अतिरिक्त कुछ और अधिक की आध्यात्मिक मार्ग में उपलब्धि न हो सकी। आपका यह निश्चित मत हो गया कि बिना मन को निर्मल किए और बिना उसका निरोध किए आत्म-ज्ञान प्राप्त करना दुष्कर ही नहीं, असंभव है, क्योकि शुद्ध मन पर ही निर्विकारी आत्मा का बिंब पड सकता है, अशुद्ध और चंचल मन पर नहीं। अतः सभी क्रियाओ को त्याग कर आप दिन-रात सद्गुरु की तलाश में रहने लगे।

महात्मा रामचन्द्र जी अलीगढ़ तहसील मे कर्मचारी थे। इन्हीं दिनों आप बदलकर फतहगढ़ आ गए। संयोगवश डाक्टर साहेब का उनसे संपर्क हुआ और उन्हें अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होने का अवसर मिला। महात्मा रामचन्द्र जी

गृहस्थ संत थे, अतः आरम्भ में डाक्टर साहब इन्हें पहचान न सके। इलाज कराने के बहाने इनसे मुलाकात होने लगी। महात्मा जी सामान्य वेश-भूषा मे रहा करते थे और वे साधारण जन-से प्रतीत होते थे। उनकी विशेष ख्याति भी नही थी। पर धीरे-धीरे उनके आन्तरिक गुणो की ओर डाक्टर साहब आकृष्ट होने लगे। कहावत है कि "फकीर को कोई फकीर ही पहचानता है।"

प्लेग का समय था। डाक्टर साहब तिर्वा की कोठी मे गगा के किनारे रहते थे। महात्मा जी भी सयोगवश वही अकेले रहने लगे। बच्चो को कही दूर सुरक्षित स्थान पर एक रिश्तदारी मे भेज दिया था। डाक्टर साहब और महात्मा जी एक ही कमरे मे रहने लगे। दोनो का भोजन भी साथ ही बनने लगा। इस तरह साथ रहते दो महीने बीत गए, पर उनकी जुबान पर न तो कभी भगवान का नाम आते देखा और न कोई धार्मिक चर्चा ही करते सुना। इतने जब्त और इतनी खामोशी मे कोई कैसे उन्हे तोल सकता था ?

परन्तु महात्मा जी का डाक्टर साहब के ऊपर आन्तरिक प्रेम था। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने नित्य रात्रि के समय, जब डाक्टर साहब सो जाते थे तब, उनके ऊपर 'तवज्जह सायवाना' (अज्ञातावस्था मे हृदय-शुद्धि) का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया और अनजान डाक्टर साहब को माया के कठिन दलदलो से पार करके सुन्दर एव सुहावने अध्यात्म-क्षेत्र मे खड़ा कर दिया और उसी देश का अधिवासी बना दिया।

वह अज्ञात हृदय शुद्धि की प्रक्रिया नित्य-प्रति चलती रही और उसका प्रभाव चुपके-चुपके डाक्टर साहब पर होता रहा। कई मास पश्चात् डाक्टर साहब इस बात को जान सके कि उनकी सुरति को जबरदस्ती ससार से हटाकर अध्यात्म-मार्ग की ओर मोड़ा जा रहा है और प्रभु-चरणो की ओर मन को प्रेरित किया जाता है। इसी का नाम 'तवज्जह सायवाना' है। यो तो सत प्रत्येक मनुष्य पर इसका प्रयोग हर समय ही करते रहते हैं, अपने रग के छीटे अनजान मे सबपर डाला ही करते हैं और अवसर आने पर उसका प्रभाव भी प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु यदि दया किसी व्यक्ति-विशेष पर हो जाती है, तब तो सीधी धार उसी ओर जाती है और उसके हृदय की चादर को गहरा रग देकर छोड़ती है। इसके लिए रात्रि का वातावरण शीघ्र फलदायक होता है। इसलिए यह काम अधिकतर रात्रि मे ही किया जाता है। इस प्रकार ईश्वर-

विमुख लोगों को सत्पथ की ओर लाने के लिए यह एक ऐसा हथियार है, जिसका वार कभी खाली नही जाता। यह ऐसा तीर है, जो कमान मे निकलते ही सीधे मन को निशाना बनाता है। यही बात डाक्टर साहब के साथ हुई।

इसके उपरान्त आपने खूब अच्छी तरह अन्तर-क्षेत्र को मुलायम कर लिया और जब वह बोने के योग्य हो गया, तब एक दिन डा० साहब को सुदूर सघन वन मे, जो बडा हरा-भरा और गगा-किनारे था, जहाँ एक छोटी कुटिया थी, बैठाकर प्रथम पाठ दिया। इसका विवरण डा० साहब के ही शब्दो मे निम्न प्रकार है :

"आपने कहा कि थोडी देर मुडकर बिलकुल मेरे मुकाबिल (सामने) हो जाओ ताकि जो अक्स पडे, ठीक तुम्हारे मे उतरे, आँखें हलके से बद कर लो और अपने मन को देखते रहो कि वह क्या-क्या कर रहा है। अब मैं कुछ नहीं देख रहा था, केवल मन के कृत्यों को देख रहा था। आरम्भ मे तीन-चार मिनट तक विचारो का ताँता लग गया। जब यह कुछ बंद हुआ तब एक स्याह पर्दा सम्मुख आया, आगे चलकर वह फटने लगा, उसमे से एक चमकता हुआ सूर्य दिखाई दिया। अद्‌भुत आनद प्रतीत हुआ। इस समय मुझे कुछ खबर नहीं थी। मस्ती की दशा बढ़ रही थी। इसके बाद मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी दूसरी दुनिया मे हूँ। अनेक दिव्य लोक सामने थे, भिन्न-भिन्न दिव्य आत्माएँ सम्मुख दर्शन दे रही थी, अनेक प्रकार के दिव्य शब्द सुने जा रहे थे। आगे खिचाव और बढ़ा और एक शक्ति का भास हुआ, जो सबको चला रही है, सबपर उसका नियन्त्रण है, सबकी अधिष्ठात्री है, ऐसा जान पडा। किसीने सकेत से कहा—यही सर्वशक्तिमान ईश्वर है, यही खुदा है, इसी का नाम आदि प्रकृति है, यही मूल-माया, सर्वेश्वरी जगदम्बा है। शक्ति यही है, शक्ति-मान भी यही है, यही जगत्-विधात्री आदिशक्ति का दर्शन है। माया यहाँ से आगे नहीं जाती, प्रकृति का खेल यही समाप्त होता है। यही पर ब्रह्माण्ड का अंत है।

"यह सब ४०-४५ मिनट के अंदर हो गया। जिन अवस्थाओ के लिए लोग तरसते हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए जीवन-भर पाँव रगडते हैं, वह प्रथम दिन ही मुझे मिल गई; जो दर्शन जन्म-जन्मांतर मे भी नसीब नही होते, वह केवल गुरु-कृपा से मुझे प्रथम दिन ही मिल गए।

"इसी पर मौलाना रूम ने कहा है :

एक साअत सुहबते बा औलिया,
बेहतर अज़ सद साल ताअते बेरिया।

अर्थ—सौ वर्षों के सच्चे तप से, जिसमे कोई बनावट या मक्कारी न हो, एक घड़ी किसी संत की सुहबत (संग) बेहतर होती है, जो वस्तु तप से दुर्लभ है, वह संतों की दया से मिनटो व सेकेण्डो में मिल जाती है।"[1]

यह भृंगी साधन था। आगे आपने इसी को अपनाया। गुरु के विचारों को बराबर लेते रहने से कुछ काल के बाद साधक गुरु के समान ही हो जाते है। इसी को 'सारूप्यता' भी कहते हैं। गुरु कुछ काल मे शिष्य को लगातार अपने विचार भेजकर उसके समस्त विचारो को मिटा, उसके हृदय-पटल पर अपने ही ज्ञान को भर देता है। इस प्रकार साधक गुरु के ज्ञान को तो ले ही लेता है, परन्तु कही-कही पर यह भी होता है कि शिष्य की वाणी और गुरु की वाणी में भेद नही रह जाता, पहचान मे नही आता कि कौन बोल रहा है। लेकिन डा० साहब की साधना तो और आगे शरीर पर भी प्रभाव डाल चुकी थी, अर्थात् आपने शरीर से भी अपने गुरु मे तद्रूपता प्राप्त कर ली थी।[2]

गुरु की कृपा आपपर पूर्ण रूप मे थी। वह जानते थे कि डा० साहब पूर्वजन्म के संस्कार के कारण अधिकारी शिष्य थे। आपकी ओर से उन्हें बडी आशा थी। उन्होने यह भी कहा था – मैं यह काम अपना नही कर रहा हूँ, अपने गुरु महाराज (कुद्दूस सुर्रहू) का कर रहा हूँ। मै न रहूँ तो इस काम को तुम पूरा करना, मेरी आत्मा को इससे बढ़कर कोई दूसरी प्रसन्नता की बात नही होगी और यही मेरी दक्षिणा समझना। इसके लिए मैं हर समय तुम्हारी सहायता करूँगा।" ये शब्द उन्होने पहले भी कहे थे और शरीर त्यागते समय, जब आप वहाँ उपस्थित थे, तब भी दुहराए थे। आपने आँखो मे अश्रु भर-कर यह आदेश स्वीकार किया था। अन्तिम बार चरण पकड़कर आपने गुरु से सदा कृपा रखने की प्रार्थना की थी।[3]

गुरु की आज्ञा पाकर डाक्टर साहब ने अपना समस्त जीवन प्रचार-कार्य में

---

1. **जीवन-दर्शन**, पृ० १७-२० (पं० मिहीलाल जी)
2. ,, ,, २१ ,,
3. ,, ,, २३-२४ ,,

लगा दिया, जिसके फलस्वरूप 'रामाश्रम-सत्संग' की स्थापना हुई। डा० साहब ने इसका नामकरण अपने पूज्य गुरु महात्मा श्री रामचन्द्रजी महाराज के नाम पर किया। आज यह लाखो ज्ञान-पिपासु एव जिज्ञासु लोगो को अध्यात्म का अमृत-रस पिला रहा है।

इस मत का सिद्धान्त है कि सारा ससार ही ससार है, इसको छोडकर हम कहाँ जा सकते हैं, रहो इसी मे और सारे ससारी काम करो, पर इसमे अपना फँसाव मत रखो। इसकी निस्सारता को विवेक द्वारा विचार करते रहो, इससे अभ्यास मे उन्नति होगी और जल्द ही साधक ईश्वर के समीप पहुँच सकेगा। वैराग्य शरीर से किसी वस्तु के त्यागने का नाम नही है, बल्कि मन को अलग रखने का नाम है।

इस मत मे सेवा पर बहुत जोर दिया गया है। कहा गया है कि अपनी उन्नति के लिए कुछ सेवा करो। जितना हो सके, दूसरो का उपकार करो। कहा गया है कि सेवा दो तरीके से होती है—शारीरिक और मानसिक। मानसिक सेवा तो वही लोग कर सकते है, जिनके अदर मनोबल हो तथा जिन्होने साधन और अभ्यास द्वारा अपनी आत्मशक्तियो को जाग्रत कर लिया हो तथा अपने मन से दूसरो के मन को तथा अपनी आत्मा से दूसरो की आत्मा को लाभ पहुँचा सकते हो। परन्तु शारीरिक सेवा तो प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य या किसी प्राणी की कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द जी भी कहा करते थे कि ईश्वर से प्रेम करो और उसके प्यारे पुत्रो से प्रेम करो। प्रेम की भावनाओ से प्रेरित होकर जब मनुष्य इस जगत के प्राणियो को अपना इष्ट बनाकर उनकी पूजा और सेवा करता है तभी ईश्वर अपने दर्शन देता है और उसका कल्याण करता है। किसी सत न कहा भी है.

यही है इबादत यही दीन ईमा,
फिर दुनिया में काम आवे इसा के इसा।

मनुष्य बनने के लिए, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा विराट पुरुष ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए हमे अपने अन्दर पर-सेवा के भाव उदय करने होगे और मान, बडाई तथा बदले की इच्छा को छोड तन, मन और धन से इस सेवा के कार्य मे जुट जाना होगा और सारे ही प्राणियो को अपना प्रेम-पात्र बनाना होगा। तब उसकी दया हमारे ऊपर होगी।

अतः इस संतमत के वर्तमान आचार्य पं० मिट्ठीलाल का आदेश है—"यदि तुम सांसारिक आपदाओं से बचना चाहते हो, यदि तुम गुरु-ऋण से मुक्त होना चाहते हो, तो थोड़ा त्याग करो; लोक और परलोक में सुख पाने की इच्छा को त्याग दो; पर-सेवा मे जुट जाओ, अपने समय का थोडा-सा भाग और अपने धन का कुछ अंश दूसरों के साथ उपकार करने मे व्यय करो; इसी से कल्याण होगा, तुम्हारे धन मे वृद्धि होगी और तुम्हारी सारी आपदाएँ कट जाएँगी।"[1]

जिस प्रकार स्वामी रामानुज ने अपने गुरु की वाणी को चौराहे पर सुनाया था, उसी प्रकार, बल्कि उससे भी ऊँची आवाज मे डा० साहब ने गुरु की वाणी का ढिंढोरा पीटा। आपने कहा—मेरे गुरुदेव की आज्ञा है कि "तुम इस विद्या के लिए पात्र-अपात्र का भी विचार न करो, जिसको प्यास है, उसको जल तो चाहिए ही, इसके बिना लोग दुःखी हैं, तुम सबको बाँटो।"

आपके पास जितने भी साधु-सन्यासी आते, आप यही सलाह देते—"आप लोग अपने परिश्रम का अन्न खाओ, क्योंकि जबतक आप दूसरो का अन्न खाओगे और उसके बदले उनका कुछ काम नही करोगे, आत्मोन्नति कर नहीं सकते। आत्मोन्नति के लिए भिक्षा के अन्न का परित्याग करना होगा। परिश्रम का अन्न खाकर तपस्या करोगे, तो सफलता प्राप्त होगी; क्योंकि प्रकृति आपकी तपस्या के भाग मे से उन अन्नदाताओ का भाग निकालकर तत्काल उनके पास भेज देती है। फिर आपके पास क्या बच रह जाता है? इसके अतिरिक्त आपको भोजन माँगने मे बडा समय व्यय करना पडता है और आत्म-गौरव का भी ह्रास होता है।"[2]

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। (अथर्ववेद)

अर्थात् सैकडो हाथो से इकट्ठा करो, हजारो हाथो से बाँटो।

आपका कथन था कि "आत्म-विश्वास के अर्थ भी पुरुषार्थ समझो। जो आत्म-विश्वासी है, वही पुरुषार्थी है। एक दिन की सफलता और दूसरे दिन की असफलता से प्रसन्न और दुःखी होनेवाले सज्जन आत्मविश्वासी नहीं माने जाते। निराशा और सदेह ही हमारे जीवन की महत्ता का नाश करनेवाले कीटाणु हैं। इसलिए ऐसे विचारो को अपने अंदर कही स्थान मत दो। मैंने

1. जीवन-दर्शन, पृ० ६३-६६
2. जीवन-दर्शन, पृ० ७६-७७

यह पता लगा लिया है कि ईश्वरीय शक्ति से संबंध रखनेवाला मनुष्य शक्तिशाली और विजेता बनकर ही रहता है और शिव की सभी शक्तियाँ उसका साथ देने को स्वयं बाध्य हो जाती हैं। याद रखो कि हम ईश्वरीय सन्तान हैं, हममे ईश्वरीय शक्तियाँ है, हम अपने कार्य मे अवश्य सफल होगे।"

आप कहा करते थे कि सबसे बडा बोझा मनुष्य के ऊपर अहंकार का है। गुरु किसी प्रकार यदि इसे दूर करा दे, तो साधक तुरत हल्का हो जाए, तुरत मुक्त हो जाए।

"अमृत-कुण्ड तक पहुँचने का जो मार्ग है, उसे शास्त्रो ने पाँच भागो में बाँटकर पाँच नाम अलग-अलग रख दिए है। इन्ही का नाम—(१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय और (५) आनंदमय है।

आनंदमय कोष रेतीला मैदान है। यह पृथ्वी-तत्त्व से तैयार होता है। इसलिए बाहरी कर्मों से ही यह तैयार होता है। तप करना, व्रत रखना, तीर्थ, मूर्ति-पूजा इत्यादि अन्नमय कोष के साधन हैं। हठयोग के साधन—आसन, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि दूसरे प्राणमय कोष के साधन हैं। उपासना मनोमय कोष के, बुद्धियोग विज्ञानमय कोष के और समर्पण आनंदमय कोष के साधन हैं। जो लोग जिन्दगी-भर एक ही साधन को पीटते जाते हैं, वे आगे नही बढ़ते।"[1]

मनुष्यो के विचार, उनके भाव, उनके कर्म, उनकी रुचि, उनकी सामर्थ्य, उनके संस्कार इत्यादि जुदा-जुदा होते हैं। एक-दूसरे से मेल नही खाते। इसलिए एक ही उद्देश्य के लिए भिन्न-भिन्न साधन-प्रणालियाँ बनाई गई हैं। एक ही क्रिया से सबको लाभ नही पहुँच सकता। इनके सहस्रो भेद है, पर वे सब तीन ही के अंतर्गत है। जिसमे इन्द्रिय और शरीर को संग लेकर मन काम करता है, और जीवात्मा जिसमे अपने को कर्त्ता समझती है, वह कर्मयोग कहलाता है। हठयोग, तंत्रयोग, शब्दयोग, जपयोग, प्राणयोग, मुद्राएँ, आसन इत्यादि कर्मयोग कहे जाते है। दूसरा उपासना-योग है, जो केवल मन से ही किया जाता है। बाहरी कोई भी क्रिया इसमे नही होती और प्राणी अपने को कर्त्ता समझता है। ध्यान धारणा, एकाग्रता और निरोध—यह सब उसके ही अंतर्गत है। तीसरा ज्ञानयोग है, जो मन के एकाग्र होने के पश्चात् बुद्धि द्वारा किया

1 डॉ० चतुर्भुज सहाय साधना के अनुभव, भाग १ पृ० १७

जाता है। इसके साधन—स्वाध्याय, सत्संग और विवेक हैं। सारी साधनाएँ यहीं तक आकर समाप्त हो जाती हैं। आगे प्रेम-योग या समर्पण-योग है, जो साधना नहीं, बल्कि सिद्धि है।

इन तीनों के बीच का उपासना-योग सबसे श्रेष्ठ है, जल्द पहुँचानेवाला है, शीघ्र फल देनेवाला है और सरल है। आजकल के लोगों के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

उपासना की तीन क्रियाएँ हैं—धारणा, ध्यान और प्रत्याहार। किसी एक ध्येय को पकड़कर मन को रोकना धारणा कहलाती है। जब ध्याता अथवा ध्यान करनेवाला अपने ध्येय में समा जाता है और अपने ध्येय का ज्ञान खो बैठता है तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्येय को छोड़कर जब मन किसी और विषय की ओर दौड़ जाता है और अभ्यासी उसे फिर खींचकर ध्यान में लगाने का प्रयत्न करता है, तब उसे प्रत्याहार कहा जाता है। इसमें वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। सारी चिन्ताओं से थोड़ी देर के लिए अपने को मुक्त करके दिव्य ज्योति का ध्यान हृदय-क्षेत्र में करना होता है; क्योंकि वहीं पर प्रीतम के रहने का स्थान है।

गीता (अध्याय १८।६१) में भी भगवान ने ईश्वर का निवास हृदय में बताया है और उपनिषद् में भी कहा है कि ब्रह्म अंगुष्ठ-मात्र स्थान में हृदय में निवास करते हैं। अतः अन्य संतमतों की प्रणाली की तरह भृकुटी या आज्ञा-चक्र की भूमि को प्रथम पकड़ने और फिर वहाँ से ऊँचे की चढ़ाई करने की प्रक्रिया के बदले रामाश्रम-मत हृदयदेश में ध्यान करने को कहता है; क्योंकि उपासना-मार्ग का साधक इस विचार को लेकर चलता है कि प्रभु दूर नहीं, बल्कि उसके समीप के भी समीप है और हमारे निज के रहने का स्थान हृदय-देश में ही निवास करता है। वह न तो किसी दूसरे चक्र का भेदन ही करता है और न हृदय को छोड़कर दूसरी भूमि में जाता है। यदि कोई अद्भुत दृश्य या अद्भुत शब्द उसके सम्मुख आता है, तो उधर से देवी-देवताओं के दर्शन से उसका कोई सरोकार नहीं होता; वह तो गहरी दृष्टि से उसी अँधेरी गुफा में अपने प्रियतम को टटोलता है और चारों ओर से वृत्ति समेटकर आँखों को बाहर से बंद करके अपने प्यारे को ढूँढ़ने में लग जाता है, उसका नाम ले-लेकर पुकारता है, दर्शन देने के लिए स्तुति और प्रार्थना करता है, उसके वियोग में

रोता है, बिकल होता है। कभी-कभी आशा के संचार होने पर गद्‌गद हो उठता है, तडपता है, उसके प्रेमियो से उसका पता पूछता है, उसके प्रेमियो की खुशामद करता है, सेवा-शुश्रूषा से उन्हे प्रसन्न करने की चेष्टा करता है, अपने को उनके चरणो मे डालता है, उनका आश्रय लेता है, अपने को उनकी भेंट चढ़ाता है, तन-मन-धन उन्हें समर्पण करता है। ये उपासना के साध्य हैं। इनको धारणा और गुरु समर्पण कहते है।[1]

यह है उपासना की क्रिया, जिसमे अपना कर्त्तव्य कुछ काम नही देता, कोई परिश्रम नही करना पडता, केवल अहकार त्याग कर सद्‌गुरु के आश्रित होना है और गुरु अपनी शक्ति से उसके मल और कुसस्कारो के आवरणो को हटा देता है तथा शुद्ध और निर्मल बना दर्शन कराता है। इसमे जो कुछ समय खर्च होता है, वह अहंकार को तोडने के लिए किया जाता है, क्योकि अहकार मौजूद होते हुए समर्पण न कोई कर सकता है, और न हो सकता है।

अत इस मत मे योग-क्रिया का कोई स्थान नही है। गुरु के अस्तित्व में अपना अस्तित्व मिटा देना, गुरु मे अपने को फना कर देना, उसमे अपना अह-भाव त्यागकर एक हो जाना, साधक का मुख्य कर्त्तव्य है। इसी से कल्याण होता है। यह अवस्था आते ही भगवद्दर्शन हो जाता है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है। पर इस अवस्था के लाने मे कुछ समय लगता है। इसके तीन दर्जे होते है। प्रथम अवस्था मे जब साधक गुरु का चिन्तन निरन्तर करता है, उसकी याद हरदम रखता है, तब कुछ दिवस पश्चात् उसे अपना स्थूल शरीर प्रत्यक्ष गुरु का ही शरीर दिखाई देने लगता है, उसका मुख गुरु का ही मुख है, उसकी आँखे गुरु की ही आँखें हैं, उसकी जिह्वा गुरु की ही जिह्वा है, उसकी वाणी गुरु की वाणी है, उसके हाथ-पाँव, देह आदि सब गुरु के रूप हो गए हैं। यह पहली अवस्था है, जो स्थूल को स्थूल मे लय कर देती है।

इसके पश्चात् द्वितीय अवस्था का प्रारम्भ होता है। इसमे अपना मन, बुद्धि और अहकार, गुरु के मन, बुद्धि और अहकार मे लीन हो जाते हैं। यह सूक्ष्म का सूक्ष्म मे लय होना कहलाता है।

तृतीय अवस्था मे साधक की चैतन्य आत्मा गुरु की चैतन्य आत्मा में समा जाती है और वह पूर्ण रूप से लय-योगी बन जाता है। ऐसा लगता है कि तृतीय

1. **साधना के अनुभव**, भाग १, पृ० ४८

अवस्था भी अन्तिम पद नहीं है। यहाँ का दर्शन भी अन्तिम दर्शन नहीं है। साधक को इसके आगे बढ़ना होता है।

रामाश्रम सत्संग और संतमतो की तुलना में उदार है, अतएव सबके लिए ग्राह्य है। इस सत्संग में किसी रूढ़िवादी नियम का बंधन नही है। मूर्ति-पूजा भी वर्जित नहीं है और न इस मत के संस्थापक डाक्टर साहब अथवा परमगुरु महात्मा श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान ही अनिवार्य है। साधक को अपने इष्ट देवता अथवा अपने गुरु का ध्यान करने की छूट है। डाक्टर साहब का ध्यान भी इस दृष्टिकोण से वे कर सकते हैं कि उनमे और अपने गुरु मे अथवा अपने इष्ट देवता मे कोई वास्तिक भेद नही है, स्वरूप भिन्न भले ही हो। निराकार-वादी को डाक्टर साहब का उपदेश था : "हृदय मे उस 'ॐ' को देखो, जो अत्यन्त प्रकाशमान है और प्रकाश-रूप है, तुम सर्वाङ्ग प्रकाशमान हो रहे हो।"

रामाश्रम-सत्संग के उपदेशानुसार दिन-रात मे कम-से-कम एक घंटा ध्यान अपेक्षित है, किन्तु यह आवश्यक नही कि एक ही बार एक घंटा ध्यान किया जाए। सुविधानुसार एक घंटे के समय को चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है। ध्यान की प्रक्रिया बहुत सरल है। ध्यान से पहले बात करना बंद कर देना चाहिए, पुस्तक पढना छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से ध्यान में बहुत कुछ सहायता मिलती है। सद्ग्रन्थो ने बताया है कि स्तुति, उपासना और प्रार्थना के क्रम पर चलकर मनुष्य उस सत्-चित्-आनद-रूपी ब्रह्म के देश मे जल्द पहुँच सकता है, उसका दर्शन-लाभ कर सकता है।

स्तुति, कीर्ति या बडाई का वर्णन करने को कहते है। उपासना होठ, जिह्वा और मन को स्थिर कर ऐसी कल्पना करने को कहा जाता है, जिसमे जिज्ञासु ऐसा ख्याल बाँधता है कि हम उसके बिलकुल समीप और सम्मुख बैठे हैं और वह हमको देख रहा है। रोजाना के अभ्यास से यह संकल्प इतना दृढ और ठोस बन जाता है कि वह वस्तु आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप से हमारे सम्मुख आ जाती है। यहाँ हमारा यह अनुभव इतना पक्का बन जाता है कि जिसमे संदेह की गुंजाइश नही रहती। इसी अवस्था को 'उपासना' कहा जाता है।

"प्रार्थना का क्रम उपासना के उपरान्त आता है। बिना उपासना के प्रार्थना करना ऐसा है, जैसे हवा मे तीर चलाना। वह थोथी होती है, उसका न तो कोई प्रभाव होता है और न लाभ मिलता है। प्रार्थना अपनी इच्छित वस्तु माँगने को कहते हैं, चाहे वह सासारिक हो, चाहे पारमार्थिक। उपासना-सहित

प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है और मंजूर भी होती है। उपासना के समय की प्रार्थना के लिए न तो जोर-जोर से चिल्लाने की जरूरत होती है और न बार-बार रट लगाने की। वह तो नम्रतापूर्वक धीमे-से एक बार उनके कानो में पहुँचा दी जाती है और बस। 'हाँ' और 'ना' का उत्तर भी उस प्रार्थी को उसी समय मिल जाता है। ऐसा नही है कि सभी प्रार्थनाएँ स्वीकृत ही हो जाएँ, यह सब अधीश्वर की कृपा पर निर्भर है। उपासना के स्थान तक पहुँचा हुआ भक्त भी बदल जाता है। वह जिद्द नही करना चाहता। भगवान की मर्जी पर ही प्रसन्न रहता है और इसी मे अपना कल्याण समझता है।[1]

भजन करनेवालो को भजन के प्रारम्भ मे सबसे पहले मन-ही-मन गुरु को प्रणाम करना चाहिए। उसके बाद अपने भजन की क्रिया शुरू करनी चाहिए। रामाश्रम-सत्सग के नियम के अनुसार प्रथम गुरु-वदना, फिर ईश-विनय, उसके पश्चात् ध्यान की परिपाटी है। ध्यान के पश्चात् अन्तिम प्राथना शान्ति-पाठ का उच्चारण करके समाप्त की जाती है। गुरु-वन्दना, ईश-विनय और अन्तिम प्रार्थना का रूप निर्धारित है। इन सारी क्रियाओ को सब मिलाकर व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से किया जाता है। जो लोग ऐसा करते है, उन्हे इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है, यह निश्चित है। यह सारी क्रिया ४५ मिनट के भीतर समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् किसी पुस्तक का १५ मिनट स्वाध्याय भी होना चाहिए ताकि लोगो मे प्रेम उभरे और बुद्धि पर से अविद्या का आवरण हटे।

इस मत मे ईश्वर से पहले गुरु को रखा गया है। उसकी वदना भी ईश्वर-वंदना से पहले करने को कहा है। ऐसा करने से, डाक्टर साहब के ही शब्दो मे, निम्नलिखित लाभ है

"एक ओर यह मायावी स्थूल जगत है, जिसमे राजसी और तामसी विषयो की आँधी बडे प्रबल वेग से बह रही है। दूसरी ओर आत्मा या ईश्वर है, जो महान् सूक्ष्म है। उसके स्थान तक पहुँचना और उसे पकड मे ले आना साधारण काम नही है। मनुष्य इन दोनो के बीच मे खडा है। जब वह इधर से मुख मोडकर आत्मा की ओर जाना चाहता है तब मन का प्रवाह, जो नीचे स्थूल की ओर जा रहा है, उसे धक्का देता है और ऐसा करने से रोकता है।

1. पूज्य गुरु का प्रसाद, अप्रैल, १९६८

"महापुरुषों का शरीर स्थूल होता है पर उनके शरीर के परमाणु सूक्ष्म होते हैं। वह स्थूल और सूक्ष्म के बीच की एक चीज है। उसकी शक्ल भी देखी-भाली है। मन को एकाग्र करने के लिए ऐसी देखी हुई और स्थूल शक्ल का ध्यान अभ्यासी के लिए आसान पड़ता है। ऐसा करने से साधक अनेक से एक पर आ जाता है, चाहे वह भले ही स्थूल हो। आगे जब इसपर मन ठहर जाए तब उसे सूक्ष्म की ओर झुकाएँ और ईश-चिन्तन में लग जाएँ, पहुँचना वही सूक्ष्म और महान सूक्ष्म के देश में है। लक्ष्य वही है, पर उस लक्ष्य को प्राप्त करने का यह क्रम अति श्रेष्ठ और शीघ्र सफलता प्रदान करनेवाला है। ऐसा संतों का अनुभव है। ...... गुरु वंदना का यही लाभ आपको मिलेगा। यह मन को सूक्ष्म की ओर झुकाएगी और भगवान के चरणों तक पहुँचाएगी। उस समय ईश-वंदना करो, फिर ध्यान करो, अंत में प्रार्थना करके समाप्त कर दो।"[1]

मूर्ति-पूजकों के लिए पूज्य डाक्टर साहब की सम्मति है कि "या तो साधक पूर्ण भाव के साथ मूर्ति को मूर्ति के रूप में न देखकर इष्ट के रूप में देखते हुए उसकी आराधना करे, कल्पना को छोड़ पूर्ण विश्वास ले आवे। यदि ऐसा करने में उलझन जान पड़े तो अपने गुरु के हृदय-मंदिर में जा घुसे और वहाँ विराजे हुए चैतन्य की मूर्ति की पूजा करने लगे। थोड़े दिन इसकी आजमाइश करके देखो कि जो वस्तु वर्षों के परिश्रम करने पर भी वह मूर्ति तुम्हें न दे पाई थी, बस, उस जीती-जागती देखी-भाली मूर्ति ने तुम्हें अर्पण कर दी या नहीं। यह बहुत ही सरल और शीघ्र फल देनेवाला साधन है। परन्तु इसके लिए गुरु भी पूर्ण हो और शिष्य भी पूर्ण श्रद्धावान हो।"[2]

डाक्टर साहब का कहना था कि जब शिष्य पूर्णरूपेण अपने को गुरु को समर्पण कर देता है या गुरु उसे अपना लेता है, तो फिर गुरु शिष्य को कभी अकेला नहीं छोड़ता, हर समय उसके साथ रहता है।

रामाश्रम सत्संग में देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में भंडारा होता है, जिनमें जन्माष्टमी के अवसर पर टुण्डला (आगरा), शिवरात्रि के दिन मथुरा और दिसम्बर में गया का भंडारा प्रमुख और महाभंडारा की कोटि के हैं।

---

1. पूज्य गुरु का प्रसाद।
2. ,, ,,

६. रुहानी सत्संग—'राधास्वामी-सत्संग' के दूसरे गुरु हुजूर साहेब के समय मे श्री जयमंगल सिह ने व्यास (पंजाब) में एक स्वतंत्र शाखा की स्थापना की। आपकी शिष्य-परम्परा में बाबा सावन सिंह हुए। उन्हीं की आज्ञा से रुहानी सत्संग की स्थापना सद्गुरु श्री कृपाल सिंह ने की। यद्यपि इस संतमत की स्थापना केवल २० वर्ष पूर्व सन् १९४८ ई० मे हुई और तीन वर्ष बाद सन् १९५१ ई० मे सावन-आश्रम की स्थापना गुडमडी, दिल्ली मे हुई तथापि आज इस सत्संग का व्यापक रूप से प्रचार हो चुका है। प्रेम की धारा जो आपके हृदय मे बह रही है, वह उसी का प्रताप है कि भारत के सभी वर्गों और जातियो व समाजो के अतिरिक्त यूरोप और अमेरिका के सभी मतो के ईसाइयो, इजराइल के यहूदियो, भारत, पाकिस्तान और अरब देशो के मुसलमानो, अफ्रिका एव अमेरिका के हब्शियो, मलयेशिया तथा अन्य पूर्वी देशो के बौद्धो का प्रेम, प्यार और सम्मान आपको प्राप्त है। आपके दीक्षितो मे विश्व के लगभग सभी देशो, जातियो, विचारधाराओ तथा समाज के लोग सम्मिलित हैं।

श्री कृपाल सिंह जी धर्मग्रन्थो के अध्ययन से इस नतीजे पर पहुँचे कि परमार्थ मे सफलता के लिए गुरु का मिलना जरूरी है, पर हर वक्त मन मे यह खटका लगा रहता है कि किसी अधकचडे से वास्ता न पड जाए। इनके हृदय की सच्ची पुकार प्रभु ने सुनी और उस वक्त के सत सद्गुरु हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज का दिव्य स्वरूप इनके अन्तर मे आने लगा। यह हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज के चरणो मे जाने से सात साल पहले, सन् १९१७ ई०, की बात है।

हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज से मुलाकात भी एक विचित्र संयोग था। सन् १९२४ ई० की बात है। आप लाहौर मे मिलिटरी एकाउण्ट्स दफ्तर में काम करते थे। नदी का तट देखने का शौक आपको व्यास नदी के तट पर ले गया। व्यास स्टेशन पर जो अमृतसर और जालधर के बीच स्थित है, जब आप उतरे तब मालूम हुआ कि नदी-तट पर सतो का डेरा है। आप वहाँ गए और हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज के चरणो मे पहुँचते ही देखा कि यह तो वही दिव्य स्वरूप है, जो सात साल से मेरे अन्तर मे पथ-प्रदर्शक रहा है।

३६ वर्ष की सरकारी नौकरी के बाद मार्च, १९४७ ई० मे आपने अवकाश ग्रहण किया और उसके बाद से रात-दिन सतगुरु दयाल हुजूर बाबा सावन

सिंह जी महाराज के मिशन को पूरा करने मे लगे हुए हैं। बाबा स्वयं २ अप्रैल, १६४८ ई० को जीवो के कल्याण का काम आपको सौंपकर परमधाम को सिधार गए। गुरु के आदेशानुसार सन् १९४८ ई० मे आपने 'रुहानो सत्संग' और सन् १९५१ ई० में दिल्ली में 'सावन-आश्रम' की स्थापना की, जहाँ जात-पाँत, रग-भेद, देश व समाज के भेदभाव के बगैर हरएक परमार्थाभिलाषी को आत्मतत्त्व-बोध का व्यक्तिगत अनुभव दिया जाता है।

सन् १९५५ ई० में आपने यूरोप, इगलैंड, अमेरिका आदि देशो का भ्रमण किया और लोगो को आत्मानुभव की बातें कहीं। सन् १९६३ ई० मे आपने दूसरी बार विश्व-यात्रा की और हाल ही तीसरी बार ५२ देशों के निमत्रण पर फिर विश्व-यात्रा पर गए थे। सन् १६५७ ई० मे आप सर्वसम्मति से विश्वधर्म-सम्मेलन के अध्यक्ष चुन गए और आज तक इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के अध्यक्ष-पद पर बने है। आपकी अमृतवाणी सुनने का सौभाग्य मुझे हरिद्वार के अर्द्ध कुम्भ (अप्रैल, १६६८ ई०) मले मे प्राप्त हुआ था।

मानव-जाति के दु.ख दूर करने और भारत के आध्यात्मिक पुनरुत्थान के हेतु आप एक सर्वतोमुखी आन्दोलन आरम्भ कर रहे है, जो जन-जीवन को हर पहलू से उँचा उठाएगा और मानव-हृदय से सकीर्णता और कठोरता को दूर कर प्रभु-प्रेम और विश्व प्रेम की भावना का सचार करेगा, जिससे आपसी कलह, सासारिक क्लेश और मानसिक अशान्ति मिटे तथा सुख और सौहार्द की व्यापकता बढ़े।

सतो के मिशन की व्याख्या करते हुए सत कृपाल सिंह जी कहते है—"दो तरह की ताकतें प्रभु की दुनिया मे काम करती है—एक है काल और दूसरा है दयाल। इनके अपने-अपने काम है। जिस तरह सेनापति और प्रधानमत्री बादशाह या राष्ट्रपति से ताकत लेते है, लेकिन काम अपना-अपना करते हैं, या जैसे बिजली है, जो कही आग जलाती है तो कही बर्फ जमाती है, लेकिन ताकत एक ही है, वैसे ही काल और दयाल दोनो के अवतार होते हैं। जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब अधर्मियो का नाश करने के लिए और धर्मियो का उद्धार करने के लिए तथा दुनिया की स्थिति कायम रखने के लिए प्रभु मानव-रूप मे अवतरित होते हैं। चूँकि इनका कार्य सहार करके सृजन करना है, इसलिए ये काल कहे जाते हैं। और, दयाल के अवतार का अर्थ है संत जन। उनका कार्य है जीवों को आवागमन से छुड़ाकर प्रभु के धाम

वापस ले जाना। काल के अवतार होते हैं दुनिया की स्थिति कायम रखने के लिए और संत जन (दयाल के अवतार) आते हैं दुनिया को गैर-आबाद करने के लिए। उनका काम है—**तुरत मिलावे राम से उन्हें मिले जो कोय।**

महापुरुष आकर हमे जगाते हैं, अपने-आप को एहसास (स्मरण) दिलाते हैं कि तुम आत्मा हो, शरीर के इस मकान के निवासी हो। इसका चलानेवाला कोई अन्य ही है, जो महानतम है। शरीर मे तुम कायम हो किसी और ताकत के सहारे, जो इस जिस्म (शरीर) में तुम्हारा कण्ट्रोल (शासन) कर रही है, वरना नौ द्वार खुले पड़े है, यह (शरीर का निवासी) कब का न भाग जाए। लेकिन यह भाग नहीं सकता। साँस बाहर जाती है, किन्तु बाहर रह नही सकती। कोई ताकत उसे धकेलकर वापस ला रही है। वह करण-कारण (कण्ट्रोलिंग पावर) सत्ता है, जो सबका प्रतिपालक और जीवनाधार है। वह परमात्मा है। उसको जानो। उससे जुड़ो।

दो भ्रू-मध्य आँखों के पीछे उस ज्योति-स्वरूप प्रभु की ज्योति को देखने-वाला बन जाओ। काम करते समय यह अनुभव तुम्हारे अदर जाग उठे कि सब कुछ प्रभु कर रहा है, मैं कुछ भी नही करता। यह समझो कि मेरा किया कुछ न हो, जो हरि भावे सो हो।

संत जी कहते हैं कि जिस समाज मे तुम हो, वह समाज तुम्हें मुबारक। अपने-अपने समाज मे रहो। अपने-अपने रस्म-रिवाज और बोलचाल रखो। अपने-आप को जानो और प्रभु को पाओगे।[1]

७. **सिक्ख-धर्म**—सिक्ख-धर्म संतमत के बहुत निकट है। फर्क यह है कि यहाँ सुरत-योग की प्रक्रिया नहीं है। विश्व-कल्याण की भावना, निराकार ईश्वर की उपासना तथा गुरु-पूजा की दृष्टि से यह संतमत से मिलता-जुलता है। इस मत मे दस गुरु हुए हैं। अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह जी ने गुरु की परम्परा समाप्त करते हुए कहा कि आगे से श्री गुरु-ग्रन्थसाहिब जी सबके गुरु होगे। अतः सिक्खो का धर्म-ग्रन्थ श्री गुरु-ग्रन्थसाहिब है। गुरु की भांति ही उसके प्रति श्रद्धा रखने का आदेश है। बड़े-बड़े कोई १५०० पृष्ठों के गुरु-ग्रन्थ में आदि-गुरु नानक तथा अन्य गुरुओ की वाणी है। संत कबीर, रैदास, नामदेव, धना, फरीद, भीखन, वेणी, सूरदास आदि संतो और भक्तो की वाणियाँ भी संगृहीत हैं।

1. **ओ इन्सान अपने को जानो : हुजूर कृपाल सिंह**

उनपर जो आचरण करेगा, वह तरे बिना नहीं रहेगा। आइए, हम उसकी हल्की सी झाँकी लें—

१. गुरु परमेसर एको जाणु।
गुरु परमेसर एको जाणु। जोति सु भावै सो परवाणु ॥
गुरु चरणी जाका मनु लागै। दुखु दरदु भ्रमु ताका भागै ॥
गुर की सेवा पाए मानु। गुर ऊपरि सदा कुरबानु ॥
गुरु के सेवकउ दुखु न विआपे। गुरु का सेवक दहदिसि जापे ॥
गुरु की महिमा कथनु न जाय। पारब्रह्म गुरु रहिआ समाय ॥
कहु नानक जाके पूरे भाग। गुरु चरणी ताके मन लाग ॥

२. गुरु की मूरति मनमहि ध्यानु। गुरु के सबदि मंत्रु मनु मानु ॥
गुरु के चरण रिदेलिए धारउ। गुरु पारब्रह्म सदा नमस्कारउ ॥
मत को भरमि भूलै संसारी। गुरु बिन कोइ न उतरसि पारी।
कहु नानक प्रभु इहे जनाई। बिन गुरु मुकित न पाइए काई ॥

३ गुरु मेरी पूजा गुरु गोबिन्दु। गुरु मेरा पारब्रह्म गुरु भगवन्तु ॥
गुरु मेरा गिआनु गुरु रिद्धिआनु। गुरु गोपालु पुरख भगवानु ॥
गुरु बोहि उतारे भव पारि। गुरु सेवा जप न छुड़कारि ॥
अंधकार महि गुरमत्रु उजारा। गुरु के संगि सगल निसतारा ॥
गुरु का सबदु न मेरे कोई। गुरु नानकु नानकु हरि होई ॥

गुरु-ग्रन्थ की पूजा का अर्थ है, गुरु-ग्रन्थ की वाणी के अनुसार अपने जीवन को पवित्र साँचे मे ढालना। उसे माथे से लगाने से, उसपर पखा झलने से ही उसका आदर नही होता। उसका सच्चा आदर होता है उसके अनुसार अपना जीवन सुधारने से।

सिक्ख-धर्म मे एक ईश्वर की उपासना की जाती है। गुरु ग्रन्थ मे परमेश्वर के बहुत-से नाम आए हैं, जैसे—हरि, राम, प्रभु, भगवान, बिशन, ब्रह्म, गोविन्द, गोपाल, गोसाईं, ईश्वर, माधो, मुरारी, परब्रह्म, अल्लाह, करीम, रब्ब, रहीम, साहिब, मातु, पिआरा, प्रीतम, वाहगुरु आदि।

प्रभु के असंख्य नाम हैं। इन नामों का स्मरण करने पर, इनका जप करने पर, सिक्ख-धर्म में बहुत जोर दिया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि 'नाम न जपहि ते आतमघाती'।

इस नाम-जप का, नाम-स्मरण का अर्थ यह है कि हम उस परमेश्वर को एक पल के लिए भी न भूलें। उसे सदा याद रखें। हरदम अपनी आँखों के आगे माने और जब हम मानेंगे कि वह प्रभु सर्वव्यापी है, घट-घट का वासी है, हर जगह मोजूद है, फिर हमसे कोई गलत काम होगा तो कैसे होगा ? जो आदमी भीतर और बाहर सर्वत्र भगवान के दर्शन करता है, उसका जीवन पवित्र हुए बिना रह सकेगा कैसे ?

गुरु नानक का आदेश है—(१) नाम जपो, (२) कीरत करो, (३) वण्ड के छको, यानी पसीने की कमाई मिल-बाँटकर खाओ। जो ऐसा करते हैं उन्हीं को वाहगुरु का, परम प्रभु का प्रसाद मिलता है।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' का आरम्भ होता है जपुजी से। लोग मानते हैं कि आदिगुरु के सारे आदेशों का सार इसमें समा गया है। सिक्ख नित्य उसका मगल-पाठ करते है उसे जपते है। आइए, जपुजी की एक झलक ले—

ऊँकार सतिनाम करता पुरखु निरभउ।
निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसाद।

यह है मगलाचरण—

आदि सचु, जुगादि सचु, है भी सचु, नानक होसी भी सचु।

नानक कहते हैं कि सत्यरूप परमात्मा सदा से ही, आदि काल से हैं, युग-युग से हैं भूतकाल मे थे, वर्तमान मे हैं और भविष्य मे भी रहेंगे। ऐसे हैं वह सत्यरूप परमात्मा।

गुरु-ग्रथसाहिब के सुखमनी साहिब-अश, जो शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबध कमिटी, अमृतसर से प्रकाशित हुआ है, नित्य के पाठ के काम मे आता है।

सतमत सबधी उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सतो का एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद को आधार मानकर चलता है। सुरतयोग की साधना और गुरु को ईश्वर तुल्य समझकर पूजा या ध्यान करने का विधान सतमत मे है। अतएव निर्गुण और एकेश्वरवादी होने के कारण मूर्ति-पूजा का वहाँ स्थान नही रहने पर भी साक्षात् गुरु की पूजा अथवा उसकी मूर्ति वा चित्र की पूजा या ध्यान का विधान है। इसी कारण आषाढ़ शुक्ल १५ को सतमत के अनुयायी श्रद्धापूर्वक गुरु-पूजा करते हैं। इन मतमतो मे रामाश्रम-सत्सग की यह विशेषता है कि इस मत मे सुरतयोग की साधना पर न तो जोर दिया गया है और न मूर्ति-पूजा का

विरोध ही किया गया है। गुरु में आस्था और ध्यान साधना के प्रमुख अंग माने गए हैं।

८. **स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गांधी**—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपने विषय के सबसे उत्कृष्ट और संपन्न ग्रंथ 'उत्तर-भारत की संत-परम्परा' मे स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गाधी की गणना संतों की कोटि मे की है। यह ठीक है कि जिनके स्थान पर पहुँचते ही मन के विकार नष्ट हो जाएँ तथा जिनके अदर से हर समय आनद और हर्ष की धाराएँ निकलती हुई अनुभव हो, उनको 'सत' कहते हैं। अतः सत की उपयु'क्त परिभाषा के अनुसार निस्सदेह स्वामी रामतीर्थ और महात्मा गाधी सत थे। निस्सदेह ये दोनो भारत के आकाश के उज्ज्वल नक्षत्र थे और इनका स्थान अनेक सतो के भी ऊपर है। किन्तु आज सत की जो परिभाषा की जाती है, उसके अतर्गत ये नहीं आते।

पुराने संतो का कार्य समयानुसार अधिकतर धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा। उनका सामाजिक प्रश्नो को सुलझाने का ढग ही स्वभावत उसी भावना से प्रेरित था। विश्व-कल्याण उन संतो का लक्ष्य रहा। उनका लक्ष्य कभी स्वार्थपरक नही रहा। उन लोगो ने आत्मानुभूति की अपेक्षा विश्व-कल्याण को हेय नही माना। आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण की सिद्धि साथ-साथ हो सकने मे वे विश्वास रखते थे। और, उसी उद्देश्य को लेकर उन लोगो ने जीवन-भर कार्य किया। उनका जीवन उनके उपदेशो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। उनका सिद्धान्त था कि जहाँ सब समाज के भाई आपस मे प्रेम-प्यार-सहित इकट्ठे मिल बैठे, वहाँ किसी एक या दूसरे समाज का कोई चिह्न-चक्र, रस्म-रिवाज या बंधन न रहे, सब अपने-अपने समाज में रहे, अपने-अपने रस्म-रिवाज और बोली रखे और इकट्ठे मिलकर अपने-आपको जाने, प्रभु को पहचाने। परमात्मा ने मनुष्यो को बनाया। मनुष्य ने समाज बनाया, इसलिए कि मनुष्य नेक-पाक सदाचारी जीवन व्यतीत करे, मनुष्य मनुष्य के काम आवे ताकि दुनिया मे जीवन-यात्रा सुख से व्यतीत हो और सब मिलकर परमतत्त्व का अनुभव करें, अपने-आपको जाने और प्रभु को पहचाने।

इसमें संदेह नहीं कि महात्मा गांधी ने अपने कार्य क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया था, और वे एक ही साथ समाज की सर्वांगीण उन्नति में लग गए

थे। अत जन कल्याण के दृष्टिकोण से यद्यपि संतमत तथा गांधीवाद के मौलिक सिद्धान्तो मे कोई भी अन्तर नही है, न इन दोनो के प्रमुख साधनो मे किसी प्रकार का भेद-भाव बताया गया है, तथापि गाधीवाद और स्वामी रामतीर्थ के विशुद्ध वेदान्त मे न निराकार की उपासना की भावना है, न सुरतयोग के साधन की प्रक्रिया है और न गुरु-ध्यान का बंधन है, जो संतमत की आधारशिला रहा है। अत इन दोनो महापुरुषो की गणना महात्माओ की कोटि में की जा सकती है, न कि संतो की कोटि मे।



दूसरा परिच्छेद

आधुनिक काल का सिंहावलोकन

"भारत-सरीखे बड़े विस्तार और आबादीवाले देश में, जिसके आचार-विचार के विकास का इतिहास संसार में अति प्राचीन है, जिसके जनसमूह में समय-समय पर बाहरी सरिताएँ आकर मिलती गईं, धार्मिक संप्रदायों के अगणित विभाग होना अस्वाभाविक बात नही है। भारत मे अनेक मत-मतान्तर हैं, जिनके अनुयायियो की संख्या और साहित्य नगण्य नही हैं; फिर भी आबादी का एक भारी अश ऐसा भी है, जो अपने को किसी संप्रदाय, पथ या मत मे नहीं गिनता और अपने को साधिकार हिन्दू कहता है, क्योंकि वह किसी-न-किसी हिन्दू-जाति या बिरादरी का है। उसके चूल्हे-चौके, खान-पान, पर्व-त्योहार, जन्म, विवाह, प्रेत-कर्म, श्राद्ध आदि के काम-काज हिन्दू रीति-रस्म के साथ होते हैं। उन लोगो का धर्म भी हिन्दू-धर्म है, जिसके अनुसार वे किसी देवी या देवता की पूजा और भजन भी करते है, जिसमे परमात्मा, परमेश्वर, भगवान या प्रभु की भावना भरी होती है। उनके यहाँ नवरात्रो मे दोबारा नवदुर्गा की पूजा होती है, साथ साथ रामनवमी, गगा-दशहारा, श्रावणी, जन्माष्टमी, पितृपक्ष, विजयादशमी, दीपावली, प्रबोधिनी एकादशी, कार्तिक पूर्णिमा, सक्रान्ति, वसंत-पचमी, शिवरात्रि, होली आदि पर्व-त्योहार और व्रत मनाए जाते हैं और विविध देवताओ की पूजा होती है। ऐसे लोगो को साधारणतया 'स्मार्त्त' कहते हैं। स्मृति कोई संप्रदाय या पथ नही है। इसे साधारण जन-समुदाय का धर्म समझना चाहिए।"[1]

भारत की हिन्दू-जनता को हम सात धार्मिक विभागो मे बाँट सकते हैं :—

(१) वे, जो देवी-देवताओं को पूजते हैं, पर्व-त्योहार मनाते हैं और कुछ आवश्यक संस्कार करते हैं तथा अपना कोई उपास्य देव अथवा विशेष दार्शनिक भाव या प्रवृत्ति नही रखते। ऐसे हिन्दुओ की संख्या सबसे अधिक है।

---

1. श्री रामदास गौड़ : हिन्दुत्व, पृ० ७५३

(२) वे, जो सभी देवी-देवताओ को पूजते हैं, सभी पर्व-त्योहार मनाते हैं और मुख्य-मुख्य संस्कार भी करते है, परन्तु साथ-साथ अपना कोई विशेष उपास्य देव भी नही मानते हैं; उनका भजन करते है और विशेष दार्शनिक भाव या प्रवृत्ति भी रखते हैंयद्य—पि अपने को किसी विशेष पथ या सप्रदाय का अनुयायी नहीं समझते या बताते ।

(३) वे, जो किसी विशेष सप्रदाय या मत के अनुयायी हैं और उसी के अनुकूल अपना आचार-विचार और व्यवहार रखते हैं। उन संस्कारो, व्रत-त्योहारो, उत्सवो और सिद्धान्तो या दार्शनिक विचारो को मानते हैं, जो उनके संप्रदाय, पंथ या मत के अनुकूल पडते हैं ।

(४) एक समुदाय सुधारवादी हिन्दुओ का है, जिसमे राधास्वामी, कबीर-पंथी आदि सम्मिलित हैं, जो निराकार ईश्वर की उपासना करते हुए गुरु एव गुरु-वाक्यो का आदर करते हैं, गुरु का ध्यान और उनकी पूजा करते है, उन्हे ईश्वर मानते हैं, किन्तु वेदान्तियो मे विशेष आस्था नही रखते । सिक्ख-धर्म इसी कोटि का है ।

(५) एक ऐसे वर्ग के हिन्दू जन है, जो आर्य-समाजी कहे जाते है, जो देवी-देवताओं, अवतार आदि को नही मानते, किन्तु निराकार ईश्वर की उपासना करते और वेद को ईश्वर का वाक्य समझते है ।

(६) एक समुदाय शुद्ध वेदान्तियो का है, जो अपने को ही ईश्वर मानता है : सोऽहमस्मि और अपने शुद्ध स्वरूप की उपासना करता है। इस समुदाय का २. उपासना-मंत्र ओम् सोऽहम् आदि है ।

(७) एक विभाग उन लोगो का है, जो जन्म से तो हिन्दू-परिवार के अग हैं, परन्तु अपने को अनीश्वरवादी कहते है और किसी तरह का धार्मिक बंधन नहीं मानते ।[1]

उपर्युक्त सात प्रकार के हिन्दुओ मे प्रथम चार ही इस ग्रथ से संबधित है; क्योकि ये स्पष्टतया प्रतीक-पूजक होते हैं। इनकी सम्मिलित संख्या लगभग ८५% से ९०% है। इनमे प्रथम तीन ही आज हिन्दू-धर्म की रीढ़ हैं। ये उपवास, व्रत तथा तीर्थयात्रा मे विश्वास एव आस्था रखते हैं। इनका विश्वास

---

1. **विश्वधर्म-दर्शन**, पृ० ४०५-६

है कि तीर्थाटन करने से पुण्य-लाभ के साथ-साथ आत्मा की उन्नति और बुद्धि का विकास होता है, बहुदर्शिता और उदारता की भावना आती है, सत्संग और अनुभव से ज्ञान बढ़ता है तथा पापों से मुक्ति पाने के भाव मन मे उदित होते है। इन सबके अतिरिक्त इन्हे समस्त देश के प्राकृतिक स्वरूप तथा सौंदर्य का दर्शन कर आनद प्राप्त होता है और विभिन्न प्रदेशों के लोगो से मिलकर इन्हे एक-दूसरे को जानने-समझने का मौका मिलता है और सर्वोपरि इनके बीच राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत होती है।

प्रथम तीन समुदायो मे व्रत और उपासना की बड़ी महिमा है। प्राचीन काल मे तो अतिकृच्छ्र और चान्द्रायण सदृश बड़े कठोर व्रत भी किए जाते थे। अतिकृच्छ्र मे केवल एक कोर भोजन किया जाता था। वह नौ दिनो का व्रत होता था। चान्द्रायण व्रत पूर्णिमा को पन्द्रह कोर पायस खाकर आरम्भ किया जाता है। उसके बाद प्रत्येक दिन एक-एक कोर कम खाया जाता है। उसके बाद फिर पन्द्रह दिनो के बाद अर्थात् अमावास्या से एक-एक कोर क्रम से भोजन बढ़ाया जाता है। फिर पूर्णिमा को पन्द्रह कोर भोजन पूर्ण करने का विधान है। इस प्रकार यह व्रत एक महीने का होता है। विरले ही कोई इसे करते हैं। विष्णु, राम या कृष्ण के अनुयायी वैष्णव लोग प्रतिमास दोनो एकादशियो को व्रत रखते हैं। इस व्रत मे फल, कद-मूल एव दूध का भोजन करते हैं। शैव भी महीने मे दो बार त्रयोदशी को शिवरात्रि-व्रत रखते हैं और विवाहित स्त्रियाँ अपने चिरसौभाग्य के लिए द्वादशी को प्रदोष-व्रत रखती हैं।

ध्येय के विचार से व्रत तीन प्रकार के होते हैं—

(क) जिस व्रत के न करने से दोष लगता है, वह नित्य है; जैसे वैष्णवो के लिए एकादशी।

(ख) जो किसी विशेष फल के लिए किया जाता है, वह नैमित्तिक व्रत है।

(ग) किसी विशेष कामना से तिथि-विशेष पर जो व्रत किया जाता है, वह काम्य व्रत है।

चारो वर्णों और आश्रमो के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को व्रत रखने का अधिकार है। व्रतारम्भ में सयम और संकल्प आवश्यक है। व्रती को व्रत-कथा भी सुनना अनिवार्य है, यद्यपि विरले ही कोई व्यक्ति इसका पालन करता है।

व्रतारम्भ के समय अशौच हो जाए तो व्रत जारी रखना वर्जित है। किसी कारण से कोई व्रत न किया जा सके तो प्रतिनिधि द्वारा यह कराया जा सकता है। पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रतिनिधि हो सकते हैं। कोई ब्राह्मण भी, विशेषतः परिवार का पुरोहित, निष्क्रिय-द्रव्य लेकर प्रतिनिधि बन सकता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण छठ-व्रत है, जिसका अनेक लोग कर्मी-व्रती को अपना प्रतिनिधि मानकर निर्वाह करते हैं।

प्रमुख व्रत

(१) **वैष्णव-व्रत**—(क) रामनवमी—श्रीरामचन्द्र जी का जन्म-दिवस (चैत्र-शुक्ल नवमी), (ख) कृष्णाष्टमी—भगवान श्रीकृष्ण का जन्म-दिवस (भाद्र कृष्ण अष्टमी), (ग) वामन-द्वादशी—भगवान वामन का जन्म-दिवस (भाद्र-शुक्ल एकादशी), (घ) वर्ष के प्रत्येक मास की दोनों एकादशी तिथियाँ (सभी एकादशियो मे कार्त्तिक शुक्ल-पक्ष की एकादशी, जो देवोत्थान एकादशी के नाम से प्रसिद्ध है, सर्वमान्य है और इसे अनेक स्मार्त्त मनाते हैं)।

(२) **शिव-संबंधी**—प्रत्येक मास की द्वादशी को प्रदोष-व्रत और त्रयोदशी को शिवरात्रि-व्रत होता है। फाल्गुन मास की शिवरात्रि महाशिवरात्रि है। अनेक स्मार्त इस शिवरात्रि-व्रत को मनाते हैं। श्रावण मास विशेष रूप से शिवमास समझा जाता है। इसके प्रति सोमवार को पूजन तथा उत्सव होते हैं और उनमे स्त्री-पुरुष समान रूप से बडे ही उल्लास से भाग लेते हैं।

(३) **विष्णु-शिव सम्मिलित पर्व**—कार्त्तिक-शुक्ल चतुर्दशी वैकुण्ठ चतुर्दशी के नाम से प्रख्यात है। इस तिथि को विष्णु और शिव की पूजा एक साथ होती है। यह समन्वयवादी व्रत है। परन्तु इस व्रत के माननेवालो की सख्या न्यून है।

(४) **देवी-सबंधी व्रत**—चैत्र तथा आश्विन मास के शुक्लपक्ष के प्रथम नौ दिन 'नवरात्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। नौ दिन देवी का धूमधाम से पूजन कर दशमी को भव्य जुलूस के साथ जल मे उनका विसर्जन किया जाता है। बंगाल, असम तथा बिहार मे यह उत्सव बडे ही उत्साह के साथ मनाया जाता है। आश्विन का नवरात्र तो व्यापक रूप से मनाया जाता है और हिन्दू-धर्म के हर वर्ग के लोग इसमे सम्मिलित होते हैं।

माघ शुक्ल पचमी को सरस्वती की पूजा बडी श्रद्धा के साथ की जाती है और साथ-साथ वसतागमन का उत्सव भी हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता

है। इसीलिए यह वसंत पंचमी के नाम से भी पुकारा जाता है। विद्यार्थी-समाज इस पर्व को विशेष रूप से मनाता है। स्कूलों तथा कॉलेजों में छात्र सरस्वती की भव्य मूर्तियाँ स्थापित कर उनकी पूजा करते तथा प्रसाद का वितरण करते हैं। फिर दूसरे दिन सभी एकत्र हो उन मूर्तियों का जुलूस निकालते हैं और अबीर-गुलाल उड़ाते हुए अंत में उन्हें जल में प्रवाहित कर देते है।

अनेक स्थलों पर वैशाख-शुक्ल नवमी को सीताजी की जन्म-तिथि का उत्सव भी मनाया जाता है।

(५) **सूर्य-व्रत**—प्रत्येक संक्रांति को सौर्य-संप्रदायवाले सूर्य की उपासना करते हैं, किन्तु मुख्य संक्रांति माघ और वैशाख मासों की क्रमशः मकर तथा मेष नक्षत्रों की ही है, जिन्हें सभी लोग किसी-न-किसी रूप में मनाते हैं। इस त्योहार में नदी-स्नान और दानादि का माहात्म्य है। रविवार सूर्य का दिन है, अतः अनेक हिन्दू रविवार को भोजन के साथ किसी भी रूप में नमक का व्यवहार नहीं करते। निस्संदेह सूर्य की पूजा स्वास्थ्य-वर्द्धन के लिए की जाती है और सप्ताह में एक दिन नमक न खाने का भी यही उद्देश्य है। सूर्य की पूजा से आध्यात्मिक बृद्धि नहीं होती। कार्त्तिक-शुक्ल षष्ठी को, जो बड़ी नेम-निष्ठा एवं पवित्रता के साथ छठ-पर्व मनाया जाता है, उसकी भी उपादेयता अनेकानेक चर्मरोगों, जिनमें प्रधानतया कुष्ठरोग है, से छुटकारा पाना ही है। फिर भी बिहार में लोग इस पर्व को बड़े भक्ति-भाव से मनाते हैं। सूर्य-षष्ठी को दिन-भर निर्जला उपवास रखकर संध्या में डूबते सूर्य को पहला अर्घ्य देते हैं और सप्तमी के प्रातः-काल बाल सूर्य-दर्शन एवं उसकी रश्मियों का जल के माध्यम से स्पर्श करते हुए दूसरा अर्घ्यदान कर व्रत की समाप्ति करते हैं। सूर्य के विषय में शास्त्रों का वचन भी है : **आरोग्यं भास्करादिच्छेत्।**

(६) **गणेश-पर्व**—ऐसे तो प्रत्येक मास की चतुर्थी तिथि गणपति की तिथि है, किन्तु विशेष करके भाद्र-शुक्ल चतुर्थी अधिक प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र में तो यह समारोह के साथ मनाई जाती है।

(७) **अन्य पर्व**—अन्य पर्वों में अनन्त चतुर्दशी (भाद्र-शुक्ल चतुर्दशी), यम-द्वितीया-व्रत (कार्तिक-शुक्ल द्वितीया) तथा तीज-व्रत (भाद्र-शुक्ल तृतीया) महत्त्व-पूर्ण हैं। यम-द्वितीया विशेष रूप से भाई-बहन का पर्व है। इस दिन बहन

भाई की पूजा करती है और उसकी कलाई मे राखी बाँधकर उसकी दीर्घायु और जीवन-रक्षा की कामना करती है तथा अन्त में अपने हृदय का प्रेम उसे मिष्टान्न खिलाकर प्रकट करती है। बहन के इस निष्कपट और गहरे प्यारके प्रतिफल भाई आनद से भर उठता है और अपनी प्रिय तथा बहुमूल्य वस्तु उसे उपहार मे दे डालता है। तीज-व्रत सुहागिन स्त्रियाँ ही करती हैं; क्योंकि यह उनका सौभाग्यवर्द्धक और सुहाग-रक्षक महान व्रत समझा जाता है। स्त्रियाँ इस तिथि के दिन और रात निर्जला उपवास कर दूसरे दिन सबेरे अच्छे पकवान बनाकर पति के साथ ग्रहण करती हैं। पति-पत्नी का यह पुण्य पर्व हिन्दू-परिवार मे बड़े आदर के साथ मनाया जाता है। आश्विन कृष्णाष्टमी को केवल सतान-वती नारियाँ 'जीवन्पुत्रिका'-व्रत रखती हैं। आश्विन का पूरा कृष्ण पक्ष पितृ-पक्ष कहलाता है और अमावास्या को विशेष रूप से पिण्डदान और तर्पण किया जाता है। इस अवसर पर नैष्ठिक हिन्दू गया जाकर वहाँ के पडो द्वारा पितृश्राद्ध की क्रिया पूर्ण करते हैं। ऐसा विश्वास है कि गया की प्रेतशिला पहाडी पर पिण्डदान एव फल्गु नदी के किनारे श्राद्ध करने पर और उसके जल से तर्पण करने पर पितर पितृ-लोक से उद्धार पा जाते है।

सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण एव सक्राति के दिन पर्व के दिन समझे जाते हैं। ऐसे अवसरो पर पवित्र स्थलो के जलाशयो एव नदियो मे स्नान कर दान करने की महत्ता है। कोई-कोई उस दिन उपवास, जप और श्राद्ध-क्रिया भी सपन्न करते हैं। मुख्य-मुख्य स्थलो पर उत्सव मनाया जाता है और मेला लगता है। ग्रहण के दिन कुरुक्षेत्र (दिल्ली) के बृहत् जलाशय मे स्नान करने से हिन्दू लोग अपने को पाप-मुक्त समझते हैं। सक्राति मे गगा और गोदावरी का स्नान सबसे पवित्र माना जाता है।

तीर्थ और तीर्थ-यात्रा

पद्मपुराण मे तीन प्रकार के तीर्थ कहे गए हैं—(१) जगम, (२) स्थावर और (३) मानस। पवित्र स्वभाववाले ब्राह्मण और सर्वकामप्रद गाय जंगम तीर्थ हैं। गगादि नदियाँ, पवित्र सरोवर, अक्षयवटादि वृक्ष, गिरि-कानन, समुद्र, काशी आदि पुरियाँ स्थावर तीर्थ हैं। सत्य, क्षमा, शम, दम, दया, दान, सतोष, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, धैर्य, तपस्या आदि मानस तीर्थ हैं। इसी पुराण के अनुसार पृथ्वी पर साढ़े तीन करोड तीर्थ हैं। किन्तु मुख्य तीर्थ (१) बदरीनारायण,

(२) द्वारका, (३) रामेश्वरम् तथा (४) जगन्नाथपुरी—ये चार धाम हैं। ये भारत की चारो दिशाओ की सीमाओ पर स्थित हैं ; अतः इनकी यात्रा करने से समस्त भारत की परिक्रमा हो जाती है।

(१) अयोध्या, (२) मथुरा, (३) माया (हरिद्वार), (४) काशी, (५) कांची, (६) अवंतिका (उज्जैन) तथा (७) द्वारका की गणना मोक्षदायिनी पुरियो में है।

प्रयाग तीर्थों का राजा और पुष्कर तीर्थों का गुरु माना जाता है।

शिव के स्थानो मे (१) अमरनाथ (काश्मीर), (२) केदारनाथ, (३) पशुपतिनाथ (नेपाल), (४) विश्वनाथ (काशी), (५) वैद्यनाथ (देवघर, बिहार), अरुणाचल (मद्रास), (७) ओंकारनाथ (मध्यभारत), (८) सोमनाथ (सौराष्ट्र, गुजरात) तथा (९) महाकाल (उज्जैन) सबसे प्रमुख है।

देवी के स्थानो मे (१) कामाख्या (आसाम), (२) काली (कलकत्ता), (३) गुह्येश्वरी (नेपाल), (४) विन्ध्याचल (उत्तर प्रदेश), (५) मीनाक्षी (मदुरा), (६) कन्याकुमारी (केप कॉमोरिन) तथा (७) चामुण्डी (मैसूर) मुख्य तीर्थ हैं।

विष्णु-सबधी तीर्थों मे (१) बदरीनारायण, (२) अयोध्या, (३) मथुरा, (४) द्वारका, (५) जगन्नाथपुरी, (६) विष्णुपद (गया) और (७) श्रीरंगम् (मद्रास) मुख्य हैं।

प्रत्येक तीन वर्ष पर मलमास (अधिमास) आता है। इस मास मे राजगीर (बिहार) के कुडो मे स्नान का विशेष महत्त्व है। लाखो भावुक हिन्दू स्नानार्थ राजगीर जाते है।

नदियो में गगा, यमुना, सरयू, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी परम, पवित्र तीर्थ मानी जाती हैं। सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र के बृहत् तालाब मे स्नान का विशेष माहात्म्य है।

पुण्य-लाभ होने के अतिरिक्त तीर्थाटन करने से आत्मा की उन्नति और बुद्धि का विकास होता है। बहुदर्शिता और उदारता की भावना उदित होती है, सत्सग और अनुभव से ज्ञान बढ़ता है तथा पापो से बचने की प्रेरणा जगती है। इससे समस्त देश के प्राकृतिक स्वरूप के दर्शन का सुयोग मिलता है और विभिन्न प्रदेशो के लोगो के परस्पर मिलने-जुलने से राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती है।[1]

---

1. **विश्वधर्म-दर्शन**, पृ० ४१०-११

उत्सव और त्योहार

चैत्र-शुक्ल नवमी आठवें अवतार भगवान राम का जन्म-दिवस है। राम-भक्त इसे बडे उत्साह मे मनाते हैं, इस दिन व्रत रखते हैं और पूजा करते हैं। उत्तर-भारत का, और विशेषकर मिथिला तथा अयोध्या का, यह महत्त्वपूर्ण त्योहार है। इसी महीने मे चैत्र-शुक्ल १५ से सवत्-वर्ष आरभ होता है।

श्रावणी पूर्णिमा विशेषकर ब्राह्मणो का पर्व है। इस दिन वे रक्षा-बधन द्वारा अन्य वर्णों के लोगो को आशीर्वाद देते है। ब्राह्मण-परिवार मे इस दिन कलश-स्थापना होती है।

भाद्र-कृष्ण अष्टमी भगवान कृष्ण का जन्म-दिन है। अनेक हिन्दू इस दिन व्रत रखते हैं और कृष्ण जन्म का समय (आधी रात) व्यतीत होने पर भोजन करते है। वृन्दावन, राजस्थान और गुजरात मे इसका अधिक महत्त्व है। श्रावण के शुक्ल पक्ष मे तो वे कृष्ण की बाल मूर्ति को झूले पर झुलाते हैं, जिस उत्सव को 'झूलन' कहा जाता है।

आश्विन का कृष्ण पक्ष पितरो का पर्व है। इस पक्ष मे भावुक हिन्दू अपने पितरो को पिण्डदान करते हैं। अन्तिम दिवस, जो 'महालया' के नाम से प्रसिद्ध है, सबसे महत्त्वपूर्ण दिवस है। गया मे श्राद्ध करने का बहुत महत्त्व है। लाखो हिन्दू पिण्डदान के लिए गया जाते है।

आश्विन-शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक नवरात्र माना जाता है। इसमे दुर्गा की मूर्ति की स्थापना और पूजा होती है और दशमी को नदी या पोखरे मे उसका विसर्जन किया जाता है।

आश्विन-शुक्ल दशमी को, जो 'विजयादशमी' के नाम से विख्यात है, श्रीरामचन्द्र ने रावण से युद्ध के लिए प्रस्थान किया था। इस दिन अनेक क्षत्रिय शस्त्रो की पूजा करते हैं। यह सर्वसाधारण के उल्लास और उत्सव का दिन है। जनता इस पर्व को मनाती है। इन दिनो जगह-जगह रामलीला समारोह के साथ की जाती है। विजयादशमी के दिन नीलकठ पक्षी का दर्शन शुभ माना जाता है। कार्तिक-अमावास्या को दीपमालिका-उत्सव होता है। इस अवसर पर घर-घर की सफाई होती है और रग विरग की सजावटो से उसका कलेवर बदल दिया जाता है। व्यापारी-वर्ग उस दिन महालक्ष्मी की पूजा करते है। रात मे घर-घर मे सैकडो दीप जल उठते हैं। बच्चे पटाखे छोडते हैं और

फुलझड़ियाँ लेकर नाचते हैं। जिधर देखे उधर आनंद का ही नजारा मिलता है। वैश्य-समाज के लिए यह नए साल की शुरुआत है। अत वे नए बही-खाते खोलते हैं और हानि-लाभ की आजमाइश जुआ खेलकर करते है। उस दिन जुआ खेलना कानूनन वर्जित नही है।

वसत के आगमन के उपलक्ष्य मे माघ-शुक्ल पचमी को वसतोत्सव मनाया जाता है। उस दिन गृह-लक्ष्मियाँ तरह-तरह के पकवान बनाती हैं। छात्रगण अपने-अपने विद्यालयो मे सरस्वती-पूजा समारोह के साथ करते हैं और फल एवं मिष्टान्न का प्रसाद-वितरण करते है। फाल्गुन-पूर्णिमा को होलिका-दहन होता है और दूसरे दिन चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को रग और गुलाल के साथ होलिकोत्सव मनाया जाता है। निम्नवर्ग के लोग डफ और झाल बजाकर गीत गा-गाकर मदमस्त हो झूम उठते हैं। शाम मे गोधूलि की वेला मे नगर और गाँव मे घूम-घूमकर लोग नए वर्ष मे प्रवेश करने के लिए भेद-भाव भूलकर सम्मिलित रूप से जीवन-यापन करने का आह्वान करते हैं। कुटुम्बजन एक-दूसरे के घर जाकर मिलते हैं और उनके यहाँ बने पकवान खाते है। हिन्दू समाज में यह एक ऐसा दिन है जब लोग ऊँच-नीच का भेद-भाव भूलकर एक-दूसरे से समान स्तर पर मिलते है और एक-दूसरे के चेहरे पर गुलाल मलते हैं। सामर्थ्य के अनुसार सभी नए उज्ज्वल वस्त्र पहनते हैं। फिर भी देखा जाता है कि हमारे देश मे इतनी निर्धनता है कि अधिकतर निर्धन मजदूर-वर्ग के लोग गदे तथा फटे-पुराने कपडो पर ही होली का आनद लूटते हैं।

महाराष्ट्र का गणेशोत्सव, बगाल की दुर्गा-पूजा, उडीसा की रथ-यात्रा, द्रविड-देश का पोंगलमास और मिथिला का शरत्पूर्णिमा कोजागरी-महोत्सव ऐसे त्योहार हैं, जो क्षेत्रीय विशेषता रखते है।

विभिन्न देव-देवियो मे समन्वय की भावना

विभिन्न सप्रदायो के आपसी भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न प्राचीन काल से होता आ रहा है। कबीर, सूर, तुलसी आदि दूरदर्शी सतो ने भी समन्वय का प्रबल आन्दोलन उठाया और अपनी आवाज बुलद की। साम्प्रदायिक फूट और विरोध से होनेवाली हानियो को खूब समझकर ही शकराचार्य ने अनेक सप्रदायों का खण्डन करके अपने स्मार्त्त-मत मे सबका समन्वय किया। अतः आधुनिक काल मे स्मार्त्त-मत समन्वयवादी है। भारत की ७५% जनता स्मार्त्त है और

विभिन्न देवी-देवताओं का समान रूप से आदर करती है और बिना भेद-भाव के पूजा करती है।

आधुनिक काल के देवता

शिव

विभिन्न देवताओ मे शिव की पूजा आज भारत मे सर्वव्यापक है। "उत्तर मे कैलास-मानसरोवर से लेकर दक्षिण मे श्री लका तक और पश्चिम मे द्वारका से लेकर पूर्व मे मणिपुर तक कितने स्थानो मे और कितने रूपो में शिव-शिवा की आराधना होती है, यह कहना सभव नही है। यहाँ तक कि योगीजनो ने इन्हे हृदय मे देखा और शिवोऽहं कहने मे परमानंद प्राप्त किया, भोगियो ने इसमे भोग पाया और साधको ने गुरु पाए। देव, असुर, यक्ष, किन्नर, नाग, पुरुष, स्त्री, महर्षि, शूद्र आदि सबने समान श्रद्धा से इनकी आराधना की। गाँव गाँव मे लोगो ने इनकी स्तुति और प्रशसा मे गीत बनाए और सारा भारत शिवमय हो उठा।"[1]

सुदूर बाली-द्वीप (इण्डोनेशिया) मे सभी हिन्दू-धर्मावलंबी, जो वहाँ ब्राह्मण-पण्डित कहलाते हैं, शैव हे। वे शिव-माहात्म्य प्रकाशक ब्रह्मपुराण को अत्यन्त गुह्य शास्त्र समझकर सुरक्षित रखते हैं और ब्राह्मणो को छोडकर किसी अन्य जातिवालो को वह ग्रथ नही दिखलाते। उनका विश्वास है कि ब्रह्माण्ड-पुराण ही पुराण है और किसी पुराण का संसार मे अस्तित्व नही है।

ब्रह्म के दो रूप हैं—निष्क्रिय और सक्रिय। अशेष कारण-रूप मे यह निष्क्रिय है, कूटस्थ है। जब इसमे स्वभाव मे स्पन्दन या क्षोभ उत्पन्न होता है, तब यह सक्रिय ब्रह्म कहलाता है। यह मूल स्पन्दन या मूल क्षोभ ही शिव का नृत्य है।

निष्क्रिय ब्रह्म शिव है और सक्रिय ब्रह्म माया है, किन्तु प्रपञ्च की सृष्टि, स्थिति और ससार-रूपी नृत्य मे निष्क्रिय और सक्रिय मे कोई भेद नही रह जाता। निष्क्रिय सक्रिय और सक्रिय निष्क्रिय बन जाता है। कभी पार्वती द्रष्टा बन जाती है और शिव नृत्य करते है तो कभी शिव द्रष्टा रहते हैं और पार्वती नृत्य करती है। कभी तो दोनो का सम्मिलित नृत्य होता है। सृष्टि का प्रवर्तन, शिवा का लास्यनृत्य (कोमल नृत्य) और इसका निवर्तन शिव का

1. डॉ० जनार्दन मिश्र . भारतीय प्रतीक-विद्या, पृ० ९०

ताण्डव (उद्धत नृत्य) कहा जाता है। किन्तु यह यथार्थ मे ब्रह्म के स्वभाव, उसकी नित्य इच्छा, नित्य क्रिया अर्थात् नित्य आनद का कल्लोल है।

नटेश, नटेश्वर या नटराज की मूर्ति और चित्र की कल्पना नाना प्रकार से की जाती है और पुराण, स्तोत्र तथा काव्यो में इनके नाना प्रकार के वर्णन पाए जाते हैं। मंदिरो और गुफाओ मे इनके बहुत-से उत्कीर्ण और रंगे हुए चित्र तथा मूर्तियाँ मिलती हैं। असम-राज्य मे कामाख्या के मदिर मे महाकाल की मूर्ति दीवार के साथ बनी हुई है। नालदा की खुदाई मे भी ऐसी मूर्ति मिली है। किन्तु इन सबमे प्रसिद्ध दक्षिण-भारत के चिदम्बरम् की मूर्ति है।[1]

मुसलमानो के आने के पूर्व भारत मे शिव की उपासना लिंग और मूर्ति दोनो रूपो में होती थी। अनेक मदिरो मे शिव की मूर्ति प्रतिष्ठित थी। ह्यु एन-साग ने अपने यात्रा-विवरण मे वाराणसी मे ताम्र की विशाल शिवमूर्ति का का उल्लेख किया है। किन्तु आज शिव-पूजा सर्वत्र लिंग-रूप मे है। चिदम्ब-रम्, दशपुर तथा कतिपय अन्य स्थानो मे स्थापित मूर्तियाँ अपवाद-स्वरूप है। केदारनाथ की गणना द्वादश ज्योतिर्लिगो मे की जाती है, किन्तु वास्तव मे यह न मूर्ति का रूप है और न लिंग का। यह एक-डेढ़ हाथ चोडे, चार हाथ लबे और दो हाथ ऊँचे प्रस्तर के टीले के समान है।

चिदम्बरम् मे नटराज के रूप मे शिव की प्रतिमा है। इसका प्रतिरूप भारत के डाक-विभाग के टिकट पर भी प्रसारित हो चुका है।

दशपुर (मदसौर) की अष्टमुखी शिव-प्रतिमा, जिसकी तोल लगभग १२५ मन है और ऊँचाई ६ फुट तथा मोटाई ११ फुट है, एक ऐसी अद्भुत शिला से निर्मित है, जिसके वर्ण-वैचित्र्य को देखकर यह आभास होता है कि कहीं शिला विविध रगो से रजित तो न की गई है। सपूर्ण भारत तो क्या, विश्व में ऐसी भव्य और आश्चर्यजनक मूर्ति कही दृष्टिगोचर होना असभव है। इस भव्य प्रतिमा को देखकर यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि यह त्रयोदश ज्योतिर्लिग है।

राम

नर को नारायण-रूप मे देखना और नारायण को नरत्व प्रदान करना भारतीय संस्कार और सभ्यता की मनोहर, किन्तु अद्भुत विशेषता है। पूर्ण

1. डॉ० जनार्दन मिश्र, भारतीय-प्रतीक विद्या : पृ० ८५

ब्रह्म परमात्मा को राम या कृष्ण के रूप मे और राजा राम अथवा ग्वाले कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म के रूप मे देखकर प्रत्येक भारत-सतान का रोम रोम पुलकित हो जाता है।

वाल्मीकि ने भगवान राम पर नरत्व का कुछ कठोर आवरण-सा डाल दिया है और सारी रामायण मे उन्हें एक सर्वगुण-सपन्न महापुरुष के रूप में दिखलाया है। इनके नारायणत्व के विषय में केवल यत्र-तत्र संकेत मात्र है और विद्वानों का मत है कि अवतारवाद के सिद्धान्त के मान्य होने पर राम को अवतार-रूप में प्रदर्शित करने के उद्देश्य मे भक्तो ने जहाँ-तहाँ प्रक्षिप्त अश मिला दिए तथा बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड की रचना कर डाली, यद्यपि आरंभ मे वाल्मीकि कृत रामायण के केवल पाँच काण्ड थे।

राम आज अनेक हिन्दुओ के हृदय पर विष्णु के अवतार के रूप मे प्रतिष्ठित हो गए है, यद्यपि तुलसीदास के रामचरित-मानस के आधार पर कुछ भक्त राम को विष्णु का अवतार न मानकर ब्रह्मा विष्णु-शकर के रचयिता के रूप मे देखते हैं। जो भी हो, शिव के सदृश राम की पूजा सर्वदेशीय न होकर विशेषतया बिहार और पूर्वीय उतर-प्रदेश तक सीमित है, यद्यपि देश के अन्य अचलो मे भी यत्र-तत्र राम के उपासक तथा राम के मदिर मिलेंगे। राम-भक्त रामानद-सम्प्रदाय के अनुयायी होते हैं और अयोध्या, सीतामढी, चित्रकूट और जनक ु र उनके मान्य तीर्थस्थान हैं।

सस्कृत भाषा मे वाल्मीकीय रामायण, लोमस-रामायण, मंजुल रामायण, सौपद्य रामायण, रामायण महामाला, सौहार्द रामायण, रामायण मणिरत्न, सौर्य रामायण, चान्द्र रामायण, मैन्द रामायण, स्वायम्भू रामायण, सुब्रह्म रामायण, सुवर्चस रामायण, देव रामायण, श्रवण रामायण, दुरन्त रामायण, रामायण-चम्पू, आनन्द रामायण, अद्भुत रामायण आदि की रचना हुई है। इनके अतिरिक्त महाभारत मे भी वनपर्व मे रामायण की पुरानी कथा गाई गई है। पुराणो मे भी रामायण की कथा आई है। ब्रह्माण्ड-पुराण मे जो रामकथा वर्णित है, वही अलग करके अध्यात्म-रामायण के नाम से प्रकाशित हुई है। प्राय समस्त क्षेत्रीय भाषाओ मे भी छोटे या बडे रूप मे रामकथा आई है। इनमे बँगला भाषा की कृत्तिवास-रामायण, तेलुगु की रगनाथ रामायण और तमिल की कम्ब-रामायण का हिन्दी-अनुवाद भी आज प्राप्य है। इनमे कम्ब-रामायण की

भाषा अति प्रवाहपूर्ण, ओजस्विनी तथा आलंकारिक है। कवि ने अपनी रचना में संस्कृत तथा तमिल-अलकारो और मुहावरों का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है।

जनकनंदिनी सीता की पूजा और उनके मंदिर प्रायः राम मंदिर के अंग हैं, किन्तु आमली (जयपुर) और सीतामाडी (कोटा) में सीता के स्वतंत्र मंदिर हैं। राम के उपासक अनिवार्य रूप से सीता के उपासक होते हैं। कहा गया है कि राजीवलोचन की प्राणवल्लभा के प्रसाद के बिना सासारिक वैभव, कैवल्य-मुक्ति एव परमपद—इन तीनो वैभवो मे से जीव-मात्र के लिए किसी भी प्रकार के कल्याण की प्राप्ति नितान्त असभव है। अत भक्त अनिवार्य रूप से युगल-जोडी की उपासना करते हैं। सीतोपनिषद् ही एकमात्र उपनिषद् है, जिसमें सीता को आदिशक्ति ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश से पूजित दिखलाया गया है। श्रीरामचरित्र दास जी ने संस्कृत-भाषा मे 'जानकी-चरितामृत' की रचना की है। सस्कृत मे रामचरित-संबंधी अनेक ग्रन्थ आज प्राप्य हैं। देश की विभिन्न भाषाओ मे भी रामचरित की रचना हुई है। हिन्दी-भाषा तो रामचरित तथा सीताचरित से भरपूर है। इनमे तुलसीकृत रामचरितमानस अद्भुत ग्रथ है। उत्तर-भारत की हिन्दी-भाषी जनता मे जितना रामचरितमानस का प्रचार है, उतना किसी दूसरे ग्रथ का नही। इसमे उपनिषदो और गीता के महावाक्य प्रसगवश यत्र-तत्र मिलते हैं।

यद्यपि राम के भाइयो की उपासना प्रचलित नही है, तथापि जहाँ-तहाँ उनके मदिर मिलते हैं। इनमे ऋषिकेश का भरत-मदिर बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ से लगभग तीन मील पर लक्ष्मण-झूला के पास का लक्ष्मण-मदिर प्रसिद्ध है; किन्तु भरतपुर का विशाल लक्ष्मण-मदिर एकमात्र मंदिर है, जहाँ लक्ष्मण के साथ उर्मिला की मूर्ति है। शत्रुघ्न का मदिर मुझे त्रिवेन्द्रम् (केरल) को छोड़ अन्यत्र कही नही मिला। इन मदिरो मे श्रद्धावान् भावुक हिन्दू दर्शनार्थ जाते हैं और विधिपूर्वक पूजा करते हैं।

कृष्ण

राम के सदृश कृष्ण भी पूर्ण ब्रह्म के आविर्भूत रूप हैं। आरभ से अंत तक कृष्ण मे नरत्व और नारायणत्व इस प्रकार ओतप्रोत हैं कि इनमे विभेद करना कठिन है। कृष्ण-चरित्र में नरत्व और ब्रह्मत्व अलग हो नहीं सकते।

जिन्होंने कृष्ण को ब्रह्म-रूप मे देखा, उन्हे सिद्धि और मुक्ति मिली और जिन्होंने केवल मनुष्य-रूप मे देखा, उन्होंने धोखा खाया। श्रीकृष्ण-चरित्र से महाभारत, और विशेषकर उसका परिशिष्ट-अश, हरिवंश तथा श्रीमद्भागवत-पुराण भरे-पड़े हैं। श्रीमद्भागवत-पुराण का दसवाँ स्कन्ध तो एकमात्र श्रीकृष्ण-चरित्र ही है। घर-घर इस दसवे स्कन्ध का प्रचार है। श्रीगोपालोत्तर तापिन्युपनिषद् मे कहा गया है कि ब्रह्म एक है दो नहीं। माया से वह चार हो जाता है। अकारात्मक बलराम विश्व है, उकारात्मक विश्व-तेज है, मकारात्मक अनिरुद्ध (कृष्ण के पुत्र) प्रज्ञा है और अर्धमात्रात्मक कृष्ण है, जिसमे सबकी स्थिति है। रुक्मिणी जगत को बनानेवाली कृष्णात्मिका मूल प्रकृति है। वेद-रूप गोपियो से उत्पन्न ज्ञान-सगत कृष्ण है। प्रणव-रूप होने के कारण ब्रह्मवादी प्रकृति-रूप भी कहते हैं। इसलिए गोपाल विश्वव्यापी ऊँकार-रूप है। महाभारत मे कृष्ण का उल्लेख एक आचारवान्, सर्वप्रिय, सत्यवादी, अद्वितीय योद्धा तथा राजनीतिज्ञ के रूप मे आया है। हरिवश-पर्व मे, जो बहुत बाद की रचना है और जो स्पष्टत. महाभारत का खिल-पर्व है, कृष्ण की बाल-लीला का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इसकी पुष्टि श्रीमदभागवत-पुराणान्तर्गत दसवे स्कन्ध द्वारा की गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वृन्दावन-लीला का प्रचार बहुत पीछे महाभारत के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर हुआ—

श्रीकृष्ण द्वारकावासिन् गोप-गोपी-जनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥

चिंतामणि विनायक वैद्य सदृश विद्वानो की राय है कि महाभारत का वर्तमान स्वरूप ईसवी सन् से लगभग २५० वर्ष पूर्व मिला। वैद्य महोदय का कथन है कि "वर्त्तमान महाभारत के समय तक यही धारणा थी कि गोपियाँ श्रीकृष्ण से केवल निर्विषय प्रेम करनेवाली परम भक्ता थी; परन्तु धीरे-धीरे भक्ति-मार्ग मे जब भक्ति की मीमासा होती है तब सभव है कि भक्ति की उपमा उस प्रेम से दी गई हो, जो असती का जार से होता है।"[1]

भारत के धार्मिक इतिहास में 'राधा' का प्रादुर्भाव एक अद्भुत घटना है। गोपाल-तापिन्युपनिषद् में कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी जगत को बनानेवाली

---

1. **भारत-मीमांसा**, पृ० ८९८९९

कृष्णात्मिका मूल-प्रकृति है। कालान्तर में रुक्मिणी का स्थान स्पष्ट रूप से राधा ले लेती है और रुक्मिणी पीछे पड जाती है और यह भावना कि श्री कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं और उनकी शक्ति राधा माया है, जो उनकी चिरसगिनी है, पुष्ट हो जाती है। सूरदास का कथन है कि राधा और कृष्ण सुन्दरता, त्रिगुण और महारस की चरमसीमा हैं। राधोपनिषद् मे कहा है : "बुद्धिमानो को उचित है कि नित्य कृष्णचन्द्र का ध्यान करे, उनकी पहली प्रकृति राधिका नित्या, निर्गुण, सर्वालंकार-शोभित, प्रसन्न, सब प्रकार के लावण्य से सुन्दर है। हमलोगो का जन्म इनके अधीन है। इनके अश से बहुत-से विष्णु, रुद्रादि उत्पन्न होते हैं। मानसिक पूजा, ध्यान, कीर्त्तन, स्तुति इत्यादि सब कुछ मानसिक अनुभूति द्वारा उनकी अगाध महिमा के सुख-सिंधु मे उत्पन्न नित्य (अविनाशी) पद प्राप्त होता है। और किसी से नही, और किसी मे नही, और किसी से नही। यह वेद-वचन है, यह वेद-वचन है।"[1]

श्रीकृष्ण या युगलमूर्ति राधा-कृष्ण की पूजा विशेष रूप से बगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश और राजस्थान मे प्रचलित है, यद्यपि कुण्डलपुर, अमलनेर-सदृश कुछ मदिरो मे राधा के स्थान पर युगलमूर्ति कृष्ण-रुक्मिणी की प्रतिमा पाई जाती है। निम्बार्क और वल्लभ-संप्रदाय के अनुयायी पश्चिम भारत मे और चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी पूर्व भारत मे विशेष रूप से राधा-कृष्ण के भक्त है। वल्लभ-संप्रदाय कृष्ण के बाल-रूप की आराधना करता है। इस संप्रदाय का गुजरात में विशेष प्रचार है। इसके अनुयायी गुरु को ईश्वर मानते है और 'जय श्रीकृष्ण' तथा 'जय गोपाल' से परस्पर अभिवादन करते हैं। वल्लभ-सप्रदायवाले मदिरो मे विविध प्रकार के पक्वान्न और फल भगवान कृष्ण को भोग लगाए जाते हैं और पुजारियो तथा मदिर के सेवको द्वारा प्रसाद के रूप मे भक्तो के बीच बेचे जाते हैं। उदयपुर (नाथद्वारा) का 'राजभोग' प्रसिद्ध है। वृन्दावन राधाकृष्ण-भक्तों का प्रमुख तीर्थ है।

राधा

राधावल्लभी सप्रदाय में राधा की प्रधानता है। राधारानी महाशक्ति और स्वामिनी हैं। भगवान कृष्ण उनके आज्ञानुवर्ती हैं। उनकी आज्ञा से ही

1. राधोपनिषद्, तृतीय परिपाठ।

विश्व की सृष्टि, भरण और हरण होता है। स्वामी हितहरिवंश जी ने संवत् १६४२ के लगभग वृन्दावन मे इस सम्प्रदाय की स्थापना की। वृन्दावन में राधा-वल्लभ स्वामी का मंदिर मौजूद है, जो इस उप-सम्प्रदाय का मुख्य स्थान है। राधा-वल्लभ की उपासना इसकी विशेषता है।

स्वामी नारायणी सम्प्रदाय के अनुयायी भी राधा-कृष्ण की युगलमूर्ति के उपासक हैं। इसके प्रवर्त्तक स्वामी नारायण ने ऊँच-नीच के भेद को त्यागकर सभी जातियों के लिए पंथ का द्वारा खोल दिया। इस्लाम-मतावलंबी खोजा लोगों को भी इस पंथ मे स्वीकार किया। इसके अनुयायी अधिकांशतः मूर्ति के स्थान पर चित्रपट की पूजा करते है और गृहस्थ-जीवन-यापन करते हैं। इनका दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैत है, परन्तु उपासना-विधि वल्लभ-सम्प्रदाय की है।

राधाकृष्ण के उपासक परिणामी सम्प्रदाय के भी हैं। सर्वधर्म-समन्वय इनका लक्ष्य है। इनका मत राधावल्लभी-जैसा है। यह सम्प्रदाय भगवान कृष्ण की साख्य-भाव की उपासना की शिक्षा देता है।

विष्णु

ऋग्वेद के मन्त्रों मे विष्णु का नाम अपेक्षाकृत कम स्थानों मे पाया जाता है। वेद मे 'विष्णु' सूर्य का पर्यायवाचीहै। उत्तर-वैदिक काल मे विष्णु त्रिदेवों के साथ—संसार के पालनकर्त्ता देवों मे—देव के रूप मे आदृत हुए और उनकी मर्यादा अद्यावधि अक्षुण्ण बना रही। विष्णु के उपासकों मे विष्णुस्वामी का संप्रदाय सबसे प्राचीन है। विष्णुस्वामी ने लोक-रुचि के अनुकूल वैष्णव-सम्प्रदाय की नींव डाली। मूर्तिपूजा प्रचलित हो चुकी थी। अत उन्होने विष्णु के प्रतिमा-पूजन को ही शास्त्र-सम्मत बतलाया। उन्होने काया-कष्ट को निरर्थक और विष्णु के नाम-स्मरण को मोक्ष का साधन बतलाया। उनका उपदेश ब्राह्मणों तक ही सीमित था। अत यह मत सर्वव्यापी नहीं हो सका। विष्णु की भक्ति के सबसे महान प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य हुए। आपने शंकर के अद्वैत मत के विरोध मे विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार किया। इस सम्प्रदाय-वाले लक्ष्मी तथा विष्णु और उनके अवतारों की पृथक् पृथक्, किंवा युगल-रूप मे उपासना करते हैं। यद्यपि श्रीराम पर विशिष्ट भाव रखते हैं तथापि विशेष रूप से विष्णु और उनकी पराशक्ति लक्ष्मी की ही उपासना करते हैं।

रामानुज के मतानुसार ध्यान और उपासना मुक्ति के साधन हैं; ज्ञान मुक्ति का साधन नहीं है। मुक्ति-प्राप्ति का उपाय भक्ति है और भगवान के चरणों मे आत्म समर्पण करने से जीव को शान्ति एवं मुक्ति मिलती है। भगवान की प्रसन्नता से ही मोक्ष मिलता है। इस संप्रदाय का ज्यादा प्रचार दक्षिण में है, जहाँ अनेक भव्य मूर्तियाँ विशाल मदिरो मे स्थापित हैं। इन मदिरो मे प्रमुख श्रीरगम्, त्रिवेन्द्रम्, चिदम्बरम्, विष्णु-काची, बदरीनारायण और त्रिपुरी के बालाजी के मदिर है। रामानुज-सप्रदाय के वैष्णवो के ये मान्य तीर्थस्थल हैं।

लक्ष्मी के मदिर यत्र-तत्र विष्णु मदिर के सान्निध्य मे पाए जाते हैं। किन्तु स्वतत्र रूप से महालक्ष्मी के मदिर कोल्हापुर, बबई, वाटर, तिरुनागेश्वर तथा मन्नागुडी मे हैं। बगाल को छोड स्वतत्र रूप से लक्ष्मी-पूजा का प्रचलन अन्यत्र नही है। यह कौतूहल की बात है कि बगाल मे विष्णु-पूजा की प्रधानता न होने पर भी लक्ष्मी पूजन प्रचलित है।

गणेश

गणेश की मूर्ति साक्षात् ओंकार-सी प्रतीत होती है। शास्त्रो मे गणेशजी ओंकारात्मक माने गए हैं। अतः ओंकारात्मक होने के कारण गणेश की सब देवताओ मे अग्रिम पूजा की जाती है। कोई शुभ कार्य आरभ करने पर पहले गणेश को नमस्कार किया जाता है।

गणपति के उपासको का भाव है कि महागणपति (परमात्मा) ने अपनी इच्छा से अनत विश्व मे अनत ब्रह्माण्ड रचे और हर ब्रह्माण्ड मे अपने अंश से त्रिमूर्ति प्रकट की। उसी दृष्टि से सभी सप्रदायो के हिन्दुओ मे सभी मगल-कार्य के आदि मे गौरी गणेश की पूजा होती है। यात्रा के आरभ मे गणेश का स्मरण किया जाता है। पुस्तक, पत्र, बही-खाता आदि प्रारभ करने के पहले श्रीगणेश का स्तवन या श्री गणेशायनम लिखने की पुरानी प्रथा चली आती है। विश्वास है कि समस्त विघ्नो का नाश करने की शक्ति गणेश मे विद्यमान है। इसलिए गृह-प्रवेशद्वार पर गणेश की मूर्ति की स्थापना की जाती है।

प्राचीन काल मे गणपति का उपासक एक विशिष्ट सप्रदाय था, जो गाणपत के नाम से पुकारा जाता था। महाराष्ट्र के पेशवा लोग गणपति के उपासक थे। अतएव आज भी बंगाल की दुर्गा पूजा और सरस्वती-पूजा की भाँति, महाराष्ट्र में

भाद्र-शुक्ल चतुर्थी को गणपति-पूजा बड़े समारोह के साथ की जाती है। गणेश-चौथ व्रत तो सारे भारत में मान्य है। मोरेश्वर क्षेत्र (मोरेगाँव) गाणपत्य संप्रदाय का प्रधान पीठ है। गणपति के मंदिर सारे भारत देश में मिलते हैं। तिरुचिरापल्ली में पहाड़ के ऊपर (जिसको 'गोल्डेन रॉक' कहते हैं) सबसे प्रसिद्ध गणेश-मंदिर है। गणेश का सबसे बड़ा मंदिर हम्पी मे है, जिसकी मूर्ति बारह हाथ ऊँची है।

सुब्रह्मण्यम् (स्वामी कार्तिकेय)

स्वामी कार्तिकेय पुराणो मे शिव के ज्येष्ठ पुत्र दर्शाए गए हैं। ये देवताओ के सेनापति माने जाते हैं। दक्षिण-भारत मे इनका नाम सुब्रह्मण्यम् है। दक्षिण के मंदिरों मे सुब्रह्मण्यम् को प्रमुख स्थान प्राप्त है। शिव और विष्णु के मंदिरो की प्रभृति सुब्रह्मण्यम् के अनेक विशाल मंदिर बने हुए हैं। उत्तर-भारत में इनका एकमात्र मंदिर अमृतसर-पठानकोट रेलवे-मार्ग के बटाला स्टेशन से चार मील दूर अचलेश्वर मे है। यहाँ स्वामी कार्तिकेय के नाम से इनकी मूर्ति स्थापित है। जो स्थान दक्षिण मे सुब्रह्मण्यम् को प्राप्त है, वह उत्तर-भारत मे गणेश को है।

ब्रह्मा

ब्रह्मा संसार के रचयिता माने जाते हैं, किन्तु पुष्कर (अजमेर) के सिवा इनका अन्य कोई प्रसिद्ध मंदिर नही है; यद्यपि त्रिवेन्द्रम मे एक मंदिर का निर्माण केवल ब्रह्मा की मूर्ति के लिए हुआ है। इसके अतिरिक्त जोधपुर जिले के ओसिया मे अनेक देवताओ के साथ ब्रह्मा की मूर्ति है और उसी जिले के खेर मे ब्रह्मा का मंदिर है। गुजरात के खेर-ब्रह्मा स्टेशन के पास एक विशाल मंदिर मे ब्रह्मा की चतुर्मुखी मूर्ति है। ब्रह्मा-संबंधी प्रसिद्ध पुष्कर-तीर्थ राजस्थान के अजमेर नगर से लगभग ७ मील दूर है। अनेक हिन्दू ब्रह्मा के दर्शन एवं पूजन के लिए पुष्कर जाते हैं। [अजमेर नगर मे भारत के मुसलमानो का सबसे प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ एक पहुँचे हुए फकीर ख्वाजा हसन चिश्ती की कब्र है।]

सरस्वती

सरस्वती स्पष्टतया वैदिक देवता है।

उतस्यानः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्त्तनि। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्

—ऋग्वेद, मण्डल ६, सूक्त ५, मंत्र ६१।७

अर्थात् किरणों (हिरण्य) का रथवाली, वृक्ष का नाश करनेवाली, घोर-रूपिणी सरस्वती हमारी सुन्दर स्तुति को स्वीकार करे ।

सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हैं । इसी कारण माघ-शुक्ल पंचमी (वसन्त-पचमी) को सरस्वती की पूजा विशेष रूप से विद्यार्थी-समाज मे प्रचलित है । सरस्वती की सुन्दर भव्य मूर्ति, जो हाथ मे वीणा लिए हस पर विराजमान रहती है और जिसके सामने सफेद कमल-दल खिले रहते हैं, बनाकर सभी छात्रगण एव शिक्षक-समुदाय उनकी पूजा विधिपूर्वक बडी श्रद्धा के साथ करते हैं और दूसरे दिन गाजे-बाजे एव उनकी जय-ध्वनि के साथ उन्हें पवित्र जल मे प्रवाहित कर देते हैं । सरस्वती देवी सगीत-विद्या की भी अधिष्ठात्री हैं, इसलिए इनके कर-कमलो मे एक वीणा सदा विराजमान रहती है । यह देवी वास्तव मे सादी जिन्दगी और ऊँचे विचार की प्रतीक हैं ।

सपूर्ण भारत मे सरस्वती का स्वतंत्र मदिर कही देखने को नही मिलता ।

दुर्गा

नारी-देवताओं मे दुर्गा का स्थान सर्वोपरि है । शाक्तमत की तो यह आधार-शिला हैं । भारत के विभिन्न अचलो में दुर्गा के विभिन्न रूपो की मूर्तियाँ मिलती हैं । दुर्गोपासना का सर्वप्रधान ग्रथ दुर्गा-सप्तशती है । यह मार्कण्डेय-पुराण के ८१ से ८३ अध्याय तक है । इसमे ५६७ श्लोको को ७०० मन्त्रो मे विभक्त किया गया है, इसलिए इसे दुर्गा सप्तशती कहते है । दुर्गा-सप्तशती मे दुर्गोपासना का जिस प्रकार विधान किया गया है, उसमे मानव-बुद्धि और समाज के गूढ़तम सिद्धान्त सन्निहित है । आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति के उद्भव और विकास के—स्थूल, सूक्ष्म और परे—जितने रूप हो सकते है, उनके प्रपंचात्मक तथा आध्यात्मिक सभी पक्षो पर विचार किया गया है और उनकी साधना की रीति बताई गई है ।

"दुर्गा की प्रतिमा समस्त शक्ति अर्थात् राष्ट्र-शक्ति का प्रतिरूप है । जो व्यक्ति और व्यक्तियो का सम्मिलित रूप राष्ट्र, शारीरिक रूप—बल, सपत्ति-बल और ज्ञान-बल—से सिंह-सदृश हैं, उस व्यक्ति मे, उस राष्ट्र पर दुर्गा (शक्ति) प्रकट होती है । राष्ट्र को पशुबल (कार्तिकेय), संपत्ति-बल (लक्ष्मी) और ज्ञान-बल (सरस्वती) अवश्य चाहिए, किन्तु बुद्धिहीन के लिए बल, संपत्ति और ज्ञान निरर्थक ही नही, वरन् आत्म-सहार के लिए प्रबल अस्त्र सिद्ध होते हैं । इसलिए मनुष्यता के आदिदेव, बुद्धि के महाकाय (गणपति) वर्तमान है, जिनकी

विशाल बुद्धि (शरीर) के भार के नीचे सभी विघ्न (चूहे) विवश रहते हैं। सभी दिशाओ मे फैली हुई राष्ट्रशक्ति ही राष्ट्र की दो, चार, आठ, दस सहस्र और अनत तथा असख्य भुजाएँ है और सब प्रकार के उपलब्ध अस्त्र-शस्त्र ही, दिक्पालो के अस्त्र-शस्त्रादि, इनके आयुध है। कोई व्यक्ति और राष्ट्र ऐसा नही है, जिसका विरोध न हो। यही महिष है, जिसकी शक्ति सर्वदा सहार करती रहती है। दुर्गा के रूप मे यह भारत शक्ति की उपासना है।''[1] मधु-कैटभ की कथा मे समाज की आदिम अविकसित अवस्था का चित्र है। इस अवस्था में व्यक्तिगत पशुबल अर्थात् शारीरिक बल काम करता है, बुद्धि काम नही करती।

दुर्गा-सप्तशती मे बारबार यही दिखाने की चेष्टा की गई है कि देवी विश्व-व्यापिनी और एक है और उनकी इच्छा से उनके असंख्य रूप हो जाते हैं।

यन्त्र-प्रतीक पर भी सभी देवताओ की तरह देवी की पूजा होती है। यन्त्र और प्रतिमा एक ही भावना के भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं।

महादुर्गा के विभिन्न रूपो मे काली की पूजा विशेष रूप से बगाल मे प्रचलित है। काली-तत्त्व का विवरण अप्रकाशित उपनिषद् के गुह्यषोढान्यसोपनिषद् मे आया है। कहा गया है कि जिसे महालक्ष्मी के नाम से सबोधित करते हैं, वह सर्वाङ्गसुन्दरी, त्रिपुरासुन्दरी, 'षोडशी' हैं। इनके और भी अगणित नाम हैं, जैसे—महाश्री, चड, चडी, चडिका, चामुण्डी, भद्रकाली, नाना प्रकार की काली, दुर्गा, महेश्वरी, त्रिगुणा, भगवान की पत्नी, भगवती, परा आदि।

''काली के एक हाथ मे सद्यश्छिन्न मुण्ड है, जिससे रक्त बिन्दु टपकता रहता है। यह महापुरुष का मुण्ड है। यह अज्ञान अथवा मोह, विष्णु के हिरण्याक्षादि, शिव के त्रिपुरारि, दुर्गा के महिषादि और बुद्ध के मार है। विद्या और अविद्या की क्रियाओ के कारण सृष्टि का सकोच और विकास होता रहता है। अविद्या जीवन के प्रधान उद्देश्य महानद अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति का बाधक है। इसलिए साधको से आत्म-दर्शन के लिए इसका सर्वदा शिरश्छेद होता रहता है। इससे सर्वदा रक्त-बिंदुओ का टपकना, इसकी निरतर क्रियाशीलता का परिचायक है।

1. भारतीय प्रतीक-विद्या, पृ० १७७

"देवी के कटिभाग मे शवो के हाथो की माला लटकती हुई है। आधुनिक युग के राम, कृष्णादि की तरह महाज्ञानी जीवन-मुक्त साधक ही शव हैं, जिनकी वासनाओ के नष्ट हो जाने के कारण वे निश्चल वृत्तिवाले रूप को ग्रहण कर चुके हैं। वासना-शून्य उनका हृदय ही काली का श्मशान है, जिसमे वह नृत्य करती है। इन्ही शवो के कर्म-बंधन के प्रतीक उनके हाथ है, जिन्हे छिन्न कर करुणामयी माँ आत्मसात् कर लेती है, जिससे उसके भक्तो को तत्त्व-प्राप्ति हो।"[1]

दुर्गा के समान विभिन्न रूप किसी देवता के नही है। एक ओर वह अन्नपूर्णा के रूप मे भक्तो की कामना पूर्ण करती है, तो दूसरी ओर दुर्गा के रूप मे शत्रुओ का वध करती हैं।

दुर्गा के विभिन्न रूपो के भारत मे अनेक मंदिर हैं, जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार से उनकी पूजा और उपासना की जाती है। देवी के विख्यात मंदिर हैं—(१) वैष्णवी देवी, जम्मू-कश्मीर, (२) विन्ध्यवासिनी देवी, विन्ध्याचल, उत्तर-प्रदेश, (३) गुह्येश्वरी देवी, नेपाल, (४) काली, कलकत्ता; (५) कामाख्या, असम, (६) चामुण्डी, मैसूर, तथा (७) कुमारी, कन्या कुमारी।

सूर्य

ऋग्वेद मे सूर्य का देवताओ मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिककाल मे सूर्य की उपासना विशेष रूप मे प्रचलित थी। प्रसिद्ध गायत्री-मंत्र सूर्य-परक है। ऋग्वेद मे (७।६२।२), कौषितकी ब्राह्मण-उपनिषद् मे (२।७), आश्वलायन गृह्यसूत्र मे और तैत्तिरीय आरण्यक मे सूर्योपासना के स्तोत्र, विधियाँ आदि दी हुई हैं। वेद मे विष्णु सूर्य का पर्यायवाची शब्द है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण सूर्य को परमात्मा का प्रतिरूप मानते हुए अन्य देवो को सूर्य के अधीन मानता है। सूर्य को अपना इष्टदेव और सर्वोपरि देवता मानने-वाले व्यक्ति 'सौर' कहलाते है। विशुद्ध सौर की संख्या आज भारत मे नगण्य है। ये लोग गले मे स्फटिक-माला और ललाट पर रक्तचंदन का तिलक तथा लाल फूलों की माला धारण करते हैं। ये अष्टाक्षर मंत्र जपते हैं और रविवार को तथा संक्रांति को नमक नही खाते। सूर्य के दर्शन किए बिना वे जल

1 भारतीय प्रतीक-विद्या, पृ० १९५

ग्रहण करना भी पाप समझते है। अतएव वर्षा-काल मे उन्हें बहुत कष्ट होता है। संभवतः इसी कारण उनकी सख्या नगण्य हो गई है। सौर-मतावलंबी सूर्य-मत्रादि के जप को ही मोक्ष का साधन मानते हैं।

आज अनेक स्त्री-पुरुष शारीरिक व्याधियो और चर्म-रोगो से त्राण पाने के लिए सूर्य-व्रत तथा सूर्योपासना करते हैं।

भारत मे पहले सूर्य की उपासना मत्रो द्वारा होती थी। किन्तु, जब मूर्ति-पूजा का चलन आरभ हुआ, तब सूर्य को प्रतिमा भी यत्र-तत्र स्थापित हुई। उत्कल-प्रदेश (उडीसा) मे सूर्योपासना का विशेष रूप से प्रचार था। कोणार्क मे एक विश्वविख्यात सूर्य-मदिर है, जिसका 'कोणादित्य' कहते हैं। ब्रह्मपुराण के अट्ठाईसवे अध्याय मे इसी तीर्थ तथा एतत्सबंधी सूर्य-पूजा का वर्णन है। काश्मीर मे मार्तण्ड (सूर्य) की मूर्ति का भग्नावशेष मिला है। सुदूर जावा द्वीप (इण्डोनेशिया) मे भी सूर्य की रथारूढ़ मूर्ति मिली है।

इन बातो से ज्ञात होता है कि सौरमत का प्रचार कभी भारत मे खूब था, किन्तु इस समय स्वतत्र सूर्योपासको का प्राय अभाव-सा है। फिर भी भारत मे सूर्य-पूजा की आज भी काफी प्रतिष्ठा है। पचदेवो और नवग्रहो मे उनका प्रमुख स्थान है। सभी स्मार्त उनकी पूजा करते है। कार्तिक-शुक्ल षष्ठी और सप्तमी को तो अनेक हिन्दू विशेष रूप से सूर्य को पूजा करते हैं। प्रतीत होता है कि विष्णु की पूजा परमात्मा के रूप मे प्रचलित हो जाने पर स्वतत्र रूप से सूर्य की उपासना मद पड गई।

सूर्य के मदिर आज देव (गया), सहनिया (छत्रपुर), गलताजी (जयपुर), शखोद्धार-तीर्थ (झालावार), आसिया (जोधपुर), आरसविल्ली तथा सूर्यनार कोइल मे है।

हनूमान (महावीर)

यह भारतीय परपरा की विशिष्टता है कि जिस विग्रह की प्रधान रूप से उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का प्रतीक बन जाता है और अन्य देवतागण उस रूप के उपासक बन जाते है। शिव की पूजा विष्णु और विष्णु की पूजा शिव करते हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश सभी सरस्वती, काली, कृष्णादि की पूजा करते है। किन्तु हनूमान इसके महत्त्वपूर्ण अपवाद हैं। कही भी हनूमान को ब्रह्म का प्रतीक नही माना गया है। किन्तु भगवान राम के परमप्रिय भक्त के

रूप मे हनूमान की उपासना होती है। कहीं भी परब्रह्म से उनका तादात्म्य संकेत-रूप से भी नहीं किया गया है। भारत की धार्मिक परंपरा में यह अद्भुत बात है। इसी कारण हनूमान-संबधी न कोई उपनिषद् है और न किसी ग्रंथ की ही रचना की गई है।

हनूमान की उपासना विशेष रूप से उत्तर-भारत में है और राम-उपासक विशेष रूप से हनूमान-उपासक पाए जाते हैं, यद्यपि अनेक स्मार्त भी हनूमान की आराधना करते हैं।

हनूमान के मुख्य मंदिर वाराणसी मे संकटमोचन, अयोध्या में हनूमानगढ़ी; रैंनवाल (जयपुर) और पुनरासर (बीकानेर) बहुत प्रसिद्ध हैं। सूचीन्द्रम (केरल) में हनूमान की एक विशाल मूर्ति है, जिसपर गुलाब-जल चढ़ाया जाता है। कहा जाता है कि यह गुलाब-जल विक्षिप्त, पागल और अपस्मार (मृगी) के रोगियो का उपचार है। हाल ही मे रामवन-सतना मे हनूमान जी की विशाल मूर्ति की स्थापना हुई है।

शाक्तमत

शाक्तमत की व्यापकता भारत मे विशेष रूप से थी, किन्तु अब शुद्ध शाक्तो की संख्या काफी घट गई है। शाक्तमत के प्रधान पीठ उड्डीयान (उत्कल), जालंधर (पंजाब), श्रीशैल (आंध्र), काठमाण्डू (नेपाल) और असम रहे है। इनमें सबसे प्रबल केन्द्र कामरूप (कामाख्या, असम) और उसके निकटवर्ती स्थान रहे हैं। यहाँ शाक्तमत विशेष रूप से प्रचलित रहा है। कामरूप मे देवी त्रिपुरा-सुन्दरी की पूजा होती है। पूजा वस्तुत नारी-योनि की होती है। इस योनि के प्रतीक के चारो ओर नव-योनियो का चित्र रहता है। संपूर्ण प्रतीक को श्री-चक्र कहा जाता है। इन शाक्तो की दो श्रेणियाँ हैं—(१) कौलिक और (२) समयायिन। कौलिक मूर्ति अथवा चित्र की पूजा करते हैं और समयायिन निराकार की। कौलो मे दो वर्ग है—पूर्व-कौल और उत्तर-कौल। पूर्व-कौल योनि के चित्र की पूजा करते है और उत्तर-कौल जीवत सुन्दरी युवती की योनि की पूजा करते हैं। पूजा के समय मांस, मत्स्य, मदिरा आदि का सेवन करते हैं और इनका व्यवहार पूजा की प्रमुख सामग्री के रूप मे करते है। वे योनि को 'भैरवी-चक्र' की संज्ञा देते है। पूजा के समय जात-पाँत का विचार नहीं

किया जाता। सभी जाति के पूजक उस समय ब्राह्मण समझे जाते हैं, पर पूजा के पश्चात् सभी अपनी-अपनी जाति मे गिने जाने लगते है।

असम-प्रदेश मे ही नही, बल्कि सारे भारत मे कामाख्या के मदिर की विशेष मान्यता है। यह गोहाटी से दस मील दूर पहाड पर अवस्थित है। पुराणो की कथा के अनुसार सती की योनि यहाँ गिरी थी। अत: कामरूप-पीठ (कामाख्या) 'योनि-पीठ' के नाम से प्रसिद्ध है और मदिर मे कोई मूर्ति नही है। मदिर के भीतर गुफा है। गुफा के एक कोने मे पत्थर है, जिसपर योनि का चित्र अकित है। उसी स्थान से निकला हुआ झरना निरतर उस योनि प्रतीक को सिंचित करता रहता है।

कामाख्या के मंदिर के अतिरिक्त इस क्षेत्र मे घटाकरण, तारा, भैरवी, भुवनेश्वरी आदि के मदिर प्रसिद्ध हैं। असम मे अम्बुवती (अमेती)-पर्व प्रतिवर्ष आषाढ के आरभ मे मनाया जाता है। यह देवी के रजोदर्शन का पर्व है। यह तीन दिनो तक रहता है। ऐसा समझा जाता है कि इन दिनो तक देवी का रजोदर्शन होता है। अत इस अवधि मे मदिर का दरवाजा बद रहता है और किसी को भी मंदिर में जाने की अनुमति नही रहती।

शाक्तमत मे तात्रिक क्रियाओ की प्रधानता है। आज से कुछ काल पूर्व तक तत्रो को बुरा-भला कहने की प्रणाली चल पडी थी। यह मान लिया गया था कि तत्रो मे पूजा पाठ की आड मे व्यभिचार को प्रोत्साहन दिया गया है और तात्रिक क्रियाएँ उपासना के नाम पर मनुष्य की विषय-वासनाओ की तृप्ति के साधन हैं। रति-वासना की उच्छृखल तुष्टि का बहाना तात्रिक चक्रोपासना मे मिलता है। अब धीरे-धीरे यह धारणा कम हो रही है। साधक के लिए तत्राचार्यों ने जिन बातो की विशेष परिस्थितियो मे अनुमति दे रखी है, उनका नि:सदेह दुरुपयोग किया गया है। परन्तु इसमे तत्र विद्या (तत्रण) दूषित नही हो सकती। तत्र-ग्रथो के अनुशीलन से कई आध्यात्मिक प्रश्नो के समझने मे सहायता मिलती है। कठिनाई यह है कि तत्र-ग्रथ जिस दुर्बोध भाषा मे लिखे गए है, उसकी मीमासा करना सुगम नही है। सच्चा साधक ही इसका अर्थ ठीक-ठीक लगा सकता है। किन्तु साधक प्राय: चुप रहना पसद करते हैं। "इसके साथ यह भी पूर्णतया सत्य है कि तात्रिक उपासना की आड मे मद्य-मैथुन के सेवन का अवसर मिलता है और अनेक साधक इसी प्रलोभन मे पडकर न केवल

भोग-विलास में लिप्त होकर रह जाते है, बल्कि शाक्तमत जैसे सरल और सुगम साधन-मार्ग को भी हास्यास्पद बना देते है।''[1]

कतिपय वर्ष हुए, कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सर जॉन ऊडरफ ने आर्थर एवेलन के उपनाम से अंग्रेजी मे अनेक उपयोगी ग्रथो का प्रणयन किया। तब से अंग्रेजी-शिक्षित हिन्दुओ का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ और उनकी भावनाओ मे परिवर्तन होने लगा। अगमानुसधान-समिति (कलकत्ता) का बृहत्कार्य इस दिशा मे विशेष श्लाघनीय है। भूम्बिका और कामाख्या इसके प्रधान पीठ हैं। बहुचराजी के विशाल मदिर मे केवल बाला-यंत्र स्थापित है। केरल मे प्रतिमाओ के अतिरिक्त यत्र की भी पूजा होती है।

भारत के अन्य देवी-देवता

ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति का सम्मिलित रूप दत्तात्रेय हैं। विसर और गिरनार पर्वत पर बने इनके विख्यात मंदिर हैं। गिरनार पर्वत पर बने मदिर मे मूर्ति के बदले दत्तात्रेय की चरण-पादुका है।

विष्णु और शिव परब्रह्म के दो प्रमुख रूप माने गए हैं। अतः इन दोनो की सम्मिलित कल्पना हरिहर मे की गई है। इस तरह की मूर्ति भारत में यत्र तत्र पाई जाती है। इनमे बदराना (झालावाड, राजस्थान) और हरिहर (मैसूर) के मदिर प्रसिद्ध हैं। मूर्ति का दाहिना भाग शिव-रूप है। इस ओर के मस्तक के भाग मे रुद्राक्ष की माला और ऊपर के हाथ मे त्रिशूल है। बायाँ भाग विष्णु का है और ऊपर के हाथ मे चक्रसुदर्शन है तथा नीचे का हाथ अभय-दान मुद्रा प्रदर्शित करते दीखता है।

भगवान के अवतार नृसिंह की मूर्तियाँ जगह-जगह स्थापित पाई जाती हैं, जिनमे मुख्य वागेश्वर (नारनौल स्टेशन के समीप), षोडश-भुजी कोल-नृसिंह (बगलोर-पूना मार्ग), अहोबिल (मद्रास-रायचूर रेल-पथ), सिंहाचलम् (हावडा-मद्रास मार्ग) और पन्ना नृसिंह (विजयवाडा से ७ मील) के मदिर है। कहा जाता है कि अहोबिल मे ही हिरण्यकशिपु की राजधानी थी, जहाँ खभे मे नृसिंह भगवान प्रकट हुए। सिंहाचलम् के नृसिंह की मूर्ति बारहो महीने चदन-चर्चित रहती है। वैशाख अक्षय तृतीया को चदन हटाया जाता है और केवल उस दिन ही

1. गणेश : श्री सपूर्णानद, पृ० १९६

भगवान का पूर्ण दर्शन होता है। अक्षय तृतीया के अतिरिक्त भगवान की मूर्ति, चदन के लेप से ढके रहने के कारण, बहुत बडे कुम्भ या गोल चंदन-स्तूप के सदृश दीख पडती है। पन्ना-नृसिह मे भगवान पर शर्बत चढ़ाया जाता है। पूरे मंदिर मे चारो ओर भूमि पर शर्बत फैला रहता है, किन्तु यह बडे ही अचभे की बात है कि मक्खी या चीटी वहाँ दीख नही पडती। क्या यह चमत्कार नहीं? पुजारी शर्बत का आधा भगवान को पिलाकर शेष आधा प्रसाद के रूप में दर्शनार्थी को लौटा देते है। नृसिह का एक अति प्रतिष्ठित मदिर उत्तराखंड के जाशी-मठ मे है।

भगवान के मत्स्य, वराह और कूर्म-अवतार के मदिर छिट-फुट पाए जाते हैं। वराह-रूप मे विष्णु तथा वराही-रूप मे लक्ष्मी के बहुत कम मदिर हैं। त्रिवेन्द्रम् के एक विशाल मदिर मे वराह और लक्ष्मी-रूप मे वराही की मूर्तियाँ साथ-साथ स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त विदिशा मे उदयगिरि-गुफा मे और महाबलिपुरम् मे एक विशाल 'फ्रेस्को' मे वराह के दर्शन होते हैं। सिंहाचलम् तथा धरणीधर (पालनपुर-कडला रेल-पथ) मे भी वराह की मूर्ति स्थापित है।

श्रीकाकुलम रोड स्टेशन के निकट श्रीकूर्मम् मे भगवान कूर्म की मूर्ति उल्लेखनीय है।

परशुराम

भगवान के सातवे अवतार परशुराम की भी यत्र-तत्र मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमे त्रिवेन्द्रम्, परशुराम-क्षेत्र ओर धावडसी के मंदिर उल्लेखनीय हैं। धावडसी बगलोर-पूना रेल-पथ के सतारा रोड स्टेशन के पास है। यहाँ बजेन्द्र स्वामी नामक एक विख्यात सत निवास करते थे। वे परशुराम के भक्त थे। उनकी समाधि के पास परशुराम की मूर्ति स्थापित है। परशुराम-क्षेत्र रत्नागिरि जिले के चिपलून तालुके मे है। गाँव के मध्य मे परशुराम जी का भव्य मदिर है। वैसाख की अक्षय-तृतीया को यहाँ परशुराम-जयती समारोह के साथ मनाई जाती है।

नर-नारायण

बडौदा के प्रतापनगर स्टेशन से रेलगाडी डभोई जाती है। वहाँ नर-नारायण की मूर्ति है। बडताल (काठियावाड) मे भी नर-नारायण की मूर्ति है। नर-नारायण ने बदरिकाश्रम मे कठोर तपस्या की थी, परन्तु आश्चर्य है कि

वहाँ पर उनके नाम का न कोई मंदिर है और न कोई मूर्ति ही। किन्तु बदरीनाथ-धाम के मार्ग पर जोशी-मठ में नर-नारायण की मूर्ति है।

पक्षी-तीर्थ

मद्रास-रामेश्वरम् रेल-मार्ग पर चेगलपेट स्टेशन के निकट प्रसिद्ध पक्षी-तीर्थ है। यहाँ का वेदगिरि नामक पर्वत तीर्थ-स्वरूप माना जाता है। पर्वत की समतल भूमि के पास एक लंबी ऊँची शिला है। उसके एक किनारे पर यह कुंड है, जिसे गिद्ध-तीर्थ कहते हैं। एक पुजारी वहाँ दस बजे सुबह आता है और कटोरी एव तश्तरी पटक-पटक कर बार-बार संकेत करता है। थोडी ही देर मे दो पक्षी, कभी साथ-साथ और कभी एक के पीछे दूसरे आते हैं। वे एक बार पुजारी के हाथ से और दूसरी बार कटोरी मे मुँह डालकर प्रसाद ग्रहण करते हैं। तत्पश्चात् पानी पीकर उड जाते हैं। आकार मे वे चील से कुछ बडे होते हैं। लोगो का विश्वास है कि वे मुनियो के अवतार हैं। अतः भावुक दर्शनार्थी उनका जूठा शेष प्रसाद ग्रहण करते हैं। कुछ लोग शका करते हैं कि वे पालतू पक्षी हैं और ये सब क्रियाएँ पुजारी का पाखंड हैं।

कालभैरव

कालभैरव की मूर्तियाँ भी जगह-जगह मिलती हैं। इनमे सोंदे (बबई-रायचूर रेल-पथ के जेऊर स्टेशन के समीप), जोधपुर के कापरडा, बादीकुई स्टेशन के निकट मेहदीपुरघाटा, बीकानेर जिले के कोडमदेश्वर और बुंदी के पास लोयचा मे कालभैरव के मदिर हैं। इनमे कापरडा का मंदिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। भैरव की इधर बहुत मान्यता है।

विश्वकर्मा

रतलाम से १९ मील दूर दक्षिण मे रूनीजा ग्राम में विश्वकर्मा का मदिर है। लोहार और बढ़ई इसे पवित्र क्षेत्र मानते हैं। यहाँ पर चैत्र-शुक्ल तृतीया को मेला लगता है।

देवताओ के अतिरिक्त अनेक संतों के भी स्वतत्र मंदिर हैं और कहीं-कही किसी देवता के मदिर में प्रतिष्ठित उनकी मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें उल्लेखनीय हैं—(१) शंकराचार्य : (क) बगलोर मे श्रृंगेरी, (ख) केदारनाथ, जहाँ उन्होंने ने कैवल्य प्राप्त किया था और (ग) हरिद्वार से लगभग १७ मील दूर लक्ष्मण-झूला के पास गंगा के किनारे एक मंदिर में शकराचार्य के साथ चारों मठो के

आदि अधिष्ठाताओ की मूर्तियाँ हैं। (२) **रामानुजाचार्य :** त्रिवेल्लोर स्टेशन से ११ मील दक्षिण भूतपुरी नामक बस्ती है, जिसका स्थानीय नाम पेरुम्बुदूर है। वहो श्री रामानुजाचार्य ने जन्म लिया था। अनंत सरोवर के समीप एक विशाल मदिर मे आपकी भव्य मूर्ति विराजमान है। (३) **चैतन्य महाप्रभु** : नवद्वीप धाम और वृदावन के मंदिरो मे आपकी मूर्ति स्थापित है। (४) **गोरखनाथ :** गोरखपुर का मुख्य मदिर इन्ही योगिराज का है। यही जगह उनकी मुख्य तप स्थली तथा गद्दी की थी। उनके चार प्रधान मठ है—गोरखपुर, जूनागढ, पेशावर और भडगनाथ (दक्षिण भारत)। हरिद्वार मे हाल ही मे गोरखनाथ का एक भव्य मदिर सगमरमर का बना है। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का दर्शनीय मदिर अमरकटक मे है।

(५) **नारद**—तुलजा भवानी महाराष्ट्र की कुल-स्वामिनी है। यह स्थान शोलापुर से २४ मील दूर है। यही पर नारद की एक सुन्दर मूर्ति है।

(६) **कपिल मुनि**—साख्यशास्त्र के प्रणेता कपिल मुनि का मदिर बीकानेर जिले के कोकलायतजी मे एक बहुत बडे सरोवर के तट पर है। यह बहुत ही प्रतिष्ठित मदिर है। यही पर कपिल मुनि का आश्रम था। यह राजस्थान के प्रसिद्ध तीर्थों मे से एक है।

धर्मारण्य-क्षेत्र का केन्द्र सिद्धपुर है। जैसे पितृ-श्राद्ध के लिए गया प्रसिद्ध है, वसे ही मातृ-श्राद्ध के लिए सिद्धपुर प्रसिद्ध है। यहाँ पर महर्षि कर्दम का का आश्रम था और यही पर भगवान कपिल का अवतार हुआ था। यहाँ बिन्दु-सरोवर के दक्षिण-किनारे छोटे मदिरो मे महर्षि कर्दम, उनकी पत्नी देहुती तथा कपिल मुनि की मूर्तियाँ हे।

(७) काचीगुडा-मनमाड रेल-मार्ग पर परभनी से १७ मील दूर मानवत रोड स्टेशन है। यहाँ से २० मील पर मुद्गल-तीर्थ है। गोदावरी नदी के मध्य मे मुद्गल ऋषि का मदिर है।

(८) वाडी-विजयवाडा रेल-पथ पर वाडी से ७० मील की दूरी पर विकारावार स्टेशन है। वहाँ से ५ मील पर अनतगिरि पवत है। यह मार्कण्डेय ऋषि की तपोभूमि है। एक मदिर मे मार्कण्डेय जी की मूर्ति स्थापित है।

(९) राजस्थान मे दो नारियाँ आज देवी के रूप मे परम पूजित हैं : (१) करणी देवी ओर (२) रानी सती। इनकी कथा इस प्रकार है—

करणी देवी—बीकानेर से मारवाड़ जंक्शन आनेवाले रेल-मार्ग पर बीकानेर से २० मील दूर देशनोक स्टेशन है। इसी स्टेशन के निकट करणी देवी का मंदिर है। करीब ५०० वर्ष पूर्व जोधपुर के सुआप गाँव मे मेहोजी नामक एक देवीभक्त थे। हिंगलाज (बलूचिस्तान) की देवी की इन्होंने आराधना की। मेहोजी की भक्ति से प्रसन्न होकर देवी ने दर्शन दिया। मेहोजी ने वर माँगा कि 'मेरा नाम चले'। देवी ने 'एवमस्तु' कह दिया। मेहोजी की सप्तम पुत्री के रूप मे देवी का जन्म हुआ। नवजात शिशु ने प्रसूति-गृह मे ही अपनी माता को चतुर्भुज रूप मे दर्शन दिया। बचपन से ही करणी नामक इस बालिका ने अनेक चमत्कार दिखलाए। इन्ही के आशीर्वाद से बीकानेर-राज्य की स्थापना हुई। अतः बीकानेर-राजवश की यह कुलदेवी हुई। इनके नाम पर एक विशाल मदिर का निर्माण हुआ, जिसके अन्त पुर मे एक स्वर्ण सिंहासन पर आप विराजमान हैं।

रानी सती—सवाई माधोपुर से लुहारु तक जानेवाले रेल-मार्ग पर जयपुर से १०७ मील दूर झुनझूनू स्टेशन है। राजस्थान का यह एक सुन्दर नगर है। नगर से बाहर रानी सती का मदिर है, जो राजस्थान मे बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ बारह सतियाँ हुई थी—(१) सीता सती, (२) आदि सती, (३) मनोहरी सती, (४) मनभावनी सती, (५) जमुना सती, (६) ज्ञानी सती, (७) पूरा सती, (८) पिरागी (प्रयागी) सती, (९) उलमेला सती, (१०) टीली सती, (११) बाली सती और (१२) गुजरी सती। इन सतियो के भी स्थान यहाँ बने हैं। रानी सती को जगदबा का ही स्वरूप मानकर उनकी अर्चना-पूजा होती है।

रानी सती का नाम नारायणबाई था। उनके श्वसुर सेठ जालीराम अग्रवाल पहले हिसार मे रहते थे; किन्तु वहाँ के नवाब से मतभेद हो जाने के कारण ये झुनझूनू चले आए। इनके पुत्र का विवाह नारायणबाई से हुआ था। द्विरागमन कराकर जब इनके पति तनधनदास लौट रहे थे तब बन में हिसार के नवाब की सेना ने इनपर अचानक आक्रमण कर दिया। युद्ध में तनधनदास मारे गए, किन्तु नवविवाहिता नारायणबाई घबराई नही और उसने शस्त्र ग्रहण कर लिया और शत्रु दल पर टूट पडी। नारायणबाई दुर्गा के रूप मे दीख रही थी। उसके तेज के सामने शत्रु ठहर न सके और अन्त में

उनके पाँव उखड़ गए। पर नारायणबाई पति-वियोग सह न सकी और वहीं पति-देह के साथ वह सती हो गई। सती के आज्ञानुसार ही उसका चिताभस्म झुनझुनू लाया गया और जिस स्थान पर भस्म लानेवाला घोड़ा रुका था, वहीं पर सती का मंदिर स्थापित हुआ।

रानी सती के मंदिर राजस्थान मे स्थान-स्थान पर हैं। बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर नगर के सिकन्दरपुर मैदान मे छोटी गण्डकी नदी के दक्षिणी तट पर उन्ही के नाम पर एक छोटा, किन्तु बडा ही सुन्दर मंदिर बना है। इधर कई वर्षों से यह धार्मिक तथा सास्कृतिक चर्चाओ का केन्द्र बन गया है। हाल ही मे मुजफ्फरपुर से ३६ मील दूर उत्तर मे जगज्जननी सीताजी की जन्मभूमि सीतामढ़ी शहर मे भी जालान-वंशीय मारवाडियो ने अपनी इस कुलदेवी रानी सती की मूर्ति एक छोटे-से मंदिर मे स्थापित की है।

(१०) स्वामी नारायण-सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी सहजानंद जी की मूर्ति गढ़पुर (सुरेन्द्रनगर-भावनगर रेल-मार्ग) मे स्थापित है। इस मत के संस्थापक यहाँ बहुत समय तक रहे थे, किन्तु बडताल स्वामी नारायण-सम्प्रदाय का मुख्य तीर्थ है। यहाँ स्वामी नारायण का विशाल मंदिर है। मंदिर में ही स्वामी नारायण द्वारा स्थापित लक्ष्मीनारायण की युगल-मूर्ति है। यह स्थान आणंद स्टेशन के पास ही है।

दिव्यधाम मंत्रालय

मंत्रालय दक्षिण-भारत का एक ऐसा पुण्य-क्षेत्र है, जिसके भक्तिपूर्ण प्रशान्त वातावरण के दर्शन-मात्र से मन की मलिनता दूर हो जाती है, जहाँ अध्यात्म-शक्ति को पहचान जाने पर नास्तिकता घुटने टेक देती है और जहाँ की देवी-लीलाओ को जानने पर विज्ञान (Science) गूंगा रह जाता है। मंत्रालय आंध्रप्रदेश के कर्नूल जिले मे स्थित आदोनी तालुके का एक दिव्य क्षेत्र है। यह मद्रास-बबई के मुख्य रेल-मार्ग पर स्थित मंत्रालय रोड स्टेशन से ६ मील की दूरी पर है।

मंत्रालय-क्षेत्र का महत्त्व माध्व-सम्प्रदाय के महान् संत श्री राघवेन्द्र स्वामी के कारण है। मंत्रालय का इतिहास बताता है कि जिस किसी ने भी भक्ति-पूर्वक इस क्षेत्र मे रहकर राघवेन्द्र स्वामी की स्तुति एवं सेवा की, वह रिक्त हाथों और खिन्न मन से कभी न लौटा।

शक-संवत् १५९२ के श्रावण मास की द्वितीया (कृष्ण पक्ष) के दिन स्वामी जी ने पूर्व निर्मित अपने वृंदावन मे प्रवेश किया, अर्थात् समाधिस्थ हुए। समाधि मे प्रवेश के पूर्व उन्होने हाथ मे जयमाला ले ली थी और पूर्वाभिमुख होकर, श्वास-निरोध कर वेदघोष करना प्रारभ किया और अत मे सूचित किया कि वे ७०० वर्षों तक योगबल से भक्तो पर कृपा करते रहेगे।

२ अक्टूबर, १९६७ को वेनेजुएला (दक्षिणी अमेरिका) की एक महिला मंत्रालय-तीर्थ मे आने पर ऐसी प्रभावित हुई कि अमेरिका लौटने पर उसने अपने एक मित्र को लिखा कि 'मैने विश्व के अनेक धार्मिक स्थलो के दर्शन किए, पर मत्रालय मे मुझे जो आत्म-सुख मिला, वह अन्यत्र मैं कही न पा सकी।'

मंत्रालय मे न केवल राघवेन्द्र स्वामी जी का वृन्दावन है, अपितु वहाँ मुख्य प्राण (वायुदेव) का मदिर है। इस तीर्थ-स्थल मे हमेशा यात्रियों की भीड़ लगी रहती है। उनके ठहरने तथा भोजन की व्यवस्था भी नि शुल्क की जाती है। इन सभी सुविधाओ के कारण मत्रालय और भी लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध तीर्थ-क्षेत्र बन गया है। यहाँ पर राघवेन्द्र स्वामी जी की पुण्य समाधि-तिथि श्रावण-कृष्ण द्वितीया को मनाई जाती है और उस अवसर पर प्रतिवर्ष तीन दिनो तक विशेष रूप से उत्सव-समारोह होता है। इसमे सम्मिलित होने के लिए देश के कोने-कोने से हजारो भक्तजन आते हैं।

नागूर-आंडवन का अद्भुत मदिर

यह मदिर भी है, और मस्जिद भी। यहाँ आपको 'ओम् नमः शिवाय नारायणाय नमः ओम्' की मत्र-ध्वनि भी सुनाई देगी और "बिस्मिल्लाह-रहमान-इर्रहीम ला-इलाही इल्लिल्लाह" का पवित्र पाठ भी आपके कानो मे गूँजेगा।

यह विलक्षण मदिर-मस्जिद दक्षिण-भारत के दक्षिणी छोर पर स्थित नाग-ट्टिणम् बंदरगाह से छह मील दूर नागूर मे स्थित है और नागूर आडवन के नाम से प्रसिद्ध है। 'आडवन, तमिल का शब्द है, जिसका अर्थ है भगवान।

मद्रास शहर से एग्मूर स्टेशन से रेल द्वारा नागूर पहुँचा जा सकता है। हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों के भक्तजन 'नागूर-आंडवन' की मनौती मानते

हैं और दर्शनार्थ वहाँ जाते है। शुक्रवार के दिन वहाँ विशेष भीड़ रहती हैं। प्रायः सभी दर्शनार्थी वहाँ मुडन कराते है।

इस मदिर-मस्जिद के सात फाटक हैं। वे इस बात के प्रतीक माने जाते है कि अगर कोई व्यक्ति काम, क्रोध, द्वेष, लोभ, बीमारी, बुढापा और असत्य नामक सात द्वारो को पार कर ले, तो उसे भगवान के दर्शन होगे।

दर्शनार्थियो मे रोगियो की सख्या काफी होती है। भक्तो का यह विश्वास है कि नागूर-आडवन की कृपा से असाध्य रोग भी दूर हो जाते हैं। भक्तो की तो यह भी आस्था है कि आडवन के सान्निध्य मे जिस किसी भी इष्टदेव की उपासना सच्चे हृदय से की जाए, भगवान उसी रूप मे दर्शन देते हैं।

नागूर-आडवन हिन्दुत्व और इस्लाम का ही नही, उत्तर और दक्षिण-भारत को भी जोडनेवाली कडी है।

कला की कसौटी पर चाहे यह मदिर-मस्जिद भले ही खरी न उतरे, परन्तु भारत की धार्मिक एकता का अनुपम प्रमाण है।

—माणकचन्द नाहर ('नवनीत' से साभार)

नदियाँ

भारत की कुछ नदियाँ देवताओ के रूप मे पूजित हैं। भारतीय एकता के प्रबल समर्थक हमारे धर्माधिकारियो ने और सस्कृत के उच्चकोटि के कवियो ने जिन नदियो को एक श्लोक मे बद्ध कर दिया है और अपने पूजा-जल मे जिन सरिताओ के जल की सन्निधि की माँग की है, उनके नाम हैं—

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे, सिन्धु, कावेरी; जले स्मिन सन्निधि कुरु॥

इस प्रकार इस श्लोक मे (१) गगा, (२) यमुना, (३) सरस्वती, (४) गोदावरी, (५) नर्मदा, (६) सिन्धु और (७) कावेरी का महत्त्व दिखाया गया है। किन्तु आज सरस्वती लुप्त हो गई है और सिन्धु पाकिस्तान में चली गई है। पुराण-काल मे सरस्वती और सिन्धु के स्थान मे सरयू और कृष्णा की मर्यादा बहुत बढ़ गई। हरिद्वार और भरतपुर मे गगा-मदिर, यमुनोत्री का यमुना-मंदिर और बाटानगर मे कृष्णा नदी का मदिर बहुत प्रसिद्ध हैं। हरिद्वार मे गंगा के

जल तथा प्रयाग मे गंगा-यमुना के संगम के जल मे मृत व्यक्तियों का अस्थि-प्रवाह मोक्ष-प्रदायक समझा जाता है। पंडित जवाहरलाल, नेहरू जो किसी हद तक वैज्ञानिक युग के तर्क से प्रभावित थे तथा धार्मिक अंधविश्वासो मे जिनकी आस्था बिलकुल ही नही थी, वे भी गंगा से प्रेम रखते थे। अपने वसीयतनामे मे उन्होंने यह इच्छा प्रकट की थी कि उनके अस्थि-भस्म का कुछ हिस्सा भारत की शस्यश्यामला धरती पर बिखेर दिया जाए और कुछ गंगा के पुनीत जल में प्रवाहित कर दिया जाए।

गंगा नदी की महिमा पुरातनकाल से चली आती है। हिन्दुओ मे सभी श्रेणी के लोग इसके प्रति अपूर्व श्रद्धा रखते हैं और कवि से लेकर साधारणजन इसे माँ के रूप मे देखते हैं। आरंभिक काल से ही इसकी तटवर्ती भूमि साधु-संतों की तपोभूमि रही है। इसके जल मे अमृत का गुण समझा जाता है। ऐसा विश्वास है कि मरणोन्मुख व्यक्तियो के मुख मे इसका जल डालने से मृत्यु-कष्ट से ही नही, बल्कि अन्य पापो से भी उन्हें मुक्ति मिल जाती है। यह तो निर्विवाद है कि इसका जल चाहे कितने दिनो तक किसी बर्तन मे क्यो न रखा छोड़ दिया जाए, उसमे कीड़े नहीं उत्पन्न होते, जबकि संसार की अन्य नदियो के जल मे, जब वह आदि-स्रोत से पृथक कर किसी छोटे-से पात्र मे बंद कर दिया जाता है, कीड़े पैदा हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त भारत के जितने भी मोक्ष-दायक नगर हैं, सभी गंगा के किनारे बसे हुए हैं, जिनमे हरिद्वार, ऋषिकेश, प्रयाग तथा काशी प्रमुख है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद तो नदियो का महत्त्व और भी बढ़ गया है। सौभाग्य से भारतवर्ष मे अन्य देशो की तुलना मे नदियो की बहुतायत है। देश को शक्ति-संपन्न तथा समृद्ध बनाने मे नदियो की शक्ति का उपयोग जोरों से हो रहा है। इस प्रयास को नदी-घाटी-योजना की संज्ञा दी गई है। इन नदियो से न केवल बड़ी तथा छोटी नहरें निकालकर कृषको को खेत सींचने के लिए जल पहुँचाया जा रहा है, बल्कि इनमे ऊँचे-ऊँचे बाँध बाँधकर इनकी जल-शक्ति से पैदा की गई बिजली नगर-नगर तथा गाँव-गाँव में पहुँचाकर अनेक छोटे-बड़े उद्योग खड़े किए जा रहे हैं। इनके जल तथा मिट्टी से खेतो की उर्वरा-शक्ति बढ़ती है और ये खाद्यान्न की समस्या को मछलियाँ देकर बहुत हद तक हल करती हैं। हो सकता है, भविष्य में इन

नदियो की उपयोगिता भारतवासियो के लिए और अधिक हो जाए। इस समय देश मे परिवहन (ट्रान्सपोर्ट) की समस्या विकराल रूप धारण करती जा रही है। सड़कें, रेल-मार्ग तथा हवाई-मार्ग इसके लिए पर्याप्त नही सिद्ध हो रहे हैं। सड़कें तथा रेल-मार्ग बनाना न केवल अधिक महँगा पड रहा है, बल्कि इससे खेती के काम में आने योग्य भूमि का भी व्यर्थ अपव्यय होता है। इसलिए यहाँ सोचा जा रहा है कि नदियाँ इतनी गहरी कर दी जाएँ, जिससे बडी-बडी स्टीमरें उनसे होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुगमतापूर्वक आ-जा सकें। भारतीय जन-जीवन में यह भावना बहुत गहराई तक घर कर गई है कि जो कुछ भी उनके जीवन में उपयोगी सिद्ध हुआ है, उसके प्रति वे अपनी कृतज्ञता उसे देवी या देवता की संज्ञा देकर व्यक्त करते हैं। यह परपरागत सस्कार है।

केरल-प्रदेश की कुछ विशेषताएँ

केरल मे देवी-देवता प्राय वे ही हैं, जिन्हे हम देश के दूसरे भागो मे पाते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देवी-देवता भी हैं, जिनकी उपासना की वहाँ विशेष प्रधानता है। इनमे सबसे प्रमुख 'शास्ता' है। शिव तथा मोहिनी-रूप विष्णु के सयोग के फलस्वरूप इस देवता के जन्म की सामान्य धारणा होने के कारण इसे 'हरिहर-पुत्र' कहा जाता है। अन्य देवताओ के समान इस देवता की उपासना के संबध मे केरल के तंत्र के प्रामाणिक ग्रथो मे अनुष्ठान-पद्धतियाँ निर्धारित की गई हैं। शास्ता की उपासना तमिलनाडु मे भी होती है। इसी प्रकार 'शकर-नारायण' भी है, जिनकी कल्पना अर्ध-शिव तथा अर्ध-विष्णु के रूप मे की गई है। इनके बहुत-से मदिर पाए जाते है और इनकी पूजा का विस्तृत वर्णन सामान्य धर्म-ग्रथो मे है। एक और देवता है—किरात-मूर्ति। ये मलयालम मे 'वेट्टकोरूमकम' कहलाते हैं। इनकी पूजा केरल तक ही सीमित है। इस देवता को शिव-पार्वती का पुत्र माना गया है। देवियो मे रुरुजित है, जो अपनी आकृति मे दुर्गा है। इनकी पूजा का विस्तृत वर्णन केरल के तन्त्र-ग्रंथों में है।

आर्यों की संस्कृति तथा उनके साहित्य से यदि कोई राज्य सबसे अधिक प्रभावित हुआ है, तो वह है केरल। फिर भी केरलवासियो को अपनी द्रविड़-परंपरा तथा सचाई पर आधारित तमिल-संस्कृति पर गर्व है।

धार्मिक इतिहासकार एकमत हैं कि आदि मनि वासियो की धार्मिक चेतना प्रतीक-पूजा तथा सर्वचेतनवाद पर आधारित थी। बंदर, साँप, गरुड, मछली आदि जन्तुओं तथा वृक्षों की पूजा होती थी। केरल का अति प्राचीन समाज पुजारियों के नियंत्रण मे नहीं था। अतः उपासना-प्रणाली भक्त की इच्छा पर निर्भर रहती थी। स्वार्थ से प्रेरित उपासकों को जो सहायक मालूम पडते, वे ही आराध्य बन जाते थे। मुरुगन (सब्रह्मण्य), मायोन (विष्णु), इन्द्र, कोरवै (काली), शिव, अय्यपन, चातन आदि आराध्यो की श्रेणी मे आ सके। धीरे-धीरे भक्ति-परक साहित्य मे नाग, मछली, बंदर आदि जन्तुओ, वृक्षो तथा पत्थरो का देवी-देवताओ से निकट-संबंध स्थापित किया गया।

ऐसे तो उत्तर-बिहार में नाग-पंचमी (श्रावण-शुक्ल पंचमी) कुछ लोग मनाते हैं, किन्तु यह प्रथा शनैः-शनैः लुप्त हो रही है। किन्तु दक्षिण-भारत और विशेषकर केरल मे सर्प-पूजा का प्रमुख स्थान है। केरल में सर्प-पूजा की परपरा की मूल कथा दक्षिण-भारत मे आर्यों के प्रवास के साथ जुडी हुई है। पौराणिक कथाओं के अनुसार ब्राह्मण संत-योद्धा परशुराम क्षत्रियों पर विजय प्राप्त करने के बाद दक्षिण चले गए। वहाँ उन्होने महासागर में से गोआ के दक्षिण में गोकरणम् से लेकर कन्याकुमारी तक फैली भूमि को एक नई सृष्टि की। वही भूखंड केरल कहलाया। तब परशुराम ने उसे चौसठ नबूदिरि ब्राह्मण-परिवारों को दान कर दिया। किन्तु वहाँ बसनेवालों को पीने योग्य पानी का अभाव खटका; क्योंकि पानी खारा था। इसपर परशुराम ने परमेश्वर का ध्यान किया और प्रार्थना की कि जल को शुद्ध और पेय बना दिया जाए। भगवान ने परशुराम से सर्पराज वासुकि की आराधना करने को कहा। परशुराम ने वासुकि को प्रसन्न करने के लिए कठिन तप किया। इसपर वासुकि ने प्रसन्न होकर केरल के जल को तो शुद्ध कर दिया, लेकिन बदले मे सर्पों के लिए ऐसे शरण-स्थलों की माँग की, जहाँ वे निरापद रह सकें। वासुकि ने परशुराम से वचन ले लिया कि उनके भक्त और अनुचर उन स्थलो का कभी अतिक्रमण नहीं करेंगे और उनमे रहनेवाले सर्पों को कभी और किसी तरह की हानि नहीं पहुँचाएँगे। परशुराम ने आश्वासन दिया कि केरल में सर्पों की पूजा और रक्षा की जाएगी। जिस स्थल पर परशुराम ने तपस्या की थी, वहाँ उन्होंने सर्प-विहार बनवाया और सर्पों के राजा और रानी—नागराज और नागलक्ष्मी—का मंदिर स्थापित किया।

एक समय भयकर आग लगी। स्त्रियाँ सर्प-विहार को उस समय तक सींचती रही जबतक धरती शीतल नही हो गई। सर्प अपने रक्षको से, विशेषकर स्त्रियो मे, बहुत प्रसन्न हुए। इनको अनवरत वश-वेल और चिरस्थायी सपदा का वर दिया।

कोचीन जानेवाले राजमार्ग से कुछ दूर हटकर त्रिवेन्द्रम से लगभग पैंतालीस मील उत्तर एक छोटे-से शातिपूर्ण गाँव मे सर्प-विहार (मन्नारशाला) अब तक है। आज भी प्राचीन नबूदिरि-वश का परिवार वहाँ रहता है और मन्नारशाला की देखरेख करने की परपरा का पालन करता है। इन दिनो भी वहाँ प्रतिवर्ष 'अयाल्यम-पूजा' की जाती है और श्रद्धालु यात्रियो का ताँता बँध जाता है। परिवार की ज्येष्ठ कन्या, जिसपर पौरोहित्य का भार होता है, प्रतिदिन सर्पों को अपने हाथ मे हल्दी मिश्रित-चावल के आटे की खीर अर्पित करती है। सर्पो को खीर खाते तो स्यात् किसी ने देखा हो, पर यह तो नित्य का क्रम है कि निश्चित एवं सुरक्षित स्थान पर रखे गए खीर से भरे पीतल के पात्र दूसरे दिन सवेरे खाली मिलते हैं।

यह सच है कि केरल और उसके निकटवर्ती प्रदेशो मे सर्प बहुतायत सख्या मे पाए जाते है। कहा जाता है कि आजतक मन्नारशाला के पुरोहित-वश का कोई व्यक्ति सर्प-दश से नही मरा। असख्य नर-नारी आज भी इस सर्प-विहार की यात्रा करते है। भेंट-पूजा मे चढ़ाई हुई सामग्री यो ही खुले मे पडी रहती है, पर बिना अनुमति के कोई उसमे से एक तिनका भी उठाने का साहस नही कर सकता। कहते हैं कि यदि कोई ऐसा अपराध कर बैठे तो उसे ऐसा महसूस होने लगता है कि उसके सारे शरीर पर साँप रेंग रहे हैं और उसके लिए कोई कार्य करना असभव हो जाता है।

केरल मे नबूदिरि ब्राह्मणो का एक प्राचीन-परिवार सतान के लिए की जानेवाली विशेष पूजा का पौरोहित्य भी करता है।

केरल मे हर जगह बहुत तरह के साँप होते हैं, अजगर से लेकर साधारण चेरा साँप तक, जो घरो के अदर पाए जाते है। साँप के काटने का आयुर्वेदिक उपचार करनेवाले तीन सौ से अधिक विष-वैद्य' केरल मे हैं। गाँव के लोग पुराने संस्कारो के कारण विष-वैद्यों पर ही अधिक भरोसा करते हैं। विष-वैद्यों

तक उनकी पहुँच सुगम भी होती है। इन विशेषज्ञों को राज्य-सरकार के आयुर्वेद-विभाग की ओर से अनुदान भी मिलता है। विष को दूर करनेवाले इस अति प्राचीन उपचार मे बहुत प्रवीणता प्राप्त की जा चुकी है। यदि इसका वैज्ञानिक अध्ययन और शोध किया जाए और दुर्लभ जडी-बूटियो की औषधियों के रहस्य की खोज की जाए तो संसार का कल्याण होगा।

दुर्योधन तथा रावण के मंदिर और उनकी पूजा

महाभारत के नायको अर्थात् पाडवो को सभी वन्दनीय मानते हैं, किन्तु हमारे देश में एक भू-भाग ऐसा भी है, जहाँ पाडवो की निन्दा तथा दुष्ट प्रकृतिवाले कौरवो की पूजा होती है। उत्तराखंड के अन्तर्गत एक लघु भू-भाग मे पाडवो का घोर तिरस्कार किया जाता है और उन्हे शत्रु समझा जाता है तथा इसके विपरीत दुर्योधन को कुलदेवता की तरह पूजित किया जाता है। टेहरी-गढवाल और हिमाचल-प्रदेश की प्राकृतिक सीमा बनाती हुई एक विशाल उपत्यका है, जिसे राम-द्वार घाटी कहते हैं। अपने नाम के ही अनुरूप यह घाटी अत्यन्त दुर्गम है और यहाँ पहुँचना अत्यधिक कष्टसाध्य है। इसी घाटी के निचले भाग मे टाँस नदी प्रवाहित होती है। टाँस नदी आगे चलकर देहरादून के समीप कालसी मे यमुना मे मिल जाती है। इसी नदी की घाटी मे अल्प आबादी के लगभग दो दर्जन गाँव हैं। इन्ही गाँवो मे दुर्योधन को आराध्य इष्टदेव माना जाता है और उनके पक्के मंदिर बने हुए हैं, जहाँ विशेष अवसरो पर दुर्योधन की विधिवत् पूजा आयोजित होती है। एक गाँववाले मूर्ति को सुसज्जित पालकी मे बैठाकर गाजे-बाजे के साथ नृत्य और गान करते हुए दूसरे गाँव ले जाते हैं। दूसरे गाँववाले उसे उसी भाँति आगे के गाँव मे पहुँचा देते हैं। यह क्रम चलता रहता है। निर्धारित गाँव मे पहुँचने पर लोग मूर्ति का विशेष रूप से पूजन तथा सामूहिक रूप से नृत्य और गायन करते हैं।

इसी तरह बस्तर के गोडो की एक बडी शाखा रावण की पूजा करती है। (विस्तृत विवरण के लिए देखिए 'धर्मयुग', ३ अक्टूबर, १९६५ ई०)

हम ऊपर कह आए हैं कि आदिम-निवासियो की धार्मिक चेतना प्रतीक-पूजा एवं सर्वचेतनवाद पर आधारित है। बंदर, साँप, गरुड, मछली आदि जीव-जन्तुओं तथा वृक्षो की वे पूजा करते हैं। मानव-मन में वे प्रतीक भय अथवा आश्चर्य पैदा करने में आदिम-काल में सफल हुए। बिना आयुध के

आदिमानव का सिर इनके सामने भय अथवा श्रद्धा से झुक गया और उन्होंने अपने अविकसित मस्तिष्क से उनके पूजन का विधान प्रस्तुत किया। उन्हें यह भी विश्वास होने लगा था कि वृक्षों पर नाना प्रकार के प्रेत निवास करते हैं। अतः पितृ-पूजा, लिंग के प्रति श्रद्धा, नाग-पूजा, वृक्ष-पूजा, जीव-बलि नर-बलि तथा भूतावशेष से आराध्यों से सपर्क रखने की प्रथा आदि तो समझ में आती हैं, किन्तु महान आततायी राक्षस रावण तथा अत्यन्त दुराचारी दुर्योधन की पूजा की प्रथा का कारण अगम्य-सा ज्ञात होता है। अधिक-से अधिक यही हो सकता है कि इन दो समाज-विरोधी आत्माओ की पूजा उनके अवशिष्ट अनन्य अनुचर करते हो और अपने को सारे मानव-समाज से बचाकर दुर्गम स्थान में जा बसे हों। फिर भी यह अद्भुत तो है ही।



तीसरा परिच्छेद

भारतीय प्रतीक-पूजा का चित्र, मूर्ति एवं स्थापत्य-कला पर प्रभाव

ललित कला का सबंध मनुष्य के मानसिक विकास से है। अतः यह उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना कही जा सकती है। इस कला के अन्तर्गत वास्तुकला, मूर्ति-कला, चित्रकला, सगीत-कला और काव्य-कला सम्मिलित हैं। इन कलाओं का आनंद केवल कलाकारो को ही नही, वरन् इनके उपभोक्ताओ को भी प्राप्त होता है। किसी सुन्दर प्रतिमा के कमनीय कलेवर, सुविशाल नेत्र, क्षीण कटि और अलकारादि यदि दर्शक को विभोर नहीं कर सके तो मूर्तिकार का प्रयत्न निष्फल समझना चाहिए। इसी प्रकार यदि संगीत या काव्य चित्त पर अपेक्षित प्रभाव नही डाल सका, तो सगीतज्ञ या कवि की वाणी त्रुटिपूर्ण समझनी चाहिए।

चित्रकला

उपर्युक्त कलाओ की श्रेष्ठता के क्रम मे विद्वानो में मतभेद रहा है। वात्स्यायन अपने 'काम-सूत्र' नामक ग्रथ मे चित्रकला का तीसरा स्थान देते हैं। परन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे चित्रकला को कलाओ मे सर्वश्रेष्ठ एवं धर्मार्थ-काम-मोक्षादि प्रदायिनी माना गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के ४३वें अध्याय मे चित्रकला की श्रेष्ठता के विषय मे उल्लिखित है कि जिस प्रकार पर्वत-मालाओ मे सुमेरु, पक्षियो मे गरुड और मनुष्यो मे राजा श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार कलाओ मे चित्रकला सर्वश्रेष्ठ और मान्य है।

चतुर चित्रकार मनुष्य के प्रायः सपूर्ण भावो को सजीव बना देने की सामर्थ्य रखता है। सस्कृत-नाटककार भवभूति ने अपने उत्तर-रामचरित नाटक मे लिखा है कि लक्ष्मण द्वारा श्रीराम को उनके जीवन की घटनाओ का जो चरित्र अंकित कर दिखलाया गया, वह इतना सजीव था कि उसे देखकर राम का प्रिया-वियोग पुनः जाग्रत हो उठा और वे सहसा कह उठे—

तदध्यैतस्माद् विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि।
प्रत्यावृत्तः पुनरपि स मे जानकी विप्रयोगः॥

अर्थात्—'हे लक्ष्मण ! इस चित्र को हटा लो। अब मैं इसे अधिक देर तक नही देख सकता। इस चित्र के अवलोकन से मानो सीता का वियोग पुनः लौट आता है।' इसी प्रकार उत्तर-रामचरित मे अन्य कई स्थानो पर बडी रसिकता के साथ चित्रकला के रहस्यो का उद्घाटन किया गया है।

चित्र-लक्षण-ग्रथ मे चित्रकला की उत्पत्ति के सबध मे दो कथाएँ आई हैं। पहली कथा के अत मे राजा भयजित को ब्रह्मा ने आशीर्वाद दिया कि चित्रकला की विद्या द्वारा ससार का बहुत कल्याण होगा और ब्रह्मा के आदेशानुसार विश्वकर्मा ने राजा को चित्रकला की शिक्षा दी। विश्वकर्मा ने देवलोक मे चित्रकला की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया—"विश्व की सृष्टि करने के बाद ब्रह्मा ध्यानावस्थित हुए। उनके ध्यान से विष्णु, महादेव, इन्द्रादि देवता भी दिव्य प्रभाव से सपन्न हो गए। उन लोगो ने अपने-अपने प्रभाव से श्रीसपन्न आकृतियाँ आविर्भूत की। उन आकृतियो ने पृथक-पृथक रूप धारण किया और अलौकिक वस्त्रालकारो से सुशोभित हुई। उन देवताओ के हाथो में उन्ही के अनुरूप अनेक प्रकार के आयुध थे। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उनमे भिन्न-भिन्न गुण भी व्यक्त हुए। देवता लोग अपना-अपना चित्र देखकर बडे प्रसन्न हुए। इसपर ब्रह्मा ने कहा कि ससार के प्राणी इन्ही चित्रो को पूजोपहार देकर कृतकृत्य होगे और देवताओ ने ब्रह्मा की बात मान ली।"[1]

दूसरी कथा विष्णुधर्मोत्तर के प्रथम खंड के १२९वे अध्याय मे आई है, जिसका सार है कि ऋषि नर-नारायण ने तप से भ्रष्ट करने के लिए आई हुई अप्सराओ को लज्जित करने के लिए चित्र द्वारा रूपवती रमणी उर्वशी को उत्पन्न किया और तत्पश्चात् देव-शिल्पी विश्वकर्मा ने चित्र-विद्या की शिक्षा दी।

कहा जाता है कि चित्रकला उतनी ही प्राचीन है, जितना यहाँ का साहित्य। यह तो निर्विवाद रूप मे सिद्ध है कि तीसरी शताब्दी के पूर्व इसकी ख्याति हो चुकी थी, क्योकि वात्स्यायन ने अपने काम-सूत्र मे चौंसठ कलाओ के साथ चित्र-कला का भी उल्लेख किया है।

"चित्र-प्रेम प्रागैतिहासिक काल से हमारे जीवन को ओत-प्रोत करता आ रहा है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता मे, आज से कम-से-कम पाँच हजार पूर्व, विभिन्न

1. **श्रीविष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला** : श्री बदरीनाथ मालवीय, पृ० ५

भांडो पर अनेक प्रकार की ज्यामिति लिखाई मिलती है, जिससे उस युग में हमारे पूर्वजो के जीवन से उसका अत्यन्त गहरा संबंध लक्षित होता है।

"उसके बाद हमारी वैदिक संस्कृति मे चित्रो का प्रेम कम न रहा होगा। उत्तर-वैदिक काल से ईसवी सन् तक और उसके बाद हमारे वाङ्मय मे जो समाज प्रतिबिंबित हुआ है, उसमे सर्वत्र समाज चित्र-विद्या मे निष्णात है। घर-घर मे चित्रावलियाँ थी, प्रत्येक सुसस्कृत नागरिक चित्र की विशेषताओ से परिचित होता और स्वय चित्र अकित करने मे समर्थ होता। उन युगों के चित्रमय अवशेष न जाने कहाँ चले गए? पर इस अभावात्मक साक्ष्य से हमे इस निर्णय पर नही कूद पडना चाहिए कि तब चित्र बनते ही न थे—भविष्य मे होनेवाले शास्त्रीय शोध की हमे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

"इस समय हमे पश्चिमी घाट की पहाडियो मे बिखरी हुई गुफाओ और उनकी चित्रित भित्तियो से ही सतोष करना होगा, जो अबतक प्रकाश मे आई हैं। अनुमानत इनका समय पहली शताब्दी ई० पूर्व से शुरू होता है। इनमे अनेक गुफाओ—जैसे भाजा, पाण्डुलेण, विदिशा, नासिक इत्यादि—मे ऐसे चित्र रहे होगे, जिनके बहुत ही अस्पष्ट अवशेष मिलते हैं। ये अवशेष इतने सूक्ष्म हैं कि इनसे कुछ भी अर्थ नही निकलता। फलत. हमे अपनी खोजो को अजंता तक ही सीमित रखना पडता है।"[1]

वाल्मीकीय रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय चित्रकला अपने उज्ज्वल रूप मे थी। राम के महलो मे भित्ति-चित्रो का उल्लेख है (२।१५।३५)। कैकेयी के कनक-भवन मे तो अलग चित्रगृह बने हुए थे (२०।१०।१३)। उत्तर-रामचरित मे तो उल्लेख है कि सीता को प्रसन्न करने के लिए राम ने अपनी जीवन-लीलाओ के चित्र बनाए थे।

कुछ विद्वानो का मत है कि नर्मदा की घाटी के पाषाण प्रकोष्ठो मे प्राप्त चित्रकला लगभग दस हजार वर्ष पुरानी है। विद्वानो के इस अभिमत मे अतिशयोक्ति भी हो सकती है, किन्तु मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओ मे प्रागैतिहासिक लोगो के बनाए हुए चित्र मिलते हैं। यहाँ के गुफा-मदिर की छतो पर अकित

1. अजंता के चित्रकूट : रायकृष्ण दास, राय आनंदकृष्ण, पृ० १-२

हाथी, रथ, वृक्ष तथा नग्न स्त्री-पुरुषो के अनेक चित्र हैं, जिन्हें सर जॉन मार्शल प्रथम शताब्दी के मानते हैं।

छोटानागपुर-क्षेत्र के सिगनपुर नामक स्थान की एक गुफा के अंदर भी कुछ प्रागैतिहासिक चित्र-कृतियाँ प्राप्त हुई हैं, जो यत्र-तत्र चट्टानो पर अंकित हैं। ये नर्मदा-घाटी की चित्रकला से भिन्न हैं। इन चित्रो मे कुछ-कुछ युद्ध या शिकार के दृश्य अंकित है। इन सबकी रचना चाहे जब हुई हो, किन्तु इसमे कोई सदेह नही कि इनमे कला के कई एक उत्कृष्ट उदाहरण देखने को मिलते है।

किन्तु यह तो निर्विवाद है कि हडप्पा और मोहेंजोदडो की खुदाई से प्राप्त मिट्टी के बरतनो तथा सिक्को पर पशुओ के जा चित्र अंकित हैं, वे उस समय के मनुष्यो का चित्रकला-प्रेम प्रकट करते हैं, वे कम-से-कम ३,००० वर्ष पुराने है। इससे ज्ञात होता है कि सिन्धु नदी-घाटी के प्राचीन निवासियो मे प्रचलित चित्रकला की एक अलग शैली थी, जो भारत की प्रागैतिहासिक कला का एक प्रबल उदाहरण प्रस्तुत करती है। इन बरतनो पर सिंह, चीता, वराह, बारहसिंगा, बैल, मछली तथा पक्षियो के चित्र अंकित पाए गए हैं, और इन कृतियो के साथ वनस्पति-वर्ग एव रेखागणित की आकृतियो को जिस कौशल से अंकित किया गया है, वह बडा ही विलक्षण है। इस कला के अदर यथार्थता तथा सजावट की प्रवृत्ति अपनी विशेषता रखती है।"

श्री चक्रवर्त्ती का विचार है कि "ऐसा कोई आधार तथा सूत्र नही प्राप्त होता है, जिससे कला की इस प्रणाली को वैदिक चित्रकला के साथ, जिसका उद्गम बाद का है, सबद्ध किया जा सके।

यह तो हुई पौराणिक और प्रागैतिहासिक काल की बाते। किन्तु जब हम ऐतिहासिक घटनाओ की ओर दृष्टि करते हैं तो पता चलता है कि भारत जैसे विशाल देश मे चित्रकला की शृंखलाबद्ध परंपरा के इतिहास पर प्रकाश डालना बडा ही दुरूह कार्य है। इसका कारण यह है कि भारत एक देश नही है, प्रत्युत इसे एक उपमहादेश कहना चाहिए; क्योकि इसके अंदर विभिन्न संस्कृतियो के प्रदेश है और भिन्न-भिन्न प्रदेशो की चित्रकला मे जो अतर पड़ता है, उससे कुछ ऐसा आभास मिलता है कि देश की समष्टिगत चित्रकला की ऐतिहासिक शृंखला विच्छिन्न है। किन्तु ईसा के २०० वर्ष पूर्व निर्मित अजंता की

गुफाओं की भास्कर्य-कला तथा कांगडा एवं गढ़वाल की राजपूतकालीन चित्रकला को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय चित्रकला की परंपरा विच्छिन्न हुई है। भारतीय चित्रकला के ऐतिहासिक अनुसंधान के फलस्वरूप कुछ नए तथ्य प्रकट हुए हैं, जिनसे पता चलता है कि भारत की चित्रकला का एक शृंखलाबद्ध इतिहास है, जो कम-से-कम २,००० वर्षों तक अविरल गति से चलता रहा है।

इन्हीं तथ्यों से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि हमारे देश की चित्रकला की विकास-धारा प्रारंभिक उद्भवकाल, यदि अधिक नहीं तो ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व, से अबतक अविरल गति से प्रवाहित होती रही। चित्रकला के इस प्रवाह-मार्ग में कला के रूप यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार के थे, उनकी शैलियाँ और प्रणालियाँ भी एक-दूसरे से मिलती-जुलती नहीं थी, बाह्य स्वरूप भिन्न-से प्रतीत होते थे; तथापि सभी रूपों मे, सूक्ष्मतः स्वरूप में तादात्म्य था। आर्य और वैदिक सभ्यता के अंतर्गत जब चित्रकला को विशेष स्थान प्राप्त हुआ, उससे बहुत पहले से ही इस भूमि पर चित्रकला अपने विकसित स्वरूप मे विद्यमान थी। आर्यों के पूर्ववर्ती भारतीय आदिवासी, जो इस देश के विभिन्न भागो मे निवास कर रहे थे, चित्रकला मे प्रवीण थे।[1] किन्तु आदिकाल से चित्रकला की प्रवृत्ति भले ही मनुष्य मे हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि चित्रकला का उत्थान मूर्ति-पूजा के विकास के बाद हुआ।

बौद्धधर्म और चित्रकला :

बौद्धधर्म के भिक्षुक अपने धर्म का प्रचार चित्र द्वारा किया करते थे। वे अपने साथ तैल-चित्रपट रखते थे, जिनपर जातक-कथाएँ (भगवान बुद्ध के ५५० वर्ष पूर्व की कथाएँ) चित्रित रहती थी। इसी कारण बौद्ध-कालीन नालंदा तथा तक्षशिला सदृश बडे-बडे शिक्षा-केन्द्रो मे अन्य विद्याओ के साथ चित्र-विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी। इस काल मे चित्रकला के प्रधान विषय महात्मा बुद्ध थे। चित्रकार अपनी भक्ति-पुष्पांजलि भगवान बुद्ध के चरणो मे अर्पित करते थे।

भारतीय कला के अभ्युदय का इतिहास पहली सदी ईसा-पूर्व के आरंभिक वर्षों मे लगभग एक साथ गांधार और मथुरा मे बुद्ध, शिव और

---

1. मोहेंजोदड़ो से कांगड़ा तक : श्री श्यामाप्रसाद चक्रवर्ती (प्राची, साप्ताहिक)

कृष्ण की प्रतिमाओं के विकास के रूप मे हुआ। भारतीय आधुनिक कला का सर्वप्रथम प्रतिमान यही थे। लगभग इसके ५०० वर्ष पश्चात् गुप्त-सम्राटो के समय सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ और भारत समृद्ध बना। यह भारतीय कला के उत्थान का द्वितीय काल है। इसी काल मे अंकित चित्रकला के अपूर्व और दर्शनीय उदाहरण अजंता, बादामी, एलोरा आदि दर्शनीय गुफाओ मे आज भी विद्यमान हैं। इसी समय सार्वभौम कल्पनाओ और भारत की राष्ट्रीय उत्कर्षशील संस्कृति की अभिव्यक्ति बौद्ध तथा हिन्दू-कलाओ मे हुई।

विख्यात वैयाकरण पाणिनि (ईसा के ४००—३०० वर्ष पूर्व) के ग्रथो में कृष्ण-लीला-संबंधी चित्रो का उल्लेख मिलता है। कृष्ण-लीला के ये चित्र ब्राह्मण-युग की प्राचीनतम कला-कृतियाँ माने जाते है। पाणिनि ने अपने ग्रंथो मे 'सौभिक' नामक जन-समुदाय का उल्लेख किया है। इस समुदाय का काम चित्र-प्रदर्शन का था और इन लोगो के पास श्रीकृष्ण-जीवन तथा उनके साहसिक कार्यों के सभी चित्र रहते थे। उन्ही चित्रो से ये लीला-प्रदर्शन करते थे। बाद के युग मे राजपूताना तथा उडीसा मे कुछ ऐसे ताशो (Playing cards) का प्रचलन हुआ, जिनपर कृष्ण लीला संबधी चित्र बने हुए थे। इसी प्रकार जन-सप्रदाय के चित्र-प्रदर्शक भ्रमणशील दलो को 'मखा' कहा जाता था। इससे १४० वर्ष पूर्ववाले काल मे महर्षि पतंजलि ने भी इसी व्यवसाय मे संलग्न एक जन-समुदाय का उल्लेख किया है।

"प्रारंभ मे बौद्ध-सन्यासियो के लिए भौतिकता से नितांत अलग रहकर आध्यात्मिकता मे पूर्णरूप से रत रहना आवश्यक था। किन्तु भिक्षुको मे सर्जनात्मक प्रतिभावाले कुछ ऐसे लोग भी थे, जो अपने आराधना-स्थलो और आश्रमो को तूलिका और छेनी के कौशल से सजाकर रखने मे आनंद की अनुभूति प्राप्त करते थे। धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ गया और इसे भक्ति की अभिव्यक्ति की एक विद्या के रूप मे मान्यता मिल गई। लगभग नौ सौ वर्षों की सारी बौद्धकला का सृजन अकेले भिक्षु कलाकारो के वश की बात नही थी। काल पाकर इस कला को राज्याश्रय मिला और तत्कालीन प्रसिद्ध चित्रकार तथा मूर्तिकार भी इस काम मे लग गए।

"तभी कुछ ऐसा हुआ कि प्राचीन भारत के कुछ कलाकार धार्मिक सिद्धान्त के कट्टर अनुशासन मे न चलकर, रंग और रेखाओ की शक्ति के उपयोग मे

आनंद लेने लग गए। उनकी कला मे एक नई ताजगी आई, जो ऐन्द्रिक भी थी और सवेदनपूर्ण भी। अनुराग एवं विराग की भूमिकाओ का अद्भुत समन्वय इसमे हुआ। ऐसी कला-कृतियो मे अजता-कला-मडप सर्वोपरि स्थान रखते हैं।''[1]

अजंता की गुफाएँ—महाराष्ट्र-राज्य के औरगाबाद जिले मे अजंता की गुफाएँ स्थित हैं। मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई पथ पर भुसावल से आगे पचोरा से जानेवाली छोटी लाइन पर पाहुर स्टेशन मिलता है, जिसके समीप ही फर्दापुर गाँव है। फर्दापुर से अजंता साढ़े तीन मील पर है। फर्दापुर मे यात्रियों के लिए सुविधा-सपन्न डाक-बँगला है।

अजता मे कुल मिलाकर तीस गुफाएँ हैं, जो पहाड़ को चंद्राकार काटकर बनाई गई हैं। गुफाओ के नीचे बहती हुई बघोरा नदी ने अजंता की प्राकृतिक शोभा मे विशेष वृद्धि की है। यह बडा एकान्त स्थान है। पुरातत्त्व के विद्वानो का मत है कि दूसरी सदी ईसवी-पूर्व से गुफाएँ काटी जाने लगी थी। यह कार्य सातवी शताब्दी तक चलता रहा। बौद्धो को ये गुफाएँ उसी सपने का साकार रूप हैं, जो बौद्ध-कला के प्रत्येक युग का प्रतिनिधित्व करता हैं। चीनी यात्री फाहियान और ह्यूएनसाँग ने अपने यात्रा-विवरण मे इन कला-मंदिरो का उल्लेख किया है। लॉरेंस बिनयान के अनुसार अजंता की कला एशिया की कला के इतिहास मे उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, जितना यूरोप में यूरोपीय कला का है।

इतनी महत्त्वपूर्ण कला-कृतियाँ लगभग एक हजार वर्षों तक कला-जगत की अनभिज्ञता का शिकार रहकर अचानक सन् १८१९ ई० मे कैसे प्रकाश मे आई, इसकी भी अजब कहानी है। मद्रास-फौज के एक अवकाश-प्राप्त ऑफिसर ने चीते के आखेट मे गुफा-द्वार पर पहुँचकर घनी हरीतिमा के अंतराल में बैगनी पत्थरो के खंभो के बीच, सुनहरे लाल रग मे कुछ ऐसी चीज देखी, जिसने कप्तान को जिज्ञासा-पूर्ण उत्साह से भर दिया। वे यह सोचकर गौरवान्वित हुए कि वे संसार को एक ऐसी चीज का पता देने जा रहे हैं, जो वास्तुकला की दृष्टि से निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। तब से परवर्ती कुछ वर्षों में दर्शकों द्वारा अजंता के चित्रों का जितना नाश हुआ, उतना सभवत. विगत बारह-चौदह सौ वर्षों मे भी नहीं हुआ

1. अजंता के गुहा चित्र कैसे बने ? : श्री कन्हैयालाल नन्दन

होगा। वस्तुतः जहाँ तक मनुष्य के हाथ पहुँच सकते है, वहाँ तक के अधिकांश चित्र मिट चुके हैं।

कुछ काल बाद अजता के समुचित संरक्षण का भार निजाम-सरकार ने अपने हाथो मे ले लिया और वहाँ ठहरने की, अध्ययन करने की एवं उसे प्रकाशित करने की समुचित योजनाएँ बनी। संप्रति अजता को राष्ट्रीय महत्त्व का प्राचीन अवशेष (नेशनल मॉन्युमेण्ट) मान लिया गया है और हैदराबाद देशी राज्य के भारत मे विलीन होने के बाद उसके संरक्षण तथा प्रबंध का भार भारत-सरकार द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर वहन किया जा रहा है।

अजंता महाराष्ट्र के औरंगाबाद नगर से सत्तर-बहत्तर मील पर है। वस्तुतः वहाँ इस शब्द का उच्चारण 'अजिण्ठा' है, जिस नाम का वहाँ एक छोटा-सा ग्राम बसा हुआ है। वहाँ दर्शनार्थियो के लिए एक सुन्दर विश्राम-गृह का प्रबंध है, जहाँ से यात्री-बस द्वारा सुविधा से प्रायः दो मील की यात्रा करके अजता की गुफाओ तक पहुँचा जा सकता है। सत्तर-बहत्तर मील का यह सारा रास्ता प्राकृतिक सौंदर्य से भरा हुआ है—ऊँचे-ऊँचे श्यामवर्ण पहाड, बीच-बीच में मैदानो को घेरे हुए हैं। साल, सागवान और विशेष रूप से पारिजात अपनी सुरभि का प्रतिदान किया करते हैं।

अजता के ये कला-मंदिर इसलिए अधिक महत्व रखते हैं कि इनमें एक साथ वास्तु, मूर्ति और चित्र-कलाओ के नमूने देखने को मिल जाते हैं। किन्तु मुख्यतः अजता की विश्वव्यापी प्रसिद्धि उसकी चित्रकला के कारण है। यह विशेष उल्लेखनीय है कि जो युग सस्कृत-साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है, वही अजता के चित्रो के निर्माण का युग है।

विभिन्न विद्वानो ने अजता की कला का अध्ययन कर उसे विश्व की कला-कृतियो के सदर्भ में देखा है और अनेक निष्कर्ष निकाले हैं। चित्रो का मुख्य विषय बुद्ध का वास्तविक जीवन तथा उनके पुनर्जन्म की कथाओ (जातकों) का चित्रण है। अजंता की कला अपने-आप में बिलकुल मौलिक है।

अजंता के चित्रो में कथाएँ कही गई हैं, जिनमें विषय से संबंधित पुरुषों और उनके विषयो को सही रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आश्चर्य होता है यह देखकर कि दीवालों पर ऊपर-नीचे ब्रश के सहारे खींची गई लंबी और सशक्त मोड खानेवाली रेखाएँ इन कलाकारों ने खींची कैसे होगी।

अजंता के चित्र तत्कालीन चित्रकला के विविध रूपों और रंगों को ही नहीं, वरन् समाज के रहन-सहन आदि के भी द्योतक हैं। अजंता का चित्रकार जहाँ कुछ दृष्टियों से आदर्शवादी या रहस्यमय-सा प्रतीत होता है, वहीं समाज के रहन-सहन के चित्रण में वह पूर्णतया यथार्थवादी है।

श्री कन्हैयालाल नंदन के शब्दों में—"अजंता के कलाकार रेखाओं के धनी थे। उन्हें एक-एक रेखा की स्थिति का ज्ञान था। अजंता में हाथों का चित्रण उनके इसी ज्ञान का परिणाम है, जहाँ हा‹ो हाथ में सारी बात स ‹‹ कर देने की क्षमता है। मनःस्थितियों और भावों के अनुसार बदलती त्वचा के ‹क-एक रेशे के परिवर्त्तन को इन कलाकारों ने रेखाओं में बाँधने का प्रयास किया है।

पशु-पक्षियों के चित्रण में कलाकारों ने असाधारण प्रतिभा दिखाई है। चूँकि जातक-कथाओं के अनुसार पूर्व-जन्मों में बुद्ध हरिण, हाथी, हंस आदि रह चुके हैं; इसलिए कौन कह सकता है कि किस पशु-पक्षी में इन कलाकारों को यह महान आत्मा निवास करती नहीं दिखाई पड़ी ?"[1]

अजंता के चित्रों में बुद्ध-चरित्र से संबंधित चित्रों की बहुलता है। वे वस्तुतः अद्वितीय हैं। अजंता के चित्रों में जातक-कथाएँ अनुपम ढंग से चित्रित की गई हैं। इनमें बुद्ध का एक चित्र है, जो ऐसे विचित्र रूप में निर्मित किया गया है कि उसे हम किधर से भी देखें, वह भी हमें देख रहा है—ऐसा नजर आता है, मानो बुद्ध संसार को सम-दृष्टि से देख रहे हैं। उनमें आकर्षण है। रंग से इतनी बारीकी से काम किया हुआ है कि देखते ही बनता है।

बुद्ध से संबंधित विषयों के अतिरिक्त नारी-चित्रण अजंता की चरम उपलब्धि है। नारी-चित्रण किसी प्रत्यक्ष धार्मिक या साहित्यिक दृष्टिकोण से नहीं हुआ, मात्र चित्रण के आनंद के लिए हुआ है।

केश विन्यास भी अजंता की कला में अपना प्रमुख स्थान रखता है। अनेक प्रकार के वेणी-विंदु और उन्हें सुसज्जित करने की विधियाँ आज के भारतीय महिला-समाज को अभी युगों तक नई-नई उपलब्धियों की शिक्षा दे सकती हैं।

अजंता की चित्रकारी में हाथों के माध्यम से भाव-व्यंजना में अत्यधिक सहायता ली गई है। हाथ की अंगुलियों के बनाने में चित्रकार ने कमाल कर

1. अजंता के गुहा चित्र कैसे बने ? श्री कन्हैयालाल नंदन।

दिया है। प्रत्येक अगुली का अपना एक पृथक कार्य प्रतीक होता है। मुँह के बिना हाथ अकेले ही भाव-व्यंजना मे समर्थ है। यद्यपि आँख, नाक, कान बनाने की प्रविधि (तकनीक) एक है, तब भी भाव-व्यजना के कारण उनमें इतनी विविधता आ गई है कि वे एक-से नही लगते।

"अजता के कलाकारों ने विश्व की निगाहो मे पनपते, हरे-भरे वसतोत्सव मनाते, पौधो चिडियो, बदरो, हिरनो, हाथियो, खेतों, पहाडियो, नगरो और राजमहलो के बीच पुरुषो, स्त्रियो और बच्चो का, विभिन्न मन.स्थितियो मे जो चित्रण किया है, उनमे वे अपनी अभिव्यक्ति की सजीवताएँ छलकाते दीख पडते हैं। इन चित्रो मे अकित सारा भौतिक जीवन अपनी हँसी और रुदन के बीच आध्यात्मिक जीवन का प्रादुर्भाव प्रदर्शित करता है, उस आध्यात्मिक जीवन का, जहाँ करुणा और दया का साम्राज्य है। वहाँ त्याग की आत्मा प्रदर्शित है, पर भौतिक जीवन से दूर भागकर घृणा के रूप मे नही। यह त्याग उस राज कुमार के जीवन मे उदित होता है, जिसकी आँखो मे तेज है, जिसने तपस्वी जीवन बिताकर भौतिकता से दूर भागने के बजाय उसी के बीच रहकर निर्वाण के रास्ते को खोज निकाला, जो इन भौतिकताओ के बीच खडा किसी विशेष दृश्य पर आँख नही गराए है; मगर सारा विश्व उनकी आँखों के सामने है। इन चित्रो मे मानव के द्वित्व की छाया एक साथ दिखाई पडती है। एक ओर भौतिक क्रियाशीलता के प्रति उसकी उत्साह-भावना, जिज्ञासा, सौंदर्य और आनद की पिपासा और ऐन्द्रिक सुख की अभिलाषाएँ हैं, तो दूसरी ओर उसी जगह इन्हीं सबके त्याग मे प्रकाश की अनवरत खोज का अद्भुत उपदेश। भौतिक और आध्यात्मिक मिलन कला के एक ऐसे ससार मे लाकर हमे छोड़ देता है, जहाँ न अनुरक्ति की प्रधानता है, विरक्ति की, जहाँ चरम अनुराग और चरम विराग एक तन हो गया है।

"चित्रकला मानवीय कल्पना की नितान्त रोमाचकारी सचित्र साहस-गाथा है। किन्तु कला के मूल्याकन और रसास्वादन-सबधी धारणाओ मे समय-समय पर परिवर्त्तन भी होता रहता है, जैसा कि स्वय चित्राकन की रीतियो और शैलियो मे भी परिवर्त्तन हुआ करता है। प्रत्येक युग के अपने मन-पसद बिब होते हैं, अपनी भावनाएँ होती है। परिवर्त्तन की इसी प्रक्रिया में मानव का सौंदर्य-विवेक परिमार्जित और विकसित होता है। काल की तुला पर तौलने पर

कई बार अतीत के माने हुए दिग्गज कलाकारों के चित्र आज की कला-रुचि को तृप्त करने में असफल सिद्ध हो सकते हैं।

"किन्तु कुछ चित्रों मे ऐसी कोई खूबी होती है कि कोई बड़े-से-बड़ा आलोचक भी उनमे मीन-मेष नही निकाल सकता और उनकी महानता अक्षुण्ण बनी रहती है। अजंता के बोधिसत्व पद्मपाणि और भिक्षापात्रधारी बुद्ध ऐसे ही महान चित्र हैं। इनकी समूची कल्पना अत्यंत उदात्त है।"[1]

श्रीपुर नगर की कला—इसी प्रकार के चित्र मध्यभारत के छत्तीसगढ़ के श्रीपुर नगर मे हैं। श्रीपुर नगर का प्राकृतिक सौंदर्य अलौकिक है। इसकी शोभा निरखते ही बनती है। यहाँ पर लक्ष्मण-देवालय का पवित्र मंदिर है, जिसकी शिल्प-कला अजंता की शिल्पकला से भी बढ़कर है। इसको देखकर विदेशी शिल्प मर्मज्ञ भी दंग रह जाते है। इसके चारों तरफ जंगल-ही-जंगल है। उसकी परिक्रमा करती हुई महानदी बहती है, मानो वह भी उस कला को देखकर विस्मय से आत्म-विभोर होकर चारों ओर उस शिल्पकार को ढूँढ़ रही हो, जो अभी सामने से चला गया है। कला के प्रसिद्ध पारखी श्री रायकृष्ण दास का अजंता की कलाकृति पर कथन है—"अजंता की परिक्रमा करने के बाद हमे दो विषयों पर विचार करना चाहिए। एक तो अजंता मे जो रूप प्रस्तुत किए गए हैं, उनका आदर्श क्या है? यह तो निश्चित है कि उस रूप का आदर्श चित्रण-मात्र है। फिर भी हम यह नही मान सकते कि चित्रकार ने ऐसा लोक उपस्थित किया है, जिसका जड़-मिट्टी मे न हो। हम गुप्तकालीन साहित्य मे रूप चयन की प्रायः चर्चा पाते हैं। जान पड़ता है कि इस रूप-चयन से एक ऐसी अलौकिक सुन्दरता-वस्तु-विशेष की प्राप्ति हुई थी, जिसे हम तत्कालीन कला मे प्रतिफलित पाते हैं। इस प्रकार यह कलाकार के मानस और दृश्य जगत का सुन्दर समन्वय था। कहीं-कहीं पर इसमें अतिरंजना है, फिर भी इन आकृतियों में हृदय की धड़कन मौजूद है।

"अजंता की शैली का बौद्ध-कला के पक्ष मे कोई ऐसा तर्क नहीं है; जिसे महत्त्व दिया जाए। फिर भी कला के इतिहासकार यहीं तक सीमित नहीं रहे।

1. महान चित्रों का साक्षात्कार ('नवनीत' नवम्बर, १९६७) : डॉ० पी० सन्याल।

उन्होंने यहाँ तक निर्णय दे डाला कि चित्रकार बौद्ध भिक्षु रहे होंगे। अजंता के चित्रों मे तत्कालीन गुप्त-शैली समाविष्ट है, जिसमे ब्राह्मण, बौद्ध, जैन सभी के समान उदाहरण मिलते है, जो किसी प्रकार पृथक नही। वस्तुतः अपनी कलाओ मे किसी युग मे भी धार्मिक विभाजन नही हुआ। हम जिसे बौद्ध-कला कहते हैं, उसका मूल बौद्ध-धर्म से सबधित नही, क्योंकि प्रारभिक बौद्ध-धर्म कलाओं के प्रति असहिष्णु न होता तो एक नई बौद्ध-शैली की उद्भावना सभव थी।

"बौद्ध-भिक्षुओं के अकन की बात तो हास्यास्पद है। हम स्थान-स्थान पर देखते हैं कि आलेखनो मे जैसी विशेषता है, वह प्रकाड चित्राचार्यों द्वारा ही सभव है, इतर जनो द्वारा नही। जा मनोविनोद के लिए व धार्मिक भावना के कारण आलेखन करते हैं, उन आलेखनो का परपरा से, पूर्व-काल और उत्तर-काल से, ऐसा घनिष्ठ संबध है, जो परपरागत चित्रकारो को ही सुलभ है।"[1]

राजपूत-शैली—राजपूत-शैली हिन्दू-जीवन-दर्शन के प्रस्तुत करने में प्रसिद्ध रही है। उसमे पौराणिक तथा ऐतिहासिक चित्र भी बनाए गए हैं। राम और कृष्ण की लीलाओं के चित्र तो पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं। राजपूत-पेंटिंग के अनुसार एक चित्र मे वैकुठ मे निवास करनेवाले विष्णु का चित्र है। लक्ष्मी पास में बैठी है। शिव, गणेश और ब्रह्मा भी वहाँ दिखाई देते हैं। ब्रह्मादि देवता विष्णु से अवतार ग्रहण करने की प्रार्थना कर रहे है।

रामलीला को चित्रित करने के लिए राम की गाथा और सीता की अग्नि-परीक्षा के चित्र बनाए गए हैं। राधा-कृष्ण की लीलाओं को सुन्दर रूप मे चित्रित किया गया है। कृष्ण के प्रति गोपियो की प्रेमाभिव्यक्ति के अनेक चित्र बन गए। कृष्णलीला के रास-मडल, चीर-हरण, गोवर्धन-धारण, गोपियों के साथ जल-विहार, राधा-कृष्ण-मिलाप, कृष्ण द्वारा कालिय का दमन, दावानल का उपचयन जैसे चित्र अपने अनुपम रूप मे पाए जाते हैं, जो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं।

पलायन के बाद जब हुमायूँ भारत लौटा तब वह अपने साथ दो ईरानी चित्रकारो को भी लाया, जिनके प्रयास से भारत में नई चित्रशैली का जन्म

1. **अजंता के चित्रकूट** : श्री रायकृष्ण दास, पृ० ५८-५९

हुआ। यद्यपि मुगल-चित्रशैली और राजस्थानी (राजपूत) शैली में भारी अतर है, तथापि यह निश्चित है कि राजस्थानी शैली पर मुगल-शैली का प्रभाव पडा। उत्तर-पश्चिम भारत अर्थात् गुजरात तथा उसके आसपास की चित्रशैली का ह्रास हुआ और इधर कृष्ण-भक्ति के प्रभाव से राजस्थान मे चित्रकला को नवजीवन प्राप्त हुआ। सोलहवी शताब्दी के अतिम चरण में श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्णलीला पर राजस्थान मे चित्र बनाए जाने लगे। सत्रहवी शताब्दी में कृष्ण और राधा को नए अर्थों मे चित्रित किया जाने लगा। कृष्णलीला के साथ-साथ रासलीला, रागमाला, नायिका-भेद, बारहमासा, रामायण आदि के कथा-चित्र बनाए जाने लगे।

राजपूत-कलम के अधिकतर चित्रकार मुसलमान थे। जब औरंगजेब ने ललित कलाओ को संरक्षण देना बंद कर दिया तब मुगल-दरबार से पलनेवाले चित्रकार राजपूतों की शरण में जा बसे।

राजस्थानी चित्र-शैली के मुख्य केन्द्र मेवाड़, बीकानेर, जोधपुर, बूंदी, उदयपुर, किशनगढ़, जैसलमेर आदि थे। इन्होंने रामायण, महाभारत, विष्णु तथा शिव के धार्मिक आख्यानो से विषय का चुनाव किया और उन्ह रेखाओं और रगो मे पूरित कर दिया। सपूर्ण रामायण—राम के जन्म से लेकर अयोध्या के राजा होने तक—की एक-एक कथा चित्रित मिलती है। इसी प्रकार कृष्ण का सपूर्ण जीवन-चरित्र चित्रों मे चित्रित है। गीता-प्रेस, गोरखपुर में इन चित्रों की प्रतिलिपियो का सुन्दर सग्रह सुसज्जित है।

राजपूत चित्रशैली मे कोमलता, मोहकता एव सूक्ष्मता है। राधा और कृष्ण के माध्यम से नारी और पुरुष के शाश्वत प्रेम का चित्रण किया गया है। मंदिरो और राजभवन की दीवारो पर भी अनेक चित्र अकित हैं। धार्मिक कथनो और राजाओ के जुलूस, दरबार आदि के चित्रो से भित्तियो को सुसज्जित किया गया है।

किशनगढ़-कलम—राजपूत-नरेश जहाँ रणक्षेत्र मे कालभैरव बनते थे, वहाँ सुख-मंदिरो में बैठकर तूलिका की थिरकती चाल को परखा करते थे। इसीलिए राजस्थान की रक्तरंजित भूमि में लघु-चित्रो की अमर बेल रोपी जा सकी। किशनगढ़ की राजपूत-कलम अपने पूर्ण यौवन को प्राप्त हुई। किशनगढ़ के श्रीकृष्णलीला संबंधी चित्र नितांत नए, विमुग्धकारी और रहस्यपूर्ण

है। अनेक चित्राकन १८वी एव १९वी शताब्दी के चित्रो से भिन्न हैं। कुछ चित्रो का सृजन एक ही कलाकार द्वारा हुआ था, इनके पीछे कवित्त भी लिखे हैं। प्रश्न उठता है कि वह अज्ञात कवि कौन था, जिसकी कलम से ऐसे नयनाभिराम मौलिक चित्रो का अकन हुआ। इस समस्या का समाधान करते हुए बाला सहाय शास्त्री ने बताया कि इस चित्रकला के उन्नायक स्वयं किशनगढ़-नरेश सावंत सिह थे, जो वल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त कवियो मे कवि नागरीदास के नाम मे प्रसिद्ध हैं।

महाराज सावत सिह (१६९९-१७६४ ई०) ने 'नागरीदास' उपनाम से चित्र और काव्य का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया। आसपास ब्रज मे अभी भी वल्लभ-संप्रदाय के वैष्णव मदिरो में इनके रचे पद गाए जाते हैं। इन्होंने मनोरथ-मंजरी, रसिकरत्नावली और बिहारी-चद्रिका—इन तीन ग्रथों की रचना की। इन्हीं ग्रथो ने किशनगढ़ की चित्रकारी को रसमय विषय प्रदान किए। यदि किशनगढ के चित्रो का सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो उनमें प्रेम की बाँकी पीर अँगडाई लेती हुई नजर आती है। इस चित्र-शैली में एक प्रकार की नारी-जागृति का चित्रण हुआ है।

महाराज सावत सिह को चौदह वर्ष की एक अपूर्व सुन्दरी बाला से प्रेम हो गया। कालान्तर मे सावत सिह कवि नागरीदास हो गए और वह गायिका किशोरी 'वणीठणी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उस किशोरी को सावत सिह प्रेम से 'वानी' कहकर पुकारते थे, अत मे सावत सिह अपने पुत्र को राजगद्दी देकर वृन्दावन चले गए। नागरीदास और वानी ने वृन्दाबन बिहारी के चरणों मे गीत गाते हुए अपने जीवन को समर्पित कर दिया। इस सलोनी कहानी ने किशनगढ़ के चित्रो मे जान डाली। इस युगल छवि को इनके महान प्रेम के कारण ही चित्रो मे राधा-माधव की जगह चित्रित किया गया।

सावत सिह ने चितेरे अमल सुरध्वज निहालचद को प्रेरित प्रभावित किया। इस चित्रकार ने कृष्णलीला सबधी अनेक चित्र बनाए। इनके सहायक अमरचद और सीताराम ने मदिरो के लिए सुन्दर पिछवाइयों का भी ताना-बाना बुना। —डॉ० रामावतार अग्रवाल

नाथद्वारा (उदयपुर) की पिछवाइयां—नाथद्वारा-शैली का भारतीय चित्रकला मे एक विशिष्ट स्थान है। यहाँ के चित्रकारों ने कागज और कपड़ा

—दोनों पर ही श्रीनाथ जी का चित्रांकन किया है। कपड़े पर की यह चित्रकारी विश्व-भर में प्रसिद्ध है। वे कपड़े पर बनाए गए चित्र, जो पिछवाई के नाम से विख्यात हैं, बड़े आकर्षक होते हैं। नाथद्वारा के सैकड़ों परिवार इस चित्रकला में निष्णात हैं। बालक से लेकर वृद्ध तक परिवार का हर सदस्य चित्रकारी जानता है और पिछवाई बनाने में सहयोग देता है।

पिछवाई की कला का जन्म भी मथुरा और वृन्दावन में हुआ। पिछवाई पर श्रीनाथ जी का चित्रांकन काफी समय से होता चला आ रहा है। श्रीनाथ जी के दर्शन के लिए आए हुए तीर्थयात्री कागज अथवा कपड़े पर अंकित श्रीनाथ जी का चित्र सौगात के तौर पर ले जाते रहे हैं। मथुरा में आजकल भी पिछवाई का काम कहीं-कहीं होता है। पिछवाई मंदिरों में श्रीनाथ जी की प्रतिमा के पीछे दीवार पर लटकाने के काम में लाई जाती है। नाथद्वारा के मंदिर में दैनिक अष्ट-दर्शन के समय श्रीनाथ जी की मूर्ति के पीछे लटकाई जानेवाली पिछवाई दिन में आठ बार बदली जाती है।

उन्नीसवीं शताब्दी की बनी कुछ पिछवाइयों पर राजस्थान की चित्रशैली का प्रभाव स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। स्त्रियों की आकृतियों पर बूंदी चित्रशैली का प्रभाव है। पुरुषों की आकृतियाँ कोटा-कलम से मिलती-जुलती हैं, जबकि आँखों की बनावट पर किशनगढ़-कलम का प्रभाव है।

उन्नीसवीं शताब्दी में बनी एक पिछवाई में श्रीनाथजी के चारों ओर भक्तिभाव से ओत-प्रोत भक्तिनियों का समूह चित्रित किया गया है।

यद्यपि किशनगढ़ और नाथद्वारा की चित्र-शैलियों का विकास वल्लभाचार्य के दर्शन के प्रभाव से हुआ, तथापि इन दोनों कलमों की विषय-विवेचना सर्वथा भिन्न है।

श्रीनाथ जी के मंदिर में आजकल भी लाखों रुपए मूल्यवाली पिछवाइयों का प्रयोग किया जाता है। ये पिछवाइयाँ अपनी कलात्मकता के कारण बहुत मूल्यवान हैं।

पिछवाई की कला नाथद्वारा के चित्रकारों की अपनी विशेषता है, लेकिन संभवतः संरक्षण के अभाव के कारण बढ़िया किस्म का काम धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है।

—सुभाषिणी आर्य

इस प्रकार राजपूत-कलम भारत की राष्ट्रीय कला-प्रवृत्ति से फूटकर निकली है। उसमें जीवन-साधन, सौंदर्य और धार्मिकता है। उसमें शृंगार का पुट भी है, परन्तु मुगल-शैली के सदृश भोग और उल्लास नहीं है।

कहते हैं कि मुगल और राजपूत-कलमो के मेल से पहाड़ी कलम निकली। कुछ लोगो का मत है कि राजपूत-कलम के दो क्रीडा-क्षेत्र थे—एक हिमालय की तराई मे तो दूसरा राजस्थान के मैदान मे। कांगडा-शैली मे पहाडी कलम परिपक्व हुई, तो जयपुर-शैली मे राजपूत-कलम।

इस प्रकार मूर्ति-पूजा के प्रचार के परिणाम-स्वरूप भारतीय चित्रकला के अनुसार रामायण, महाभारत और भागवत-पुराण की घटनाओ के आधार पर अनेको नयनाभिराम चित्र बनाए गए। वर्त्तमान काल मे रवि वर्मा का चित्र लोकप्रिय हुआ। बौद्ध-धर्म के भिक्षुओ द्वारा बौद्ध-धम-प्रचार की तरह विष्णु और उनके अवतारो की लीलाओ के रूप मे चित्रकला प्राचीनकाल मे धर्म-प्रचार का आवश्यक अग मानी जाती थी।

लेपाक्षी मदिर की भित्तिकला—भारत मे भित्ति-चित्रों के निदर्शन बहुत कम पाए जाते है। अजता के गुफा-मंदिरो के प्रसिद्ध भित्ति-चित्रो तथा थोड़े सदृश छिट-फुट स्थानो के भित्ति-चित्रो को छोडकर भारत मे और कही भी भित्ति चित्रो का अस्तित्व जनसाधारण की जानकारी मे नही है। हाल ही मे तमिलनाडु मे लेपाक्षी देवी का अपूण और उपेक्षित पडा हुआ मदिर प्रकाश मे आया है, जिसकी ओर पुरातत्त्ववेत्ताओ और कला-पारखियो का ध्यान आकृष्ट हुआ है। वहाँ अद्‌भुत पूणता है, कौशल और ताजगी से ओत-प्रोत भित्ति-चित्रो का अंकन है, महाविष्णु और भगवान शिव के अनेक अवतारो तथा रामायण और महाभारत की कथाएँ इन चित्रो का प्रधान विषय हैं। इतिहास, संस्कृति, कला-शिल्प और शृ गार-प्रसाधन के विद्यार्थियो को इन चित्रो मे प्राचीन भारत की वेशभूषा, रीति-रिवाज, जीवन-चर्या, शृ गार, अलकार, गृह सज्जा, सामाजिक जीवन आदि विषयो के अध्ययन की प्रचुर सामग्री मिल सकती है।

यह मदिर तमिलनाडु मे गु तकल-बगलोर रेलवे-पथ पर हिन्दुपुर स्टेशन से दस मील की दूरी पर लेपाक्षी नामक ग्राम मे पाया गया है। कूर्मशैल नामक एक पहाडी पर यह बना हुआ है। आज इसके गोपुर, परकोटे आदि ध्वस्त हो चुके है। लोगो का ध्यान इस मंदिर की कला की ओर पहले आकृष्ट नहीं हुआ था। सन् १९३५ ई० मे राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद वहाँ गए थे और वहाँ के कला-शिल्प से बहुत प्रभावित हुए थे।[1]

1. लेख ('धर्मयुग', ८ अक्टूबर, १९५९) : एम० एल० राव।

मूर्तिकला

यह दिखाई देनेवाला जगत परमात्मा का स्थूल रूप है। यह अमूर्त ही मूर्तरूप मे दृष्टिगोचर हो रहा है। यहाँ के चर अचर में भी वह सूक्ष्म रूप में समाया हुआ है। स्थूल जगत अव्यक्त ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करता है। इसी तरह देवी-देवताओ की मूर्तियाँ भी ईश्वर के स्थूल रूप को दिखाने के लिए बनाई गई हैं। अर्थात् जिस तरह जगत को देखने मे उसके रचयिता ईश्वर की याद ताजा हो जाती है, उसी तरह मूर्ति के सामने आते ही उसके सूक्ष्म रूप का स्मरण हो आता है। कलाकार जिस मूर्ति का निर्माण करता है, वह तो वास्तव मे उसके मन और हृदय मे रहती है। वह तो केवल उसकी भावना का प्रतीकात्मक रूपान्तर-मात्र है।

"विष्णु और उनके अवतारों की मूर्तियो का निर्माण भी इस बुद्धिमत्ता से किया गया है कि उनसे समस्त कथावस्तु का बोध हो सकता है, उनकी आकृति अध्यात्म के गुह्य रहस्यो को खोलनेवाली सिद्ध होती है। वेद-शास्त्रो मे विष्णु के जिस रूप का प्रतिपादन किया गया है, वही रूप हमारे सामने व्यक्त मे दिखाई देता है। मूर्तियाँ उसकी पूर्व कथा का प्रतिबिंब मात्र हैं। इसलिए नारद-पुराण मे इस जगत को विष्णु का मूर्तरूप कहा गया है। विष्णु-पुराण मे भी इन विचारो की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि सर्वव्यापी एवं निराकार विष्णु स्थूल रूप धारण करके देवताओ, मनुष्यो, पशुओ, पक्षियो आदि के विविध रूपो मे यहाँ दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

"विष्णु की मूर्तियो मे उनके विराट रूप के दर्शन होते हैं। पिंड मे ब्रह्माण्ड की भावना को व्यक्त करना ही पुराणकारो की विशेषता रही है।"[1]

"गुप्तकालीन विशाल मदिर, जो अलंकृत ईंटो, मृण्मय मूर्तियो एव फलको द्वारा निर्मित हैं, आज भी कला के महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं—कानपुर के निकटस्थ भीतरगाँव का मदिर, सोरपुर का लक्ष्मण-मदिर, सारनाथ का छोटा मृण्मय स्तूप, पहाड़पुर का बृहद स्तूप, जिसके अलकरण मे सहस्रो मृण्मय मूर्तियाँ लगी हैं। महास्थान की कलायुक्त मृण्मय मूर्तियाँ प्रस्तर-शिला-युक्त मूर्तियों

---

1. देववाद का वैज्ञानिक स्वरूप—विष्णु-रहस्य : डॉ॰ चमनलाल गौतम, पृ॰ १२९-३०

से किसी प्रकार कम नही है। अहिच्छत्रा के शिव-मंदिर में प्रयुक्त मिट्टी के फलक उन्नत कला के परिचायक हैं। सिंध के मीरपुर खास मे स्थित विशाल स्तूप के भग्नावशेष मृण्मय मूर्तियो का कलात्मक सौष्ठव प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार गुप्त-युगीन ईंटे तथा मिट्टी की मूर्तियाँ गगाघाटी में बिखरी पडी हैं। ...... अहिच्छत्रा के शिव-मदिर से लगी हुई गगा-यमुना की बृहद् मृण्मय मूर्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त राजघाट से अनेक गुप्त-युगीन मृण्मय मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। एक मे झूला झूलती हुई युवती का अकन है तो दूसरी मृदंग-वादन करती हुई सुन्दर नारी-मूर्ति है।"[1]

भारतीय मूर्तिकला के विकास के संबंध मे विख्यात विद्वान डॉ० राधा कमल मुखर्जी का विचार है—"भारतीय कला के अभ्युदय का इतिहास पहली शताब्दी ईसा-पूर्व के आरम्भिक वर्षों में, लगभग एक साथ गाधार और मथुरा में बुद्ध, शिव और कृष्ण की प्रतिमाओ के विकास के रूप मे प्रारभ हुआ। भारतीय कला के सर्वप्रथम प्रतिमान यही थे। कला का विकास इन्ही प्रतिमाओ के साथ ६०० ई० तक लगभग तीन शताब्दियो तक हुआ। इन मूर्तियो मे एक ओर तो मानव की उत्कृष्ट नैतिक भव्यता की अभिव्यक्ति हुई तथा दूसरी ओर, मानव शरीर की लय एव सुन्दरता की। लगभग इसके ५०० वर्ष पश्चात् गुप्त-सम्राटो के समय सास्कृतिक पुनरुत्थान हुआ और भारत समृद्ध बना।"

उसी समय सार्वभौम कल्पनाओ और भारत की राष्ट्रीय उत्कर्षशील सस्कृति की अभिव्यक्ति बौद्ध तथा हिन्दू-कलाओं मे हुई। यह सवेदनशील, धर्म-निरपेक्ष और सगुणवादी कला थी; किन्तु सार्वभौम चेतना की अभिव्यक्ति भी इसमे हुई।

अश्वघोष, कालिदास और भारवि के धीरोदात्त नायक-नायिकाओ की लक्षणाओ और विविध कल्पनाओ मे रूपकारो की आध्यात्मिक भव्यता, और विविधता गुप्त-कालीन मदिरो के देवी-देवताओं की मूर्तियों में भी मोजूद है।

भारतीय मूर्तिकला मे पहले के लोकप्रिय प्रतीकों के समन्वय को स्पष्ट अभिव्यक्ति क्लासिकी प्रवृत्ति के कारण हुई। यह समन्वय-युग की नवीन

---

1 प्राचीन भारत की मृण्मयी मूर्तियाँ ('कादम्बिनी', अगस्त, १९६७) : राजेन्द्र पांडेय

साहित्यिक एवं शास्त्रीय रूढ़ियों और परंपराओं के बल पर संभव हो सका था। मथुरा के वेदिका-स्तंभो की यक्षिणियो की मासल कामुकता को गुप्त-मूर्तिकला की विमोहक कन्याओं तथा चाँवरधारिणी कुमारिकाओं के त्रिभंग-मुद्रात्मक प्रतीकों में पुनः प्रस्तुत किया गया।

गुप्त-कालीन साहित्य के समान, गुप्त-कला मे भी मानव के शारीरिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक सौंदर्य के प्रतिमान स्थापित किए गए हैं। ··· ···गुप्त-काल मे निर्मित नारी की अनेक नग्न मूर्तियाँ लयात्मक दैहिक सौंदर्य से कपित, किन्तु फिर भी निर्मल और संयत हैं।

तान्त्रिक मूर्तियो मे न तो प्रेम मे विषयासक्ति है और न काम को लेकर नाक-भौ ही सिकोडी गई है। उसमे नर-नारी असख्य प्रकार के आलिंगनो में दिखाए गए हैं, जो ईश्वर मे हो रही आत्मा के परमानद के प्रतीक हैं।

तान्त्रिक परपरा का, विशेषतया उसके सहज रूप का, भारतीय कला पर जो प्रभाव पडा, उसका सर्वश्रेष्ठ रूप उत्तर-मध्ययुग (ईसवी सन् की लगभग ग्यारहवी और बारहवीं शताब्दी) के पूर्वी भारत की शिव और उमा की सयुक्त प्रतिमाओ मे मिलता है। उसमे लालित्य और शक्ति का, मानवीय सवेदनशीलता और आत्मिक भावमग्नता का, शारीरिक कोमलता और कमनीयता तथा आकार-मातृका और रूप के कडे सयम का अद्भुत सयोजन हुआ है।

इससे बहुत पहले हमें उमा-सहित प्रतिमाएँ गुप्तकालीन देवगढ़-मदिर के द्वार मार्ग और सुदूर इण्डोनेशिया मे लगभग छठी शताब्दी के समय की मिलती हैं, जिनपर पल्लव-कला का प्रभाव है। तान्त्रिकवाद ने भी पूरे देश में एक रोमाटिक अभिव्यजनवादी कला को जन्म दिया था। तान्त्रिक कला में सुर-सुन्दरी, अप्सरा या नायिका की मूर्ति के प्रतीको द्वारा विश्वमोहिनी माया की अभिव्यक्ति आकर्षक ढग की हुई। मध्ययुगीन मदिरो के हर आले, दीवारो या कोने मे इस कला के चित्र हमें मिलते हैं।

भारतीय कला के प्रतीकात्मक रूप की शायद सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति एलिफेंटा की गुफा (ई० सन् की आठवीं शताब्दी) मे शिव-महेश्वर की विख्यात आध्यात्मिक मूर्ति में हुई है। इस प्रतिमा मे बीच का मुख स्वयं-प्रभावित, निरपेक्ष और पारलौकिक तत्पुरुष सदाशिव का है; दायाँ मुख उग्र, भृकुटी ताने हुए तथा वैराग्य और विनाश की भावना से उद्धृत अघोर भैरव का है, और

बायाँ मुख है शिव की संगिनी, परम सौंदर्यमयी, आभूषण-युक्त उमा का।

इस आध्यात्मिक त्रिमूर्ति के कुछ दूसरे रूप मे, प्रशांत योगी के रूप में सदाशिव तो मध्य मे हैं, किन्तु दाईं ओर हैं खप्पड़ से रक्त-पात करते हुए महाकाल तथा बाईं ओर एक दर्पण मे प्रतिबिंबित ब्रह्माण्ड के रूप मे अपने सौंदर्य का अवलोकन करती हुई महामाया। यह शिव-त्रिमूर्ति भारतीय संस्कृति की विशिष्ट विषय-वस्तु का अद्वितीय और व्यापक प्रतीक है।[1]

अतः प्राचीन भारतीय कला की शाश्वत स्थिति के भीतर केवल मानव की चिर-भावनाओं का मूर्त रूप ही नहीं है, वरन् उसकी आध्यात्मिकता की आधार-शिला भी सन्निहित है। सौंदर्य ही ईश्वर है, वही सत्य है, भद्दापन ही तो पाप है, चाहे वह भद्दा आचरण हो, भद्दा भाव या रूप। कला हृदय और मस्तिष्क की अचेतन अवस्था के आतरिक सुप्त तारों को झंकृत करती है और उनकी भावना को प्रकट करती है। इसलिए भारतीय कला मे मानव की आध्यात्मिक कल्पना की सिद्धि का ही रूपान्तर मिलता है। भारतीय कला धार्मिक संस्कृति और नैतिक आदर्शों का वाहन रही है और समाज के विभिन्न अंगों को उत्तेजित करती रही है। यह कहना अनुचित नहीं होगी कि यथार्थ कला समाज की आत्मकथा है, उसके जीवन और आत्मा का प्रतिबिंब है। कला की श्रेष्ठता के लिए यह जरूरी है कि उसे देखकर दर्शक के हृदय और मस्तिष्क पर एक विशेष प्रकार की छाप पड़े। भारतीय कला सदा धर्म की सहचरी रही है। आर्य या हिन्दूधर्म की अद्भुत सहिष्णुता और संस्कृतियों ने विशिष्ट गुणों को आत्मसात करने मे योग्यता दिखाई है, जिसके परिणाम-स्वरूप हिन्दू, बौद्ध तथा जैन-कला को साथ-साथ पनपने का अवसर मिलता रहा। भारतीय आचार्यों और दार्शनिकों ने इस स्थूल सत्य को भी मान लिया कि अधिकतर सभी व्यक्तियों का बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास एक-सा नहीं होता, किन्तु अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति मे प्रत्येक व्यक्ति की एक ही अभिलाषा उचित और प्रशंसनीय है। इसलिए हिन्दू-धर्म मे अपने-अपने अधिकार और योग्यता के आधार पर धर्मपथ की विभिन्न पगडंडियाँ निर्धारित की गईं अथवा मान ली गईं। एक स्तर के धर्मार्थियों के लिए जहाँ मूर्ति की आवश्यकता

---

1. भारतीय कला—प्रतीक और प्रतिमान ('नवनीत', नवम्बर, १९६०): राधाकमल मुखर्जी

अनिवार्य है, वहाँ पहुँचे हुए अध्यात्मवादियों के लिए मूर्ति का सहारा अत्यन्त आवश्यक है।

हिन्दू-धर्म भक्ति-प्रधान धर्म है। भक्तिपथ के आरंभ और विकास का इतिहास विवादग्रस्त है, जैसाकि हम इस ग्रंथ के पूर्व पृष्ठों में देख चुके हैं। भक्ति-पंथ का मूलाधार व्यक्ति की अपने विशेष इष्टदेव पर अटूट श्रद्धा है और वह अपने देवता में ही सब गुणों और सभी शक्तियों का अस्तित्व मानता है। वह अपने देवता की मूर्ति मे इसी भाव और शक्ति की प्रतिच्छाया देखना चाहता है। इसलिए भगवान के अद्भुत रूप और अगणित पौराणिक चमत्कारों का सादृश्य प्रकट करने के प्रयास मे अनेक देवी-देवताओं के अनेक रूपों की मूर्तियाँ बनने लगी।

यूनानी कला से तुलना—यह सत्य है कि मानव-समुदाय मूलतः एक है, फिर भी मानव-जाति की प्रत्येक शाखा ने अपनी संस्कृति और अभिव्यक्ति के साधन और तरीकों को विभिन्न रूपों मे अपनाया है। इसी कारण भारतीय और यूनानी कला एक-दूसरे से दूर हैं। यूनानी मूर्ति-कला की विशेषता है प्राकृतिक सौंदर्य का यथार्थ दिग्दर्शन। यूनानी देवी-देवताओं की नग्न मूर्तियों मे हम शारीरिक सौंदर्य, सुघड और आकर्षक चेहरे और पूर्ण विकसित मांसल पुष्ट शरीर की वस्तुतः निर्दोष आकृतियाँ देखते हैं। आँखों का सुन्दर और आकर्षक लगनेवाली ये मूर्तियाँ इतनी वास्तविक है कि इनके कलाकारों की प्रशंसा करना स्वाभाविक है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि यूनानी कला यथार्थवादी (Objective) है। इसके विपरीत भारतीय कला मे यथार्थवादिता कम और भावनात्मकता (Subjectiveness) पूर्ण रूप से विकसित है। इसीलिए कहीं-कहीं भावना को पूरी तरह प्रदर्शित करने के लिए काल्पनिक रूपों का भी सहारा लिया गया है, जिसके कारण यथार्थता गौण से गौणतम होकर रह गई है। इसी के फलस्वरूप आज के भौतिकतावादी युग मे भारतीय कला का मखौल भी उड़ाया जाता है। पर प्राचीन भारतीय कला का आदर्श और उसकी परंपरा दूसरी है। भारतीय कलाकार यथार्थ और प्राकृतिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति-मात्र को ही अपना इष्ट नहीं मानते थे। वे मूर्तियों मे सौंदर्य की अपेक्षा आंतरिक भावों को सुन्दर और पवित्र मानकर उन्हें मूर्त के रूप मे

प्रकाशित कर अपनी कृति को सफल मानते थे। चार हाथवाले विष्णु, अष्ट-भुजी दुर्गा, नटराज शिव, योगासन में बैठे बुद्ध की भू-स्पर्श मुद्रा अथवा तीर्थंकरों के शान्त रूप मे हम आतरिक भावों की अदभुत झलक देखते हैं। हाँ, यह आवश्यक है कि मूर्ति मे प्रकट किए गए भावो को समझने के लिए मूर्तिकार-सी आँखे और उनके-सा मस्तिष्क भी होना चाहिए। भारत मे मंदिरों के पुजारी मूर्ति के दर्शनार्थियो को मूर्ति के भावो को समझाते पाए जाते हैं। इस प्रकार भारतीय ओर यूनानी कला मे बहुत बडा अतर और भेद है। पहले मे आत्मा की प्रधानता है तो दूसरे मे मस्तिष्क की। यूनानी उदाहरणो मे हम आतरिक सौदर्य से विलग होकर शारीरिक कमनीयता और उसके अगो की स्पष्टता के चकाचौध मे ही पडकर रह जाते हैं और मूर्ति के भीतर छिपी आत्मा को पहचान ही नही पाते। हमारी दृष्टि और हमारा दिमाग मानव-शरीर की इस विलक्षण बनावट पर ही स्थिर होकर रह जाता है। पर भारतीय कला द्वारा बनाई गई मूर्ति को देखने के साथ ही शरीर-रचना से हटकर उसमे अभिव्यक्त भावो, आदर्शों एव आध्यात्मिकता की ओर हमारा मन अग्रसर हो जाता है। बाह्य दृष्टि से अधिक हमारी आतरिक दृष्टि को तृप्ति मिलती है। यहाँ की मूर्तियो के दर्शन करने पर हमारा चचल मन निर्मल और शान्त हो जाता है और हमे आध्यात्मिक प्रेरणा मिलनी शुरू हो जाती है। प्रतिमाएँ दर्शक और भक्त को ध्यानावस्था और आत्मिक तत्त्वो के ज्ञान की ओर ले जाती हैं। वास्तव मे ये प्रतिमाएँ तो मूक हैं, मानव-निर्मित हैं और निर्जीव हैं। पर सत्यता यह है कि कलाकार उन प्रतिमाओ मे ऐसा हाव-भाव भर देता है कि दर्शक भूल जाता है कि वह एक मूक तथा निर्जीव मूर्ति के सम्मुख खडा है, बल्कि वह तो अपने इष्ट की शरण मे अपने को पाता है, जो उसके दुःख दर्द को मिटाने मे समर्थ है, जो उसकी कामनाओ को पूर्ण करने मे अपनी सारी ममता को उडेलता मालूम पडता है, जो उसे पारलौकिक सुख का आश्वासन देता है। यूनानी मूर्ति-कला मे भावात्मक तत्त्व का बडा अभाव है। 'मेरी माँ' की प्रतिमा मे 'पवित्र मेरी' सिर्फ एक निर्दोष नारी दीख पडती है। किन्तु बुद्ध की मूर्ति मे आध्यात्मिक उडान के द्वारा ईश्वर की अगोचर महिमा का साक्षात् किया जा सकता है। आध्यात्मिकता से अनुप्राणित कला का महत्त्व देश और काल से परे है।

मूर्तिकला और स्थापत्य-कला के कुछ प्रमुख स्थान

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक मंदिरों में मूर्ति-कला एवं स्थापत्य-कला का ज्वलंत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इनमे (१) कोणार्क, (२) खजुराहो, (३) एलोरा, (४) दिलवारा, (५) रामेश्वरम, (६) जैसलमेर, (७) बोधगया, (८) श्रवणबेलगोल, (९) मीनाक्षी, (१०) शिवखारी, (११) कुम्भकोणम्, (१२) बेलूर, (१३) त्रिपुरी, (१४) एकलिंग, (१५) चिदम्बरम्, (१६) ग्वालियर, (१७) आमेर, (१८) वृन्दावन, (१९) दशपुर, (२०) किम्वी, (२१) एलिफेंटा, (२२) डिपचली, (२३) नेपाल और (२४) साँची और भरहुत प्रमुख है।

१. कोणार्क—कोणार्क का सूर्य-मंदिर भारतीय वास्तुकला के इतिहास का एक स्वर्णिम तथा शाश्वत पृष्ठ है। उडीसा मे चंद्रभागा नदी के तट पर निर्मित यह अनुपम मंदिर भारतीय जीवन, संस्कृति, दर्शन और समाज के साथ प्रणय और वीरता का प्रतीक है।

बारह सौ शिल्पियो ने निरतर सोलह वर्षों तक इसके निर्माण में श्रम किया और तत्कालीन राजा ने अपने राज्य का बारह वर्ष का लगान इसमें खर्च किया। इसमे लगा धन, श्रम और समय व्यर्थ नही गए। कोणार्क की भव्यता, विशालता, सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति, सज्जा, यथार्थ दर्शन एवं कल्पना-शक्ति पिछले सात सौ वर्षों से कला-विवेचकों और सामान्य दर्शको का समान रूप से मुग्ध करती आई है।

सूर्यदेव का यह विशाल मंदिर अन्य मंदिरो से इस बात मे भिन्न है कि इसमे कोई मूर्ति नही है। फिर भी उड़ीसा के जन-जीवन मे आज भी इसका जाग्रत स्थान है। वर्ष मे एक बार माघ-शुक्ल सप्तमी को कोणार्क के प्रांगण मे भक्ति-भाव से भरे नर नारियो की विशाल भीड एकत्र होती है। इस तरह इस दिन यह मंदिर अपरिमित भीड द्वारा सूर्य देवता के प्रति प्रकट की गई श्रद्धा से मुखरित हो उठता है। इसकी जीर्ण दीवारो से सूर्य भगवान के जय जयकार तथा स्तोत्रों एव मत्रो की ध्वनियाँ टकराकर गूँज उठती है और सच्चे हृदयो एवं भाव कंपित कठो से निकले भजन इसके विशाल प्रांगण को भक्तिरस की लहरों से प्लावित कर देते हैं।

मंदिर के रथ के पहिए, उसमें जुते सात घोडे और उसपर सारथि के बैठने का स्थान कलात्मक दृष्टि से बने हैं। इसीलिए यह सूर्य-मंदिर अपनी

कला के लिए विश्व का सर्वश्रेष्ठ मंदिर कहे जाने का अधिकारी है। इसकी स्थापत्य-कला अद्भुत है। नवग्रह की मूर्तियाँ, जो एक ही अखण्ड शिला में हैं, दर्शकों को आश्चर्यित कर देती हैं। मंदिर के चारों ओर निम्न भाग में घोड़े-हाथी सदृश पशुओं तथा भयंकर युद्धों के सुन्दर तथा आकर्षक दृश्य अंकित हैं। इन दृश्यों के देखने से सर्वत्र विजय, शौर्य और आत्म-विश्वास का उल्लास दृष्टिगोचर होता है। युद्ध का ऐसा सजीव और सशक्त दृश्य उड़ीसा के किसी अन्य मंदिर में देखने को नहीं मिलता। कुशल हाथों द्वारा निर्मित इस शिल्प-कृति के अवशेषों को देखकर आज भी दर्शक आश्चर्य में स्तंभित हो उठते हैं और उनका हृदय शिल्पियों के प्रति प्रशंसा से भर उठता है और वे इस अलौकिक कला को देखकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं।

कोणार्क-मंदिर का प्रमुख आकर्षण इसकी प्रणय-मूर्तियाँ हैं। प्रेमार्पण की विभिन्न उल्लसित मुद्राओं, सुख-विनिमय के सम्मोहक क्षणों और प्रणयी मन की संवेदनशीलता को इस कुशलता से अंकित किया गया है कि दर्शक दाँतों-तले अंगुली दबाकर रह जाते हैं, मानो इन मूर्तियों का निर्माण मानव-शिल्पियों ने नहीं, वरन् महान प्रेमी आत्माओं ने किया होगा।

शिल्पियों की कुशलता एवं रस-सृजन-क्षमता चुम्बन आदि शृंगारिक विषयों में नहीं, अपितु सैनिकों की पत्नी और बच्चों से विदाई, गायकों एवं गोतज्ञों का उल्लास आदि विषयों में भी अपूर्व रूप से प्रकट हुई है। प्रभात, मध्याह्न और सायंकाल के सूर्य की तीन मूर्तियाँ अपने भाव-सौंदर्य की अमिट छाप दर्शकों पर छोड़ती हैं। पशुओं तथा पक्षियों का चित्रण भी उतनी ही भावनाशीलता के साथ किया गया है। हाथियों का अंकन इसका नमूना है।

मंदिर के बाहर 'संसार' नाम की एक मूर्ति है, जिसमें लौकिक जीवन से संबंधित प्रत्येक वस्तु को अंकित किया गया है। प्रणय के प्रत्येक बंधन और उसकी आकांक्षा की इसमें जीवंत तथा समर्थ अभिव्यक्ति है।

वस्तुतः संपूर्ण मंदिर उस युग के स्थपतियों के इंजीनियरी-कौशल का द्योतक है। मंदिर में सौ फुट से लेकर चार सौ फुट तक की ऊँचाई के अनेक शिला-खंड लगाए गए हैं। आधुनिक क्रेनों और वाहनों के बिना इतने अत्यन्त भारी सामान वहाँ किस तरह उठाकर लाए गए तथा दीवारों में जोड़े गए, यह कल्पनातीत और विस्मय से पूर्ण है।

आकार, श्रम, शिल्प और कला—सभी दृष्टियो से कोणार्क महान है। कला ही इसे काल के क्रूर और कठोर प्रहारो के बावजूद आज तक अमर बनाए हुई है।

कोणार्क पुरी से ५४ मील और भुवनेश्वर से ४४ मील की दूरी पर है। मदिर से ग्राम ४ मील पर है। यहाँ ठहरने की सुविधा नही है। अतः यात्री उसी दिन पुरी या भुवनेश्वर चले आते है। भारत-सरकार के पर्यटन-विभाग की ओर से एक सुन्दर विश्रामालय बनवाया गया है। इसमे ठहरने और भोजन, दोनो की सुव्यवस्था है, पर इसका व्यय इतना अधिक पडता है कि सपन्न यात्रियो को छोडकर शेष इसका उपयोग करने मे असमर्थ होते है। इस मंदिर से समुद्र-तट एक मील दूर है।[1]

(२) खजुराहो—खजुराहो या खजरहा मध्य-भारत के छतरपुर जिले में एक छोटा-सा गाँव है, जो पन्ना-छतरपुर-मार्ग से ७ मील दूर उत्तर की ओर स्थित है। एक हजार वर्ष पूर्व यह एक विस्तृत नगर था। इसका एक द्वार दो खजूर-वृक्षों से अलकृत होने के कारण यह खजुराहो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस नगरी मे कुल मिलाकर ८५ मदिरो का निर्माण हुआ था, जिनमे अब लगभग २५ मंदिर बच गए हैं। आठ मील के क्षेत्र मे फैले खजुराहो के मैदानो मे, खेतों मे, खलिहानो मे, कुओ, बावलियो एव मकानो मे अनगिनत मूर्तियाँ सुरक्षा के अभाव मे यत्र-तत्र बिखरी पडी है।

खजुराहो के मदिरो का निर्माण-काल दसवी और ग्यारहवी सदी है। उस समय चदेल-वशवालो का वहाँ प्रभुत्व था। भारतीय इतिहास में यह उत्तर-मध्यकाल कहा जाता है। इसको हम यदि मदिर-युग कहे तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस युग मे कोणार्क, भुवनेश्वर, पुरी, आबू, हालोविद, तंजोर, प्रभास-पट्टनम, गिरनार, शत्रुंजय, भेडाघाट, अमरकंटक, ग्वालियर, उदयपुर आदि स्थानो मे भी भिन्न-भिन्न शैलियो के मंदिरों का बडी संख्या में निर्माण-कार्य प्रारभ हुआ। खजुराहो की मंदिर-निर्माण-शैली उत्कृष्ट और अनुपम है। ये मदिर शिखर-शैली के अनूठे और विशुद्ध नमूने हैं। यहाँ के मदिर विशाल होने पर भी बहुत कलात्मक बने हैं। इनकी शैली उत्तर भारतीय ढंग की, पर विकसित रूप में है। भवन-निर्माण-कला की दृष्टि से यह अद्वितीय है। प्रत्येक

1. पत्थरों में लिखा गीत ('[illegible]', [illegible], [illegible]) : सुशीला ठाकुर

मंदिर काफी ऊँची कुर्सी पर स्थित है और उसका बाहरी भाग उभरी हुई नक्काशी से अलंकृत है। अकेले कंधारिया मंदिर मे ही ५६० के लगभग चित्रकारियाँ हैं।

हिन्दू, जैन और बौद्ध—तीनो धर्मों के मंदिरो का निर्माण खजुराहो मे हुआ। चंदेल-वंशी राजे शैव थे और उनकी कुलदेवी मनिया थी। स्वभावतः यहाँ शैव और शाक्त संप्रदायो की कृतियो की अधिकता और प्रमुखता थी। अर्द्ध-मंडप, मंडप, महामंडप, अंतराल, विमान, गर्भगृह और शिखर—इन मंदिरो का शैली-वैशिष्ट्य है। कंदरिया महादेव का मंदिर इन सब मंदिरो मे मुख्य है। यह खजुराहो का सबसे विशाल और सबसे सुन्दर मंदिर है और पंचायत-शैली पर बना है। जमीन से ११६ फुट ऊँचा उठकर जिस सुदृढ़ता से यह खड़ा है, वह देखते ही बनता है। कारीगरो ने इसको विशाल विस्तृत कुर्सी के नीचे भारी-भारी चबूतरे देकर इसकी शान और भी बढा दी है। इसके क्रम से छोटे होते गए एक के ऊपर दूसरे शिखर-समूह बड़े ही भव्य मालूम पड़ते हैं। इस कला मे कैलास-पर्वत की अभिव्यक्ति होती है। प्रदक्षिणा-पथ मे सुन्दर-सुन्दर स्तंभ हैं तथा चारो तरफ भव्य ऊँचे झरोखे बने है। मंदिर का चप्पा-चप्पा आलंकारिक अभिप्रायो से परिपूरित मूर्तियो से ढंका है। पूरे मंदिर की लंबाई १०३ फुट और चौड़ाई ६७ फुट है।

लक्ष्मण वर्मन द्वारा निर्मित लक्ष्मण-मंदिर दूसरा प्रमुख स्थान रखता है। यह विष्णु को समर्पित है। राजा लक्ष्मण सेन ने कन्नोज के राजा देवपाल से विष्णु भगवान की प्रतिमा प्राप्त करके इसमे प्रतिष्ठित कराई थी।

मातंगेश्वर महादेव का मंदिर पवित्रतम माना जाता है। इसका निर्माण ग्यारहवीं सदी मे हुआ था। तब से आज तक यह उसी प्रकार पुण्य और पूज्य है। आठ फुट ऊँचा और ३ फुट ८ इंच गोला शिवलिंग चमकीला और ओपदार है। चित्रगुप्त या भरत जी का मंदिर उतना ऊँचा और विशाल नहीं है, फिर भी शोभनीय है। भगवान सूर्य की पाँच फुट ऊँची प्रतिमा इसमे प्रतिष्ठित है। भगवान सूर्य सप्ताश्व-रथ पर सवार है और उनके पैरो मे बड़े तथा ऊँचे जूते है। इसी तरह अल्मोड़ा के पास कटारमल मे भी भगवान सूर्य ऊँचे जूते पहने दिखाए गए हैं।

विश्वनाथ-मंदिर का नंदी-मंडप अनुपम है। ३१ × ३१ वर्गफुट के विस्तृत मंडप में स्थित चमकीले ओपदार सजीव नंदी के दर्शन कर आँखें वहीं उलझी

रह जाती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि नंदी महाराज अपने स्वामी विश्वनाथ के चरणों मे शांत और भाव-विभोर होकर बैठे हैं। इस प्रतिमा की ऊँचाई ६ फुट, और लंबाई सवा सात फुट है। इससे भी अधिक कौतूहल और आश्चर्य की वस्तु है वहाँ स्थित वराह-प्रतिमा। यह भी एक ही पत्थर के खंड से निर्मित है। इसकी माप २० ½' × १६' है। उन्नत-ग्रीव वराह के शरीर-भर में देवताओं की छोटी-छोटी प्रतिमाएँ हैं। हिरण्याक्ष ने पृथ्वी का भक्षण कर लिया था और पृथ्वी के उद्धार के लिए विष्णु भगवान ने वराह का रूप धारण कर हिरण्याक्ष का वध किया था—वही दृश्य यहाँ दर्शाया गया है।

छह फर्लांग दूर गाँव की दूसरी ओर जैन-मंदिरों का समूह है। इनमे आदिनाथ, पार्श्वनाथ और शांतिनाथ के मंदिर मुख्य हैं। १५ फुट ऊँची शांतिनाथ की मूर्ति की ध्यानस्थ अवस्था अतीव शांति प्रदान करती है। आदिनाथ और पार्श्वनाथ के मंदिर हिन्दू-शैली से मिलते-जुलते हैं। इनके बाह्य भाग भी उभरी हुई नक्काशी और सुन्दर मूर्तियों से भरे हैं। इन मूर्तियों मे बलखाती भंगिमा इतनी अतिरंजित है कि वास्तविकता से उसका कोई संबंध नहीं रह जाता, पर उसमे आसक्तता छू तक नहीं गई है।

जैन-मंदिरों मे अश्लील मूर्तियों का कोई स्थान नहीं है, जबकि हिंदू-मंदिरों मे उनकी भरमार है, क्योंकि तांत्रिकों का प्रभाव हिंदू-मंदिरों के निर्माण पर पड़ा था। इन तांत्रिकों ने अपने कुत्सित कर्मों को धर्म की आड़ मे प्रश्रय देकर शिव और शक्ति के संभोग से संसार की उत्पत्ति के सिद्धान्त का जिस बीभत्स रूप मे प्रदर्शन किया, उसमे आध्यात्मिक विचारवाले पुरुषों की क्या स्थिति रहेगी ?[1]

(३) एलोरा—एलोरा पहले निजाम के हैदराबाद, राज्य मे था, किंतु उसके भारत मे विलीन हो जाने के पश्चात् अब यह महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले के अंतर्गत है। एलोरा जाने के लिए मध्य रेलवे के दिल्ली-बंबई रेल-पथ के मनमाड रेलवे स्टेशन पर उतरना पड़ता है। यहाँ से छोटी लाइन द्वारा, जो सिकंदराबाद तक जाती है, औरंगाबाद तक जाना होता है। यहाँ से बस द्वारा वारुल, जो एलोरा का स्थानीय नाम है, जाना पड़ता है। मार्ग में दौलताबाद का किला पहाड़ के ऊपर दीख पड़ता है।

1. मंदिरों का खजुराहो नगर ('धर्मयुग', जुलाई, १९५१) : बालचंद्र जैन

एलोरा में आठवीं सदी में कैलास-मंदिर का निर्माण हुआ था, जो पूरा-का-पूरा पर्वत काटकर बनाया गया था। मंदिर का आँगन २६० फुट लंबा और १६० फुट चौड़ा है। इस आँगन के बीचोबीच एकलिंग देवालय है, जो ९६ फुट ऊँचा है। इसके आगे १६ खंभो पर स्थित एक मंडप है। इसी के सामने एक पृथक नंदी-मंडप है, जो कम सुन्दर नहीं है। शिव की लीलाओं तथा विविध अवतारो की मूर्तियाँ, जो मंदिर के भीतर विद्यमान हैं, कला के उत्कृष्ट नमूने है। सबसे आकर्षक और महान यही गुफा-मंदिर है। इसके अलावा कतिपय हिंदू, जैन और बौद्धगुफा-मंदिर हैं।

एलोरा की गुफाओं की संख्या ३४ है। इनके पास पक्की सड़क बनाई गई है। पहाड़ पर एक बँगला बना है। नीचे ठहरने के लिए छोटी-छोटी गुमटियाँ बनाई गई हैं। सड़क पहाड़ पर स्थित बँगले तक गई है। यहाँ के दर्शनीय गुफा-मंदिर को देखने के लिए दूर-दूर से देश-विदेश के यात्री आते हैं। इन ३४ गुफाओं में एक से लेकर दस तक बौद्धों के अधिकार में हैं। उनमे बुद्ध तथा अन्य बौद्ध देवताओं की विशाल मूर्तियाँ हैं। ११ से २८ तक सनातन वैदिक धर्मावलंबियो के इष्टदेवो के मंदिर तथा मूर्तियाँ एवं गुफाएँ है। २९ से ३४ तक की गुफाओं में जैन तीर्थंकरो की मूर्तियाँ हैं। इन सबमे महान कैलास-मंदिर-गुफा है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। ये गुफाएँ पहाड़ काट-काटकर कितनी कठिनता, परिश्रम और व्यय से बनाई गई होगी, इसका अंदाज लगाना आसान नहीं है। पर आज, जन-शून्यता के कारण यहाँ भयंकरता घोर रूप मे निवास करती है। अकेले-दुकेले मनुष्य को इसमे घुसते ही भय आक्रांत कर लेता है। इसके कुछ प्रमुख गुफा-मंदिरो का वर्णन इस प्रकार है—

(१) जगन्नाथ-गुफा—इसके प्रवेश-द्वार पर प्रायः तीन हाथ लंबी श्रीजगन्नाथ की ध्यानस्थ मूर्ति है। गुफा के भीतर दो घर है। भीतरवाले घर मे १२ खंभे हैं और नाना प्रकार की मूर्तियाँ हैं। इसका प्रवेश-द्वार ३ फुट ऊँचा है।

(२) आदिनाथ-गुफा—गुफा के ऊपर श्री लक्ष्मी-नारायण की मूर्ति है और भीतर तीन हाथ ऊँची तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति है।

(३) इन्द्रसभा-गुफा—इसके भीतर और भी कई गुफाएँ हैं। यह बहुत सुन्दर गुफा है। यह गुफा पहाड़ काटकर मंदिर के रूप में बनाई गई है। बीच के सिंहासन पर ध्यान-निरत एक मुनि-मूर्ति है। [illegible] [illegible] एक हाथी और

तपस्वियो की मूर्तियाँ हैं। थोडी दूर पर ऐरावत हाथी की मूर्ति के ऊपर इन्द्र की मूर्ति है और उसके पास सिंह पर बैठी चार सखियों से युक्त इन्द्राणी हैं। इन्द्राणी की गोद में एक बालक है। इसमे १२ खभे हैं।

(४) **परशुराम-गुफा**—यह अतीव मनोहर है।

(५) **कैलास या नीलकंठेश्वर-गुफा**—इसमें प्रवेश-द्वार पर नंदीश्वर की मूर्ति और भीतर एक विशाल शिवलिंग है। इसके अतिरिक्त इसमे कार्तिकेय, गणेश, सरस्वती प्रभृति देव-देवियो की भव्य मूर्तियाँ हैं।

(६) **श्री रामेश्वर-गुफा**—इसके द्वार पर भी नदीश्वर-मूर्ति है। मूर्ति की बगल मे एक जलपूर्ण कुंड है और भीतर गुफा मे शिवलिंग है। इस गुफा के भीतर और भी आश्चर्यप्रद मूर्तियाँ हैं।

(७) **जनवास-गुफा**—इसमे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वराहदेव और कुंभकरण की एक भयकर मूर्ति है।

(८) **दशावतार-गुफा**—इस गुफा में दशावतारो की लीला तथा गणेश, पार्वती, सूर्य आदि अनेक देवो की मूर्तियाँ स्थापित हैं।

देखने से यह ज्ञात होता है कि मध्य मे और ठीक स्थान पर होने के कारण हिन्दुओ के गुफा-मदिर सबसे प्राचीन हैं। अनतर बौद्ध और जैन-धर्मावलबियो ने स्पर्द्धावश अपने मदिर बनाए थे। यह धारणा इस बात से भी पुष्ट होती है कि इन ३४ गुफा-मदिरो मे सबसे महान कैलास-मदिर है और वह प्रायः मध्य मे स्थित है। जहाँ-जहाँ जो जैन-मदिर हैं, वे कला और सौंदर्य के दर्शनीय नमूने हैं, किन्तु एलोरा के जैन-गुफा-मदिर हिन्दू और बौद्ध-गुफा-मंदिरों की तुलना मे अपेक्षाकृत साधारण हैं। ज्ञात होता है कि किसी समय यह स्थान कोई महत्त्व रखता था, जिसके कारण हिन्दू-मंदिरो के निर्माण के बाद बौद्धों और जैनियो ने भी यहाँ अपने-अपने गुफा-मंदिर बनवाए।

पास ही लगभग एक मील दूर श्री घुरमेश्वर ज्योतिर्लिंग तीर्थ है। यहाँ इनको घृष्णेश्वर जी कहते है। किन्तु कथानक से ज्ञात होता है कि इनका शुद्ध नाम घुरमेश्वर जी है। भगवान घुरमेश्वर जी का मंदिर पत्थर का बहुत सुदृढ़ बना हुआ है। यह रानी अहल्याबाई की सुकीर्ति है। मदिर बस्ती से बाहर हैं और चारो ओर सामान्य जगल-सा है। मदिर की बनावट सुन्दर है। सभा-मंडप में गच पर कच्छप-मूर्ति है। भगवान घुरमेश्वर जी की मूर्ति एक हाथ से कुछ अधिक ऊँची है।

(४) **दिलवारा**—अहमदाबाद-दिल्ली रेल-पथ पर आबू रोड है। वहाँ से लगभग १८ मील दूर पहाड पर माउण्ट आबू नामक पहाडी नगर है। नगर सुन्दर, स्वच्छ और दर्शनीय है। यहाँ से सूर्यास्त का दर्शन बडा ही मनोहर होता है। इस दृश्य के अवलोकन हेतु दूर-दूर से लोग यहाँ आते हैं। लेकिन, यहाँ आकर एक जगत्प्रसिद्ध जैन-मदिर देखन का प्रलोभन नही रोक सकते।

माउण्ट आबू से डेढ़ मील पर दिलवारा गाँव है। यही पर वह जगत्प्रसिद्ध जैन-मंदिर है। इस मदिर की कारीगरी को देखकर मन विस्मय विभोर हो उठता है। ताजमहल को छोडकर भारत मे अन्यत्र पूरा सगमरमर का बना कोई भवन या मदिर कारीगरी मे इस मदिर की स्पर्द्धा नही कर सकता। यहाँ की सगमरमर पर की गई पच्चीकारी अद्भुत है। सबसे आश्चय की बात तो यह है कि किस तरह इतने ऊँचे पहाड पर पत्थर के विशाल भारी-भरकम टुकडे पहुँचाए गए! अनुमान नही लगाया जा सकता कि इस मदिर के निर्माण मे कितनी धन-राशि का व्यय किया गया होगा। किसी भी सप्रदाय के लोग बेरोक-टोक इस मदिर के भीतर आकर दर्शन कर सकते हैं।

विमलसाह-जिनालय मे तीर्थंकर आदिनाथ की अत्यन्त भव्य मूर्ति है। मूर्ति की आँखो की पुतलियाँ जवाहरात की हैं और गले मे बहुमूल्य रत्नो का हार है। मदिर के ठीक सामने एक बडा सभा-मडप है। इसके खंभो पर सुन्दर कारीगरी तथा पच्चीकारी की गई है। मानो कठोर पत्थर को भी मोम की भाँति मुलायम बनाकर बारीक काम किए गए हैं। इन कामो को मत्रमुग्ध होकर देखनेवाले दर्शको का घटो का समय कब बीत गया, पता नही चलता। वास्तव मे भारत की स्थापत्य-कला का यह एक अनोखा नमूना है। इस मंदिर के चारो तरफ बावन छोटे-छोटे मदिर हैं, जो एक समान दीखते है। भिन्नता केवल मूर्ति की पालथी के निचले भाग से प्रकट होती है। एक हाथी है, जिसमे प्रस्तर की दस हाथी-मूर्तियाँ हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन कारीगरी मे कितना अतर है, यह दीवारो पर जगह-जगह की गई मरम्मत से स्पष्ट हो जाता है, मानो नए कपडे मे पुराना पेबद लगा दिया गया हो। बड़े मदिर के बनवाने मे छप्पन लाख रुपए खर्च हुए थे।

यहाँ का दूसरा प्रसिद्ध मंदिर श्री नेमिनाथ भगवान का है। इस मंदिर में देवरानी और जेठानी के 'गोख' बहुत प्रसिद्ध है। सिर्फ इसी की कारीगरी में सवा लाख

रुपए खर्च हुए थे। इसका कला-शिल्प उच्च कोटि का है, जिसकी प्रशंसा विदेशी यात्री भी खूब करते हैं।

(५) **रामेश्वरम्**—रामेश्वरम् भारत के अंतिम छोर समुद्र के दक्षिण-पूर्व तट पर है। मद्रास से गाड़ी सीधे रामेश्वरम् जाती है। भगवान शिव के बारह ज्योतिर्लिगों मे ग्यारहवाँ ज्योतिर्लिग रामेश्वरम् मे स्थापित है। यह मद्रास से दक्षिण ४१८ मील की दूरी पर है।

यहाँ का शिव-मदिर विशाल है। मदिर के चारो ओर एक ऊँचा परकोटा है। इसमे गोपुर (प्रवेश-द्वार) बने हुए हैं। इन गोपुरो पर कलात्मक मूर्तियाँ बनी हुई हैं। पूर्व का गोपुर सबसे उत्कृष्ट और १२९ फुट ऊँचा है। मुख्य मदिर का घेरा १,००० फुट लंबा, ६०० फुट चौडा और १०० फुट ऊँचा है।

मदिर की परिक्रमा के लिए चारो ओर विशाल बरामदा है। इसके दालानो मे चालीस-चालीस फुट ऊँचे खंभे लगे है, जो पत्थर के एक ही टुकडे के बने हैं। इन खभो पर रग-बिरग के देवताओ और जानवरो के चित्र बने हैं। इसके बरामदे की लंबाई ससार मे अपनी बराबरी नही रखती। इस मदिर के सम्मुख एक स्वर्ण-मडित खभा है और उसके पास ही सोने से अलकृत सफेद पत्थर का नदी है। यह एक विशाल मूर्ति है, जो ८ फुट लबी, ९ फुट चौड़ी और १३ फुट ऊँची है।

स्वय रामेश्वर की मूर्ति एक बहुत सुन्दर स्फटिक लिंग के रूप मे है। यह स्फटिक अल्प-पारदर्शी भी है। हिन्दुओ का महान तीर्थस्थान होने के अतिरिक्त यह भारतीय स्थापत्य-कला का एक उत्कृष्ट नमूना है।

(६) **जैसलमेर**—दसवी सदी मे यवनो के आक्रमण से यदि उत्तर-भारत का कोई राज्य विनष्ट नही हुआ, तो वह जैसलमेर था। यह जैसलमेर के साहसी एव वीर निवासियो के दृढ़ सकल्प का ही परिणाम था कि वे विदेशियो के चगुल मे विमुक्त रहे। फलस्वरूप वहाँ की प्राचीन सस्कृति और कला अक्षुण्ण रह गई। यह नगर जैन-मंदिरो और जैन-सम्प्रदाय का केन्द्र रहा है। यहाँ के जैन-ग्रंथ तालपत्रो पर सस्कृत तथा प्राकृत भाषा मे लिखे गए थे, जो संग्रहालय मे सुरक्षित हैं।

अपनी शिल्प-कला के लिए जैसलमेर प्रसिद्ध है। जैन-मंदिरो, राजभवनों, नगर की हवेलियो तथा किलो मे पत्थरो पर जो बारीक कारीगरी की गई है, वह इतने ऊँचे दरजे की है कि उसने भारत की कला-कृतियो मे चार चाँद लगा

दिया है। यहाँ के पत्थरो पर की गई उत्कृष्ट खुदाई का सागोपाग वर्णन 'इंडियन ऐण्टिक्वेरी' नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक मे किया गया है। जैन-मंदिरो के तोरणो, खंभो, प्रवेश-द्वार आदि पर लगे पत्थरो पर जो बारीक खुदाई पंद्रहवीं सदी मे की गई थी, वह अद्वितीय है और उसकी प्रशसा जितनी की जाए, थोडी ही होगी। इस कला मे सौदर्य के साथ-साथ गाभीर्य का भी यथेष्ट मात्रा मे मिश्रण है। इसी कारण एक मदिर मे एक हजार मूर्तियो के रहते हुए भी दृश्य मे सघनता अथवा अव्यवस्था नही मालूम पडती। जावा, सुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपो में, जिनका संबंध भारत के साथ अति प्राचीन है, पुरातन भारतीय शिल्प-कला के जो नमूने प्राप्त हुए हैं, वे जैसलमेर की शिल्प-कला के साथ सादृश्य रखते हैं।

जैसलमेर से चार मील दूर अमर सागर के मंदिर के मकरानी-पत्थर पर निर्मित जालियाँ शिल्पकला की दृष्टि से श्लाघनीय हैं। यहाँ से दस मील दूर लाद्रवा नगर मे प्राचीन भारत का विश्वविद्यालय था। यहाँ शिव-पार्वती के ८०० वर्ष पुराने मदिर है, जिनकी बनावट भव्य एवं विलक्षण भी है। इनमें तोरण-शैली का व्यवहार प्रचुरता के साथ किया गया है। यहाँ मेहराब दीख नहीं पडते। मंडप की छत पद्मो में विभाजित है। विभिन्न मुद्राओ मे निर्मित मूर्तियाँ मानव-जीवन की उच्चतम प्रेम-भावना को प्रकट करती हैं। चौबीस तीर्थंकरो की जीवन-गाथा उनकी प्रतिमाओ की विभिन्न मुद्राओं मे पढी जा सकती है। यहाँ के स्तभो, छतो एवं शिखरो के एक-एक पत्थर छोटे-छोटे मदिरो के दृश्य उपस्थित करते हैं। मदिर का भाग होने पर भी यहाँ के तोरण अपने-आप मे एक पूर्ण इमारत हैं। यहाँ के भवन सुन्दर होते हुए भी इतने मजबूत हैं कि ८०० वर्ष पुराने होने पर भी ये अच्छी स्थिति में हैं।

यहाँ का किला सवत् १२१२ वि० मे निर्मित हुआ था। उसमे एक हजार गृह बने हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि इस विशाल मरु-प्रदेश मे, जहाँ पानी तथा आवागमन के साधनों की बडी कठिनाई है, स्थापत्य-कला का इतना उत्कृष्ट नमूना क्योंकर निर्मित हो सका। आज के भारतीयो के लिए यह अच्छा उदाहरण है कि संघर्ष तथा अभाव के बीच मे भी रहकर मनुष्य परिश्रम के द्वारा ऊँची-से-ऊँची चीज प्राप्त कर सकता है। जैसलमेर ने स्थापत्य-कला के क्षेत्र मे भारत का गौरव कितना बढ़ाया, यह देश-विदेश के पर्यटको के मुख से उसकी उत्कृष्टता की प्रशसा से ही मालूम पडता है।

जैसलमेर राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी छोर पर स्थित है। पाकिस्तान की सीमा इससे मिलती है। पश्चिमी रेलवे के पोकारन स्टेशन से यह ५० मील दूर है।

(७) **बोधगया**—बोधगया बौद्धों का सबसे महान तीर्थ है। यही पर सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त किया था। बोधगया गया से १० कि० मी० पश्चिम है। यहाँ का बुद्ध-मंदिर अति प्राचीन है। इसमे भगवान बुद्ध की एक भव्य मूर्ति है। विशाल काले पत्थर के एक टुकड़े को तराश-तराश कर भगवान बुद्ध के रूप मे उसे परिणत कर दिया गया है। उस दिन जो पत्थर काल के अंतराल मे छिपा पड़ा था, उसे भारतीय कारीगरो ने अपने कुशल हाथों से एक पवित्र मूर्ति के रूप मे परिवर्तित कर दिया, जिसके श्रद्धापूर्ण दर्शन के लिए क्या दूर और क्या नजदीक, सभी जगहों से यात्री नित्य आया करते हैं, और उस स्थान का गौरव बढ़ा रहे है। किसी तीर्थ की महत्ता वहाँ पर बने मंदिर और उसमें स्थापित मूर्ति के कलात्मक स्पर्श से कई गुनी बढ़ जाती हैं। बोधगया का मंदिर तथा उसमें बुद्ध की मूर्ति भारतीय स्थापत्य-कला का एक नमूना-मात्र है, परंतु उसमे बोधिसत्व की भावना इतनी अधिक है कि वहाँ पर दर्शनार्थियों एवं पर्यटकों की नित्य भीड़ लगी रहती है।

बोधगया-मंदिर की वेष्टन-वेदिकाओ (रेलिंग) पर उत्कीर्ण चित्र उल्लेख्य हैं। इस पवित्र और प्रसिद्ध मंदिर मे सूर्य का चित्र है, जो धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है। सूर्य का रथ चार घोड़ो द्वारा खींचा रहा है। रथ एक पहिए का है। रथ पर बैठे सूर्य के पीछे एक चक्र-सी चीज उत्कीर्ण है। सूर्य के दोनों ओर एक-एक नारी-मूर्ति धनुष-बाण लिए हुई हैं, जो उषा और प्रत्युषा हैं। कुछ घायल इधर-उधर पड़े हैं। सूर्य के द्वारा अंधकार की शक्तियो के नाश का यह दृश्य है। घोड़ो की उठती टापो तथा मुद्रा से अविराम गति, स्फूर्ति और शक्ति की अभिव्यक्ति होती है, तथा घायलो के द्वारा अंधकार पर प्रकाश की विजय प्रतिपादित होती है। उत्तर-भारत की अधिकांश सूर्य-मूर्तियो मे पैर से ठेहुने तक फीतादार बूट और कमर मे अव्यङ्ग पड़ा है। यही वराहमिहिर द्वारा उल्लिखित उद्दीच्य-वेश है। यह पहनावा निश्चित ही ईरानी है। शक-कुषाण लोगो ने इस पहनावे का प्रचार भारत मे किया। भविष्य-पुराण से भी यही पुष्टि होती है कि शक-स्थान मे विश्वकर्मा ने सूर्य की मूर्ति बनाई।

दक्षिण-भारत मे सूर्य-मूर्ति-विज्ञान की एक अलग परंपरा है। बोधगया की मूर्ति भी उद्दीच्य-वेश मे नहीं है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि ईरानी पहनावे

में सज्जित सूर्य की मूर्ति बनाने के पहले ही भारत मे अपनी एक खास परंपरा थी। बोधगया की सूर्य-मूर्ति मे जुते चार घोड़े चार युगों का संकेत करते हैं। चार घोड़ो का रथ शक और यूनानी परपरा मे है, पर इस सादृश्य के अतिरिक्त भारतीय और विदेशी उदाहरणो मे कोई मेल नही है। रथ का पहिया एक है, जिससे एक वर्ष का बोध होता है।...इस प्रकार मौर्य-कालीन पाटलिपुत्र की सूर्य-मूर्ति और शुंग कालीन बोधगया की वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) पर उत्कीर्ण सूर्य-मूर्ति उद्दीच्य-वेशधारी सूर्य-मूर्ति की विदेशी परंपरा से भिन्न और प्राचीन है। जान पडता है कि प्राचीनकालीन सूर्य-मूर्तियाँ भारतीय परंपरा के अनुसार बनाई गई और बाद मे ईरानी परपरा के अनुसार, जब उत्तर-भारत मे उसका बोलबाला हुआ। फिर भी दक्षिण-भारत मे विशुद्ध भारतीय परंपरा ही जीवित रही।

बोधगया-मंदिर की वेष्टन-वेदिका के स्तभो पर वृत्ताकार पदक-सदृश कमलो पर राशियो की मूर्तिमान आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इनमें मेष, वृष, मिथुन, कर्क, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन सहज ही पहचाने जा सकते हैं। प्राचीन पाषाण रेलिंग पर तुला, सिंह, कन्या, वृष और मकर स्पष्ट हैं। कन्या के लिए फूलों की माला पहने, पुष्प-मुकुट-युक्त कुमारी बाला का चित्र अत्यन्त आकर्षक है। एक मसनद के सहारे बैठे व्यापारी से तुला राशि का ज्ञान होता है। मृग-शरीर वाले धनुर्धर से धनु-राशि का बोध होता है। स्त्री तथा पुरुष के प्रणयपूर्ण व्यवहार से मिथुन राशि की भावना व्यक्त की गई है। प्रकृति और मानव को एक ही सौहार्दपूर्ण भावना से देखना भारतीय कला की आध्यात्मिकता और महती उदारता का ज्वलन्त प्रमाण है। बोधगया की वेष्टन-वेदिका पर उत्कीर्ण चित्रो से भी इन्ही विशिष्ट गुणो की पुष्टि होती है। मिथुन राशि का बोध सिंह और सिंहिनी के प्रेमालाप के चित्र से किया गया है। सत्ताईस नक्षत्रो का भी चित्रण हुआ है। प्राचीन पाषाण वेष्टन-वेदिका पर अश्व और मृग के चित्र उत्कीर्ण है। इसी पर बौद्ध-देवी श्रीमाँ का भी चित्र उत्कीर्ण है। श्रीमाँ-देवता के पैर एक-दूसरे से सटे हैं। घुटने जमीन से कुछ ऊपर हैं। उसके बायें हाथ मे कमल की खिलती कली है। इसी प्रकार हाथियो से अभिषिक्त देवी की मूर्तियाँ भी खुदी हुई हैं, जो गज-लक्ष्मी के प्रतिरूप-सी हैं। हिन्दू-लक्ष्मी की मूर्ति की कल्पना बौद्धो की श्रीमाँ देवता से हुई थी।"[1]

1. भारतीय कला को बिहार की देन : डॉ० विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिन्हा, पृ० ८१—८२

(८) श्रवणबेलगोल—दक्षिण-मध्य रेलवे की बंगलोर-हरिहर-पूना लाइन पर आरसीकेरे स्टेशन से ४२ मील, मैसूर से ६२ मील और बगलोर से १०२ मील तथा हासन से ३१ मील दूर श्रवणबेलगोल है। इन सब स्थानो से बसे भी जाती हैं। यहाँ अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी ने मरण-समाधि ली थी। यहाँ एक घेरे के भीतर श्री भद्रबाहु जी की विशाल मूर्ति है। यह सत्ताईस फुट ऊँची दिगम्बर मूर्ति विश्व की सबसे बड़ी मूर्ति है। मूर्ति पर्वत-शिखर को काटकर बहुत सुडौल बनाई गई है। इस भव्य मूर्ति का निर्माण चामुण्ड राय नामक राजा ने कराया था।

यह स्था- दि म्बर जैनो का गोम्मट-तीर्थ है। अन्य मूर्तियो के अलावा यहाँ तीन तीर्थंकरो—आदिनाथ, शान्तिनाथ तथा नेमिनाथ—की मूर्तियाँ हैं।

(९) मीनाक्षी देवी—मदुरा दक्षिण-भारत (तमिल-प्रदेश) के नगरो में एक है। यह मद्रास-रामेश्वरम रेल-पथ पर स्थित है। यह मदिर अपनी निर्माण-कला की भव्यता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है।

गोपुर मे प्रवेश करने पर पहले एक मंडप मिलता है, जिसमे फल-फूल की दुकानें रहती हैं। उसे नगर-मडप कहते हैं। उसके आगे अष्ट-शक्ति मडप है। इसमे स्तभो के स्थान पर लक्ष्मी की आठ मूर्तियाँ छत का आधार बन रही हैं। मदिर के दाहिने सुब्रह्मण्यम् और बाएँ गणेश की मूर्तियाँ हैं। इसके आगे मीनाक्षी-नायकम् मडप है। इस मडप के पीछे अँधेरा मंडप मिलता है। अँधेरा मडप के आगे स्वर्ण-पुष्करिणी सरोवर है। सरोवर के चारो ओर मडप हैं। इन मडपो मे तीन ओर भित्तियो पर भगवान शकर की ६४ लीलाओ के चित्र बने हैं।

मदिर के सम्मुख मंडप के स्तभो मे पाँचो पाण्डवो की मूर्तियाँ (एक-एक स्तंभ में एक-एक) और सात स्तंभो मे सिंह की मूर्तियाँ हैं। सरोवर के पश्चिमी भाग का मडप किलिकुण्ड मडप कहा जाता है। यहाँ एक अद्भुत सिंह-मूर्ति है। सिंह के मुख मे एक गोला बनाया गया है। सिंह के जबड़ो में अगुली डालकर घुमाने से यह गोला घूमता है। पत्थर मे इस प्रकार का शिल्प-नैपुण्य देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

पाण्डव-मूर्ति मंडप को पुरुष-मृग-मंडप कहते हैं; क्योंकि उसमे एक मूर्ति ऐसी बनी है, जिसका आधा भाग पुरुष का और आधा मृग का है। इस मंडप

के सामने मीनाक्षी देवी के निज मंदिर का द्वार है। द्वार के दक्षिण छोटा-सा सुब्रह्मण्यम्-मंदिर है, जिसमे सुब्रह्मण्यम् तथा उनकी दोनो पत्नियो की मूर्तियाँ हैं।

कई ड्योढ़ियो को पार करने पर श्री मीनाक्षी देवी की भव्य मूर्ति है। बहुमूल्य वस्त्राभरणो से देवी का श्याम विग्रह सुभूषित रहता है। निज मंदिर के परिक्रमा-मार्ग मे ज्ञान-शक्ति तथा बल-शक्ति की मूर्तियाँ हैं। मीनाक्षी-मंदिर की परिक्रमा करने के बाद सुन्देश्वर-मंदिर मिलता है। दोनो मंदिरो के बीच गणेश जी का मंदिर है।

सुन्देश्वर-मंदिर के प्रवेश-द्वार पर द्वारपाल की मूर्तियाँ हैं। सुन्देश्वर-मंदिर के सम्मुख पहुँचने पर पहले नटराज के दर्शन होते हैं। उन्हें वेल्लिअम्बलम् (चाँदी से मढ़ा हुआ) कहते हैं। ताण्डव नृत्य करते हुए भगवान शिव की यह मूर्ति चिदम्बरम् के नटराज की मूर्ति से बड़ी है।

मुख छोड़कर सर्वांग चाँदी के आवरण से ढका है। चिदम्बरम् के नटराज का वाम पद ऊपर उठा है, पर यहाँ दाहिना पद।

सुन्देश्वर-मंदिर के सामने भी स्वर्ण-मंडित स्तंभ है और मंदिर का शिखर भी स्वर्ण-मंडित है। कई ड्योढ़ियो के भीतर अर्घे पर सुन्देश्वर सुशोभित हैं। उनके भाल पर स्वर्ण का त्रिपुण्ड्र है, जो अत्यधिक आकर्षक है।

मंदिर के बाहर जगमोहन में आठ स्तंभ हैं, जिन पर भगवान शंकर की विविध लीलाओं की अत्यन्त सजीव मूर्तियाँ हैं। इसका शिल्प-नैपुण्य अद्‌भुत है। यही पर चार स्तंभोवाला एक मंडप है, जिसमे पत्थर की शृंखला बनाई गई है। इस शृंखला की कड़ियाँ लोहे की शृंखला के समान घूम सकती हैं। यहाँ वीरभद्र एव अघोरभद्र की विशाल उग्र मूर्तियाँ हैं। इस मंडप मे भगवान शंकर के ऊर्ध्व नृत्य की अद्‌भुत कलापूर्ण विशाल मूर्ति है। ताण्डव नृत्य करते हुए शंकर का एक चरण ऊपर कान के समीप तक पहुँच गया है। पास ही काली की एक बड़ी मूर्ति है। इसी मंडप में एक ओर कारकौल अम्मा नामक शिवभक्त की मूर्ति है। नवग्रह-मंडप मे नवग्रहो की मूर्तियाँ है। मंदिर के दक्षिण-पश्चिम उत्सव-मंडप मे श्री मीनाक्षी, सुन्देश्वर, गंगा और पार्वती की स्वर्ण-मूर्तियाँ हैं। परिक्रमा मे पश्चिम की तरफ एक चन्दनमय महालिंग है।

मंदिर के सम्मुख एक मंडप में नंदीमूर्ति है। यहाँ से सहस्र-स्तम्भ मंडप का मार्ग है। यह नटराज का सभा-मंडप है। इस मंडप में मनुष्याकार से भी ऊँची शिव-भक्तों और देव-देवियों की मूर्तियाँ हैं। इनमें विराग-धारिणी सरस्वती की मूर्ति बहुत कलापूर्ण और सौम्य है। इस मंडप में श्री नटराज का श्याम-विग्रह प्रतिष्ठित है। भक्त कदाणप्प की भी मूर्ति है। मंदिर के पूर्व गोपुर के सामने मंडप है। इसे वसन्त-मंडप कहते हैं। इसके प्रवेश-द्वार पर घुड़सवारों तथा सेवकों की मूर्तियाँ हैं। भीतर शिव-पार्वती के पाणि-ग्रहण की पूरे आकार की मूर्ति है। पास ही भगवान विष्णु की मूर्ति है। नटराज की भी मनोहर मूर्ति है। इस प्रकार संपूर्ण मंदिर की स्थापत्य-कला अत्यन्त सूक्ष्म और आकर्षक है।

(१०) **शिवखोरी**—सृष्टि के आदि में गुफाओं से आदिमानव का संबंध रहा है। गुफाएँ आज भी मनुष्यों में असीम कौतूहल जगाती हैं। लेकिन पिछले दिनों उन गुफाओं की विशेष चर्चा रही है, जो जमीन के अंदर मीलों तक चली गई हैं, और जिनमें लाखों वर्ष से प्रकृति के विविध परिवर्तनों ने अजब-अजब रहस्यों की सृष्टि की है। ऐसी एक गुफा काश्मीर के जम्मू अंचल में भारत-पाक युद्ध के दिनों में बहु-चर्चित अखनूर के पास है। यह आश्चर्य-जनक गुफा शिवखोरी है, जिसके अंदर पत्थरों की विचित्र बनावटें और जल के अद्भुत इन्द्रजाल हैं।

यह पवित्र गुफा लगभग छह फर्लांग लंबी है और इसका मुखद्वार ३० फुट चौड़ा तथा ३० फुट ऊँचा है। गुफा में घुसते ही दाईं ओर दो कुण्ड दिखाई देते हैं। ये नरक-कुण्ड और स्वर्ग-कुण्ड के नाम से विख्यात हैं। नरक-कुण्ड में प्रवेश करने पर यात्री गर्मी अनुभव करता है, पर स्वर्ग-कुण्ड में प्रवेश करने पर वह शीतल वायु के स्पर्श से आनंदित हो मग्न हो जाता है। इसमें लगभग एक फर्लांग आगे जाने पर तीन छोटी-छोटी सीढ़ियाँ मिलती हैं, जिनके निकट बहुत बड़ा गहरा गड्ढा है। और आगे जाने पर गुफा का दूसरा भाग आरंभ होता है। यह अति सुन्दर है। यहाँ प्राकृतिक रूप से बने देवी-देवताओं के चित्र देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। पास ही शिवलिंग स्थापित है, जिसकी ऊँचाई लगभग छह फुट है। यह लिंग १०० फुट लंबे और ८० फुट चौड़े कमरे के बीचोबीच स्थित है। गुफा की दीवारों पर सुन्दर नक्काशी की गई है, जिसमें पौराणिक तथा ऐतिहासिक चित्रों के नमूने हैं।

कहीं शिवजी ताण्डव कर रहे हैं और कहीं गणेश जी विराजमान हैं। कहीं श्री कृष्ण की बाल-क्रीडा के दृश्य हैं, तो कहीं रामावतार के चित्र हैं। यह चित्रकारी और नक्काशी किसी मूर्तिकार के कुशल हाथों द्वारा किए गए कठिन श्रम को स्पष्ट ही बता रही हैं। वास्तव मे ऐसा कुछ है नहीं, यह सब तो प्रकृति की कलम की करामात है। दीवार के एक तरफ गजेन्द्र के पाँव और ग्राह का मुँह हैं, जो गज-ग्राह-युद्ध की ओर इशारा करते हैं।[1]

शिवलिंग के ठीक ऊपर कामधेनु का मुख है। इसके चारों स्तनों से बारी-बारी से शिवलिंग पर एक-एक बूँद दूध या जल हमेशा टपकता रहता है। कामधेनु के स्तनो के जरा ऊपर विष्णु भगवान की मूर्ति है, जिसके मुख से भी एक-एक बूँद जल शिवलिंग पर निरंतर टपकता रहता है। अनंत काल से लिंग को स्नान कराने की दोनो क्रियाएँ होती चली आ रही है। यह दृश्य इतना प्रभावोत्पादक है कि थोडी ही देर के लिए सही, दर्शक का शीश स्वतः श्रद्धा से नत हो जाता है।

शिवखोरी गुफा मे बाबा रामभरोसे रहते हैं। हर शिवरात्रि को यहाँ एक बडा मेला लगता है। पूजा यहाँ सारी रात चलती रहती है। 'जय शिव-शंकर, जय भोले बाबा' के नाद से घाटी गूँजने लगती है।[2]

(११) कुंभकोणम्—तमिलनाडु (मद्रास) मे कुंभकोणम् एक प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ कुंभेश्वर, शार्ङ्गपाणि, नागेश्वर, चक्रपाणि और रामस्वामी के मुख्य मंदिर हैं।

रामस्वामी मंदिर मे श्रीराम-लक्ष्मण-सीता की बडी सुन्दर मूर्तियाँ हैं। इस मंदिर मे श्रीराम के राज्याभिषेक-काल की सम्पूर्ण लीलाओ के तिरंगे चित्र दीवारो पर बने हैं। खभो पर विविध लीलाओ का व्यक्त करनेवाली बहुत सुन्दर एव कलापूर्ण मूर्तियाँ है। मंदिर अपनी कला के लिए प्रसिद्ध है।

(१२) बेलूर—मैसूर राज्य के तीर्थों मे बेलूर का एक विशिष्ट स्थान है। यह बंबई-हरिहर-पूना रेल-पथ के बाणावर स्टेशन से १८ मील दक्षिण-पश्चिम है। हालीविद से बस बेलूर जाती है। यह स्थान विभिन्न स्थलों से आनवाली बसो का केन्द्र है।

1. अविस्म गुफा-यात्रा ('धर्मयुग', दीवाली-अंक, १९६६) : राज
2. शिवखोरी की गुफा ('साप्ताहिक हिन्दुस्तान') : आशा रानी जैन

चेन-केशव मंदिर यहाँ का मुख्य मंदिर है। विष्णुवर्धन हायसल ने इस मंदिर की प्रतिष्ठा की थी। मंदिर नक्षत्र की आकृति का है। भगवान की मूर्ति लगभग ७ फुट ऊँची और चतुर्भुज है। उनके साथ उनके दाहिने भूदेवी और बाएँ लक्ष्मी देवी और श्रीदेवी हैं।

यह मदिर एक ऊँची दीवार के घेरे मे चबूतरे पर स्थित है। यहाँ की मूर्ति-कला अद्‌भुत है। मंदिर की पिछली एवं बगल की भित्तियों में जो मूर्तियाँ अंकित है, वे सजीव-सी लगती हैं। इतनी मुन्दर मूर्तियाँ अन्यत्र कठिनाई से मिलती हैं। मदिर के जगमोहन मे बहुत बारीक खुदाई का काम है। पूरा मदिर कला-नैपुण्य का एक श्रेष्ठ प्रतीक है।

(१३) त्रिपुरी—जबलपुर से लगभग ८ मील पश्चिम की ओर स्थित आज का तेवर नामक छोटा-सा ग्राम ईसवी-पूर्व तीसरी सदी से लेकर १३वीं सदी तक त्रिपुरी के नाम से एक प्रसिद्ध वैभवशाली नगर था। कलचुरी-वश के राजाओ की यहाँ राजधानी थी। त्रिपुरी मे हिंदू-प्रतिमाओ के साथ-साथ जैन और बौद्ध-धर्म की प्रतिमाएँ भी पाई जाती हैं। इससे प्रतीत होता है कि कल-चुरी राजे धर्म-सहिष्णु थे और उनके राज्य मे जैन, बौद्ध तथा शैव—तीनो धर्मों का अबाध प्रचार था।

पाशुपत शैवो की वाममार्गी साधना का ज्वलंत प्रतीक यहाँ चौंसठ योगिनी का मदिर है। इसके आँगन मे स्थित बौद्धनाथ-मदिर स्थापत्य-कला का अनुपम उदाहरण है। यह मदिर तान्त्रिक प्रयोगो द्वारा बनाया गया है। चौसठ योगिनियो की मूर्तियो के बीच बना गौरी-शंकर का मंदिर 'मत्त-मयूर' शैली का कहा जाता है। इस मंदिर के भीतर शिव-पार्वती की एक सजीव चातुर्यपूर्ण प्रतिमा पाई जाती है। शिव और पार्वती नंदी पर सवार हैं। मूर्ति के नीचे खुदे हुए लेख से ज्ञात होता है कि वह बटेश्वर की मूर्ति है। मूर्ति के नीचे की आकृतियो के देखने से पता चलता है कि अनेक व्यक्ति नाचते हुए आनद-विभोर मुद्रा मे दिखाई दे रहे हैं। गौरी के हाथ में आरती है और वह शकरजी की ओर निहार रही हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यह दूल्हे के रूप मे भगवान शकर की मूर्ति है। इसमें विवाह के बाद गौरी-शकर के लौटने का दृश्य अकित है। बटेश्वर के आसपास तारा, हरगौरी, गणेश, कार्तिकेय आदि की मूर्तियाँ है।

इस स्थान के पास ही संसार-प्रसिद्ध भेड़ाघाट जल-प्रपात है। भेड़ाघाट जल-प्रपात मे कलकल निनादिनी नर्मदा लगभग २५ फुट की ऊँचाई से गिरकर अपने

निर्मल जल को धवल दुग्ध मे परिणत कर देती है। आगे चलने पर बंदरकुदनी का अनुपम दृश्य मानव को अलौकिक आनंद प्रदान करता है। बंदरकुदनी में पुण्य-सलिला, प्रेम-प्रसविनी नर्मदा के दोनो तटो पर संगमरमर की भीमकाय बहुरंगी चट्टानें बड़ा सुन्दर प्रतीत होती है। श्वेत संगमरमर पर सूर्य की सप्तरंगी किरणे चाँदी में परिणत हो जाती हैं और रेवा का गहरा नील जल बन जाता है। इसमें नृत्य करती हुई लोल लहर सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की अनुपम झाँकी प्रस्तुत करती हैं। कितने ही महामुनियो और ऋषियो के आश्रम यहाँ विद्यमान है।

(१४) एकलिंग—उदयपुर मे उत्तर १४ मील की दूरी पर विद्यमान एकलिंग का शिवालय, मेवाड का ही नही, समूचे भारत के प्रमुख देवस्थानो मे है। यह स्थान पहले मेवाड की प्राचीन राजधानी नागदा की सीमा मे था। नागदा के सास-बहू के मदिर की अद्‌भुत शिल्पकला को देखकर पर्यटक का चित्त चकित हो उठता है।

शिल्प-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान महाराणा कुंभकरण (कुंभा) के समय मे एकलिंग जी के मदिर का पुनरुद्धार हुआ। यहाँ महाराणा कुंभा का बनाया हुआ शिल्पकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एक वैष्णव-मदिर भी विद्यमान है, जो मुख्य मंदिर के पास उत्तर की ओर है और उसे मीराबाई का मदिर कहते हैं।

एकलिंग के मदिर से दक्षिण की ओर एक सबसे प्राचीन लकुलीश शिव-मदिर है। इस मदिर के सामने सुन्दर तोरण एक के बाद एक क्रम मे बनाए गए हैं। इन मदिरो के अतिरिक्त यहाँ (नागदा) के जैन-मंदिर की भी मनोहारी शिल्पकला है।

(१५) चिदंबरम्—यह प्रसिद्ध शैव-तीर्थ मद्रास-रामेश्वरम् रेल-पथ पर स्थित है। यहाँ नटराज शिव का मदिर ही प्रधान है। इस मदिर का घेरा करीब सौ बीघे मे है। इस मंदिर के पाँच घेरे हैं। दूसरे घेरे का गोपुर (प्रवेश-द्वार) नौ-मंजिला है। उसपर नाट्यशास्त्र के अनुसार निर्मित विविध नृत्य-मुद्राओं की मूर्तियाँ हैं।

तीसरे घेरे के द्वार पर गणेश जी का मंदिर है। गोपुर के सामने उत्तर की ओर एक मंदिर में नंदी की विशाल मूर्ति है। इसके आगे नटराज के निज मंदिर का घेरा है, जो पाँचवे घेरे के अंदर है। सामने नटराज का सभा-मंडप है। आगे एक स्वर्ण-मंडित स्तंभ है। नटराज के सभा-मंडप के स्तंभों में सुन्दर मूर्तियाँ निर्मित हैं। आगे एक आँगन के मध्य में नालोटी के आगे पत्थर-का

श्री नटराज का निज मंदिर है। इसके शिखर पर स्वर्ण-पत्र चढ़ा है। मंदिर मे नृत्य करते हुए भगवान शंकर की बड़ी सुन्दर स्वर्ण-मूर्ति है। श्री नटराज की झाँकी बहुत ही भव्य है।

श्री नटराज की दाहिनी ओर काली भित्ति में यंत्र खुदा है। वहाँ सोने की मालाएँ लटकती हैं। यह नीला शून्याकार आकाश-तत्त्व ही लिंग माना जाता है। इस स्थान पर प्राय. पर्दा पड़ा रहता है। लगभग ११ बजे दिन मे अभिषेक के समय तथा रात्रि के अभिषेक के समय इनके दर्शन होते हैं। यहाँ सपुट मे रखे दो शिवलिंग है, जिनमें एक स्फटिक का और दूसरा नीलम का है। इन दोनो प्रतिमाओ को क्रमश: चन्द्रमौलेश्वर तथा रत्न-सभापति कहते हैं। इस प्रकार का लिंग एकमात्र चिदंबरम् मे ही है।

(१६) ग्वालियर—ग्वालियर मध्य रेलवे के दिल्ली-बबई-मार्ग पर स्थित है। इसका प्राचीन किला एक नगरी ही है। किले के कुछ स्मारकों को पुरातत्त्व-विभाग ने काफी सुरक्षित कर रखा है। सास-बहू के दो मंदिर ऐसे ही स्मारक हैं। इन दोनो मंदिरो मे फर्क यही है कि एक बडा है और दूसरा छोटा। स्थापत्य-कला की दृष्टि से सास-बहू के मंदिर अति सुन्दर हैं। यहाँ महाबलिपुरम् के मंदिरो के समान रथाकृति है। प्रवेश करने की सीढ़ो से लेकर भीतर प्रत्येक स्तभ, दीवार और कंगूरो पर बडी नाजुक नक्काशी की गई है। कहीं फूलों के और कही देवी-देवताओ के चित्र बने हैं। साराश यह कि मंदिर का कोई भी भाग चित्रों से शून्य नहीं है।

सास-बहू के मंदिर के दक्षिण तेलिका-मंदिर है। प्राचीन भारत में आने-जाने के साधन कम थे। फिर भी सास्कृतिक आदान-प्रदान होता रहता था। तेलिका मदिर मे ऐसे आदान-प्रदान के नमूने मिलते हैं। 'तेलिका' का आदि-स्रोत 'तेलिंगा' है। यह नर्मदा नदी के दक्षिण का प्रदेश है। इस मदिर का गोपुर वैसा ही है जैसा दक्षिण-भारत मे पाया जाता है। इस मंदिर का आयताकार आधार, आले और ऊपरी चपटे हिस्से यह सिद्ध करते हैं कि यह मंदिर एकदम दक्षिण-भारत की शैली का है। गोपुर काफी कलापूर्ण है।

(१७) आमेर—आमेर जयपुर की पुरानी राजधानी है। यह रमणीय भव्य स्थान चारो ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इन पहाड़ियों के प्राकृतिक दृश्यो के बीच यह स्थान स्फटिक मणि-सा लगता है। विशाल चट्टानों के मुख के पास इसकी स्थिति माँ के पास बैठे भोले शिशु की-सी लगती है। एक

बार इस दृश्य को देख लेने पर आँखें इससे दूर नहीं हटतीं और बार-बार इसी दृश्य का अवलोकन करने की इच्छा बलवती हो उठती है।

यहाँ के प्रसिद्ध मंदिर दो हैं, जो वास्तुकला के बहुत ही उत्कृष्ट नमूने हैं। इनकी नक्काशी, पच्चीकारी तथा मूर्ति-कला अति प्राचीन हैं। प्रथम मंदिर का नाम अम्बिकेश्वर है, जिसमे शिव की प्रतिमा है और बाहर की ओर चौर का बहुत सुन्दर चौखटा बना हुआ है। मंदिर के बाहर जो अष्टधातु का घंटा और घंटियाँ लगी हुई हैं, उनसे सहज ही पता लग जाता है कि यहाँ के कारीगर धातु-विज्ञान मे भी कितने बढ़े-चढ़े थे। दूसरा मंदिर जगत-शिरोमणि जी का है, जो कोई देवता प्रतीत होते हैं। इस मंदिर के ऊपर का गुंबज दो बहुत ही प्राचीन पत्थरो से तराशा हुआ है। ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि वह एक ही पत्थर का बना हुआ है। इस मंदिर की नक्काशी बहुत प्राचीन एवं श्लाघनीय है। आमेर का पूर्व-वैभव और इसकी शान का पता इन मंदिरो के देखने से ही चल जाता है।

आमेर के महलो के भीतर की नक्काशी की बारीकी और इसके अद्भुत सौंदर्य को देखते ही टकटकी-सी लग जाती है। राजपूत-वास्तुकला-शैली से संबंधित महलो मे ग्वालियर के बाद इसी का स्थान है। यहाँ के महलो के जालीदार झरोखे की नक्काशी और पच्चीकारी राजपूत कालीन कारीगरी की शान है। नक्काशी और मूर्तिकला की तराशी सर्वथा सजीव है। वस्तुत. यह स्थान राजस्थान की प्राचीन कला का संगम है।

(१८) **वृन्दावन**—यह भगवान कृष्ण की लीला-स्थली है। कृष्णभक्तो का तो यह पवित्रतम तीर्थ है। यहाँ हजारो मंदिर हैं। इसे मंदिरो की नगरी कहा जाए तो कोई अनुचित नहीं होगा। इन मंदिरो मे से कतिपय कलापूर्ण है और उनमे स्थापित मूर्तियाँ दर्शको के मन को मोह लेनेवाली है।

यहाँ का प्रमुख और सर्वमान्य मंदिर श्री बिहारीलाल जी का है। इसे राजा मानसिंह ने विक्रम-संवत् १६४७ मे बनवाया था। यह लाल पत्थर का बना है। इसकी जोडाई देखकर आधुनिक इंजीनियर भी चकित रह जाते है। भारत की प्राचीन स्थापत्य-कला का यह एक सुन्दर उदाहरण है। यहाँ की प्राचीन पूज्य मूर्ति औरंगजेब की असहिष्णु धार्मिक नीति के कारण जयपुर भेज दी गई। तब से वह वही विराजमान है। वृन्दावन के वर्तमान दर्शनीय मंदिरो मे इसका विशिष्ट स्थान है। मान-सम्मान और कला की दृष्टि से भी इसका गौरव अधिक है।

कला की दृष्टि से दूसरा दर्शनीय मंदिर शाह बिहारीलाल जी का है। संपूर्ण मंदिर संगमरमर का बना है। इसकी कारीगरी श्लाघनीय है। संगमरमर के टेढ़े बलदार खंभे यात्रियों को बरबस आकर्षित करते हैं। दस लाख रुपए की लागत से इस मंदिर का निर्माण हुआ है।

(१९) दशपुर की अष्टमुखी शिव मूर्ति—शैव-दर्शन की कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से पहली शताब्दी की मथुरा की अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति, आठवीं शताब्दी की एलिफैंटा की त्रिमूर्ति और दसवीं शताब्दी की चिदम्बरम् की नटराज-मूर्ति अनुपम हैं। अर्द्धनारीश्वर और नटराज की प्रतिमाएँ अन्यत्र भी उपलब्ध हैं। एकमुखी, त्रिमुखी, चतुर्मुखी और पंचमुखी शिवलिंग भी देखने को मिलते हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रतिमाएँ भारत की आध्यात्मिक, धार्मिक तथा कलात्मक समृद्धि के परम प्रमाण है। डॉ० राधाकमल मुखर्जी ने तो त्रिमूर्ति को भारतीय संस्कृति का परम प्रतीक माना है। नटराज की प्रतिमा सर्व-व्यापक शिव-तत्त्व की लीलामयी अभिव्यंजना प्रतीत होती है। डॉ० आनन्द कुमारस्वामी ने अपने 'The Dance of Shiva' नामक ग्रंथ में इस प्रतिमा की विविध व्याख्या की है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अर्द्धनारीश्वर की वैदिक, दार्शनिक एवं पौराणिक व्याख्याएँ हिन्दी-विश्वकोष में पर्याप्त विस्तार से प्रस्तुत की है। इस तरह के न जाने कितने अनुपम रत्न भारतीय वसुन्धरा के कोष है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। दशपुर की अष्टमुखी शिव-प्रतिमा ऐसे ही अनुपम रत्नों में एक है।

दशपुर नगर में विजय-स्तंभों के अतिरिक्त अभयकूप, दुर्ग-स्थित तोरण-स्तंभ, विशाल शिवमूर्ति एवं शिवना नदी से प्राप्त अष्टमुखी शिव-प्रतिमा आदि कई ऐतिहासिक एवं पुरातन अवशेषों से यह स्पष्ट है कि यहाँ चारों ओर शैवमत का प्रबल प्रचार था। उपासकों की साधना का प्रबल प्रतीक यहाँ की अष्टमुखी शिव-प्रतिमा है, जो नगर को ऐतिहासिक ख्याति देने के साथ-साथ एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक तीर्थ की श्रेणी में लाती है। काल-कराल के कितने ही थपेड़ों से अविचलित यह प्रतिमा इसे गरिमामय स्थान दिलाने की क्षमता रखती है। शिवना नदी के रम्य तट पर अवस्थित यह विशालतम देव-प्रतिमा अनूठी, अद्‌भुत एवं दर्शनीय तो है ही, वास्तुकला की भी अन्यतम धरोहर है।

यह प्रतिमा शैवमत की प्रतिपाद्य विकसित कला एवं दर्शन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से आज तक अद्वितीय है। शिवना के विशाल पाट में यह प्रतिमा

कब से और क्यों समाधिस्थ हुई, यह कोई नही जानता, किन्तु समय के प्रवाह ने इस अष्टमुखी प्रतिमा की समाधि को भंग किया। सवत् १९९७ वि० मे इसे नदी से निकालकर वर्तमान महादेव घाट के समीप श्री शिवदर्शन लाल अग्रवाल के खेत मे रखा गया, जहाँ २० वर्षों तक यह अपने उद्धार की प्रतीक्षा करती रही। अततोगत्वा सवत् २०१८, मिति मार्गशीर्ष कृष्ण पंचमी को अष्टग्रही योग के समय इस भव्य प्रतिमा की स्थापना जनता के तन-मन-धन से सहयोग से तथा स्वामी प्रत्यक्षानंद जी की प्रेरणा से सम्भव हुई।

संपूर्ण भारत मे तो क्या, सपूर्ण विश्व मे भी ऐसी भव्य मूर्ति कहीं दृष्टिगत होना असंभव है। यह प्रस्तर-प्रतिमा एक ही पाषाण-खंड द्वारा निर्मित है, जिसका वजन १२५ मन है और जिसकी ऊँचाई सवा छह फुट तथा मोटाई ११ फुट है।

शिल्प, कला एव भावाभिव्यंजना की दृष्टि से भी यह प्रतिमा अद्वितीय है। प्रतिमा एक ऐसी अद्भुत शिला से निर्मित है, जिसके वर्ण-वैचित्र्य को देखकर यह आभास एवं आशंका होती है कि कहीं शिला विविध रगो से रजित तो नहीं की गई। यह आशंका इस शिला की वर्ण-रमणीयता का स्वतः प्रमाण है। वर्ण-सौष्टव इसमें सहज है। यह सवत. सुप्रसिद्ध है कि यह मूर्ति प्रधानतः गाढ़ रक्त वर्ण की है, साथ ही श्वेत तथा श्याम धारा एव लहरियाँ इसमे विद्यमान हैं, जो साधारण शिवलिंग मे होती हैं। फलतः डॉ० तिवारी के शब्दो मे इस प्रस्तर-मूर्ति मे 'श्वेत-श्याम-रतनार' वर्ण की मनोहारी रमणीयता है।[1] इस वर्ण-विलास मे केवल कला ही नहीं, दर्शन का गाम्भीर्य भी है, जो भारतीय कला का अपना वैशिष्ट्य है। दर्शन और कला का यह अद्भुत सौंदर्य सत्यं, शिवं और सुन्दर के अपृथकत्व की सिद्धि है, जिससे यह साबित होता है कि इसका उद्गम एक ही परम तत्त्व के परिप्रेक्ष्य से है।

"यद्यपि यह अतीव रमणीय प्रतिमा मदनमार की है, तथापि किसी भाव-धनी शिल्पी ने इतनी अनिर्वचनीय शृंगार और सत्य की समृद्धि इस शिव की शिला-शकल में संवरित की है कि यह भी संशय होने लगता है कि यह मदनमार की प्रतिमा है या मदनमोहक की।

1. शिव की अष्टमुखी मूर्ति : डॉ० रामचन्द्र तिवारी
हिन्दू-विश्व, अक्टूबर, १९६७)

सचमुच कार्तिक की पूर्णिमा के अवसर पर विशेषतः कमनीय वर्ण-भरण विन्यासमयी इस मूर्ति की अनोखी झाँकी देखकर महाकवि कालिदास के ये प्रश्न मचल उठते हैं—

अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद: ।
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ॥

—अर्थात् इसकी रचना प्रजापति ने की या रसरूप दाता विधु ने की या शृंगाररस-प्रधान मदन ने की या सुमन-सम्पत्तिवाले वसंत ने ?"

ऐसा लगता है, मानो यह प्रतिमा शिव का, सौंदर्य-रूपी शिवा के साथ, शिलामय अवतार हो। एलिफेंटा की त्रिमूर्ति मे पार्वती की रचना अलग से वाम भाग मे करनी पडी, किन्तु यहाँ वह सुन्दरी स्वय व्यंजित है। अर्द्ध-नारीश्वरी मे भी पार्वती प्रियतम के साथ एक न हो सकी। प्रियतम भी प्रियतमा के अणु-परमाणु मे अद्वैत-भाव से न आ सका। किन्तु डॉ० तिवारी का कथन है कि इस अष्टमुखीप्रतिमा मे शिव और सौंदर्य का ऐसा अद्वैत है, मानो शृंगार के व्याज से शिवा झाँकती है, जैसे मुक्ता का लावण्य झलकता है।

वैसे ही शिवा या शक्तिशृंगार-समृद्ध इस ६ फुट ऊँचे विजय-स्तभ के सदृश ठोस चट्टान से निर्मित शैवलिंग की कला से व्यंजित होती है। ऐसी विशाल और कला तथा दर्शन की गूढ़ व्यंजनाओं से भरपूर लिंग-प्रतिमा विश्व मे अन्यत्र नही है।[1]

प्रतिमा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि साक्षात् ब्रह्मा भी इतनी सरसता, इतनी सजीवता तथा इतनी मोहकता व्यक्त नही कर सकते। ऐसा आभास होता है कि मानो यह शिला स्वय शिव के सौंदर्य-रूप शिवा के रूप मे अवतरित हुई है। चारो वदनो की निर्मिति द्वैत और अद्वैत के कितने ही मधुर संबंधो को स्पष्ट करती परिलक्षित होती है।

प्रतिमा के आठ मुख द्रष्टव्य है—चार मुख ऊपर तथा चार उन्हीं मुखों के लगभग एक फुट नीचे। नीचे के चार मुख अस्पष्ट हैं। ऊपर के चार मुखो की आकृति, भावाभिव्यक्ति एव केश-सज्जा भव्य एव सुस्पष्ट हैं। विभिन्न वदन भिन्न-भिन्न भंगिमाएँ प्रदर्शित करते हैं। सर्वप्रथम पूर्व की ओर उन्मुख मुख समाधिस्थ शिव की शान्त मुद्रा का दिग्दर्शन कराता है, जिसपर मालाओ के

1. शिव की अष्टमुखी मूर्ति : डॉ० रामचन्द्र तिवारी

बध हैं तथा जटाओ की कलात्मक ग्रंथियाँ हैं, गले मे सर्प सुशोभित हैं तथा अधर मौन, मुग्ध और विकार रहित है। किन्तु तृतीय नेत्र की अधिरक्तता प्रचण्डता का स्पष्ट सकेत करती है, मानो कामदेव को अनग करने को तत्पर हो। उत्तर मुख हास्यरस का व्यजक है। भग की भगिमा का विलास दीख पडता है। लगता है, औघर बाबा खिलखिला रहे हैं। फूले हुए गाल, केश-सज्जा मे मोटी लटें, लंब-रूप से वृत्ताकार एव कर्ण-रध्रों मे दुबके हुए सर्प, समस्त विशेषताएँ अल्हड-स्वरूप दिखाती हैं। सृष्टि के सहारक शिव का रौद्ररूप हमे पश्चिमी मुख मे लक्षित होता है। यह मुख पूर्णतः रक्तिम है तथा इसका तृतीय नेत्र अन्य मुखो के नेत्रो की अपेक्षा अधिक उभरा है। केश-सज्जा विषधरो की हल-चल द्वारा दर्शायी गई है। केवल इस मुख मे केशो के मध्य 'ओम्' है, जिसके दोनो ओर दो सर्प अकित हैं। सृष्टि के सहार के उपरात परमतत्त्व का दिग्दर्शन ओम् से होता है। आशुतोष की रम्य एव मनोहारी भाव-भंगिमाओ की अभि-व्यक्ति दक्षिण मुख से होती है। शक्ति को समाहित किए शिव की केश-सज्जा अत्यंत सुन्दर बनी है, जिसे द्वितीया के चाँद से सुशोभित किया गया है। विषधर रहित यह मुख त्रिपुरी षोडशी कला का सुन्दरतम स्वरूप लिए है। शृगार-रस का पूर्ण परिपाक है, जो मानव-मन को मोह लेता है। इस प्रकार प्रत्येक मुख जीवन के चार परम तत्त्वो को दर्शाता है, जिनसे शृगार, शात, रौद्र और बीभत्स व्यजनाओ का सामुख्य होता है। कहा जा सकता है कि इन चारो रसो का अद्भुत समन्वय इस भव्य प्रतिमा मे अद्भुत कौशल का परिचायक है।[1]

डॉ० तिवारी का कथन है कि "विशुद्ध दर्शन, कला और धर्म की दृष्टि मे यदि हम देखें तो निष्पक्षतया यह कहना पडता है कि यह अष्टमुखी मूर्ति आजतक शैव कला और दर्शन की दृष्टि से अद्वितीय है।"

(२०) क्रिम्ची—जम्मू नगर से चालीस मील दूर क्रिम्ची नामक स्थान पर पाँच भव्य कलात्मक पाषाण-मदिर हैं। सुन्दर नक्काशी एवं कलापूर्ण प्रतिमाओ से सज्जित ये मदिर अतीत मे उत्तर तथा दक्षिण के सास्कृतिक संबधो के साक्षी हैं। अबतक यह ज्ञात नही हो सका कि क्रिम्ची-जैसे निर्जन स्थल पर ऐसे श्रेष्ठ कलापूर्ण देव-मदिर कैसे निर्मित हुए और इनके शिल्पी कौन थे।

चतुर्दिक नदियो द्वारा घिरे एक निर्जन पठार मे स्थित इन देवालयो मे पुरातत्त्ववेत्ताओ तथा कलाप्रेमियो के लिए अन्वेषण योग्य बहुत सामग्री है।

---

1. **देवाधिदेव पशुपति एवं दशपुर (हिन्दू-विश्व, मई १९६८) :**
श्री कैलासचन्द्र शर्मा

इसमें कोई संदेह नहीं कि इनपर उत्कीर्ण विपुल नक्काशी तथा यहाँ की मूर्ति-कला उच्च कोटि की है।

इन मंदिरों के स्थापत्य एव मूर्ति-कला का निरीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि ये दसवी सदी के हैं। बताया जाता है कि इसी सदी के लगभग बनोर के भव्य मदिर बनाए गए थे, जो किम्ची से २० मील दक्षिण-पूर्व मे हैं।

किम्ची के देव-मदिरों की नक्काशी भास्कर्य-विद्या का मनोहर नमूना है। प्रत्येक नमूना दो-दो, चार-चार पाषाण-खडो पर उत्कीर्ण किया गया है। किम्ची के बडे मदिर मे तो विशेष रूप से ऊपर से नीचे तक ऐसी ही विस्तृत नक्काशी है। इसके अदर की दीवारों पर बहुत सी नक्काशियो पर पत्थर लगे हैं। इनमे से प्रत्येक पत्थर स्वयं ही पूर्ण मदिर के रूप में प्रतीत होता है। इनके शिखरों पर पूर्ण विकसित कमल या सूर्य की आकृतियाँ पाषाण की ही बनी हैं। किम्ची के ये मदिर मधुमक्खियो के छत्ते की भाँति दिखाई देते हैं।

जितनी मूर्तियाँ अबतक उपलब्ध हो सकी हैं, उनसे प्रतीत होता है कि उनके शिल्पकार बहुत ही निपुण और प्रवीण थे। श्री सूरज प्रसाद ने दो प्रतिमाएँ स्वय इधर-उधर बिखरे पत्थरो के बीच से निकाली है। उनका कथन है कि इनमे से एक तो विष्णु के वराह-अवतार की है, जो सुन्दर रमणी-रूपी पृथ्वी को राक्षस रूपी सागर से बचाने के लिए अपने कंधे पर उठाए हुए है और राक्षस को अपने पैरो-तले रौद रहे है। दूसरी, एक मनुष्याकार शिव-प्रतिमा है। ये मूर्तियाँ शिल्प कला के उत्कृष्ट उदाहरण है।

बडे देवागार मे टाकर-भाषा मे लिखित एक शिला-लेख भी है। किन्तु यह आजतक पढ़ा नही जा सका। इसके पढ़े जाने पर मदिरो के निर्माण काल पर प्रकाश पड़ेगा।

(२१) एलिफेंटा—घारापुरी द्वीप, जो एलिफेंटा के नाम से प्रसिद्ध है, बबई से ४ मील दूर समुद्र मे है। रविवार को इस द्वीप के भाउचा-धक्का बदरगाह पर स्टीमर जाती है। स्टीमर-घाट से लगभग एक मील पर पहाड को काटकर गुफा मे प्रतिमा, स्तभ, मदिर आदि बनाए गए हैं, जो अद्वितीय हैं।

यहाँ की गुफाओ में त्रिमूर्ति-गुफा मुख्य है। यह एक विशाल गुफा है। यहाँ पास-पास ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की विशाल मूर्तियाँ हैं। एक कमरे मे १४ फुट ऊँची अर्द्धनारीश्वर शिव-पार्वती की मूर्ति है। इसके दाहिने ब्रह्मा जी तथा बाएँ गरुड़ पर विराजमान विष्णु जी हैं।

भारतीय कला के प्रतीकात्मक रूप की शायद सवश्रेष्ठ अभिव्यक्ति शिव-महेश्वर की विख्यात आध्यात्मिक त्रिमूर्ति मे हुई है। इस प्रतिमा के बीच का मुख स्वय प्रभावित, निरपेक्ष और पारलौकिक तत्पुरुष सदाशिव का है। दायाँ मुख अग्रभृकुटी ताने हुए तथा वैराग्य एव विनाश की भावना से उद्धत अघोर भैरव का है। बायाँ मुख है शिव की सगिनी, परम सौदर्यमयी आभूषण-युक्त उमा का।

"भारतीय सस्कृति मे उमा अथवा शक्ति, जिनके हाथ मे सदैव कमल रहता है, अर्थ और काम अर्थात् सपत्ति, सौदर्य और जीवन-सौख्य की देवी हैं। अपनी अगुलियो मे साँप लपेटे अघोर भैरव धर्म और मोक्ष के प्रतीक हैं। आत्मलीन पुरुष के लिए सृजन और सहार, क्रिया और शाति का सतत गतिशील चक्र केवल क्षणिक माया है, जो जनमती, बढ़ती और अन्य सभी माया की आकृतियो की भाँति तत्पुरुष मे ही विलीन हो जाती है। इस आध्यात्मिक त्रिमूर्ति के कुछ दूसरे रूपो मे प्रशात योगी की भाँति सदाशिव मध्य मे ही है, किन्तु दाईं ओर खप्पड से रक्त-पान करते हुए महाकाल तथा बाईं ओर एक दर्पण मे प्रतिबिबित ब्रह्माड के रूप मे अपने सौदर्य का अवलोकन करती हुई महामाया।"[1]

(२२) **डिचपल्ली का मंदिर**—आध्रप्रदेश के निजामाबाद जिले मे एक गाव है डिचपल्ली। उसके पास एक पुराना मदिर है। यह है तो छोटा, पर बडा ही सुन्दर है। यह मदिर ४५ कदम लबा, २८ कदम चौडा तथा ३० कदम ऊँचा है। मदिर मे गुलाब और कमल की खुदाई इतनी खूबी से हुई है, मानो बहुत ही कुशल कारीगरो ने की हो। इस मदिर के नक्शे और निगार को देखकर श्री गुलाम अहमद काशाना चकित हुए थे कि कारीगर ने कैसे पत्थर को मोम समझकर तराशा है।

मदिर का बरामदा बडा ही दिलकश है। खभो और कगूरो पर अजीबो-गरीब नक्काशी की हुई है। अदर की रचना एलोरा के मदिर की शैली की है। इसके पास एक और मदिर है और पहाडी पर तीसरा। तीनो ही मदिरो मे कोई मूर्ति श्री काशाना को नजर नही आई। बहुत खोज करने पर आपको पता चला कि सीताराम नामक एक राजपूत सरदार ने मदिर और मकान बनवाया था।

---

1 प्रतीक और प्रतिमा ('नवनीत' नवम्बर १९६७): डॉ० राधाकमल मुकर्जी

दीवार पर चारो ओर मैथुन-मुद्रा की मूर्तियाँ है। इन्हे देखकर श्री काशाना चकित हुए कि परमात्मा से मन लगाकर तप करने के स्थान पर ये मूर्तियाँ क्यो ? किंतु उन्हे एक स्थान पर एक तपस्वी लोहे के कडे में पाँव फँसाकर उलटे लटका हुआ दीख पडा। नीचे आग जल रही थी। साथ ही नजर पडी मैथुन-मूर्तियो से भरी दीवार पर। उनकी पहेली सुलझ गई। 'हिंदू-धर्म तपस्वी से कहता है कि तुझे सारी मोह-माया और प्रलोभनो मे रहकर तप करना है, अपने को इनसे ऊँचा उठाना है। यदि तेरी इद्रियो ने जरा-सी भी बदख्वाहिश की तो तेरा सारा किया-कराया तप नष्ट हो जाएगा।'[1] इस दृश्य को देखकर काशाना महोदय कहते हैं—'किस कदर ऊँचा है हिंदू-धर्म का इबादत और दृढ़ निश्चय का फिलासफा ! कितनी ऊँची है उसकी अजमत और शान !!'

(२३) **नेपाल की अद्भुत शिल्पकला**—हिमालय की गोद मे बसे हुए स्वतंत्र हिंदू राज्य के इस घोसले मे तीन राजधानियाँ ऐसी ही हैं, मानो तीन अडे रखे गए हो। अत्यत प्राचीन राजधानी ललितपट्टन, उसके बाद की भादगाँव, और आज कल की है काठमाडू या काष्ठमडप। नेपाल के मदिरो की बनावट हिंदुस्तान के के मदिरो की बनावट के समान नही है। मदिर की छत से जहाँ बरसात के पानी को धाराएँ गिरती हैं, वहाँ नेपाली लोग छोटी-छोटी घटियाँ लटकाकर रखते हैं, और बीच मे लटकनेवाले लोलक मे पीतल के पतले पीपल-पात लगा दिए जाते हैं। जरा-सी हवा लगते ही वे नाचने लगते हैं। यह कला उन्हें सिखानी नही पडती। एक साथ अनेक घंटियाँ किन-किन की आवाज करने लगती हैं। यह मजुल ध्वनि मदिर की शाति मे खलल नही डालती, बल्कि शांति को अधिक, गहरी और मुखरित करती है। भादगाँव की कई मूर्तियाँ तो शिल्पकला के अद्भुत नमूने हैं। शिल्प-शास्त्र के सब नियमो की रक्षा करते भी हुए कलाकार अपनी प्रतिभा को कितनी आजादी दे सकता है, इसके नमूने यदि देखने हो तो इन मूर्तियों को देख लीजिए। मालूम होता है कि यहाँ के मूर्तिकार कला को अतिमानुषी ही मानते हैं।[2]

पशुपतिनाथ का मंदिर नगर से अधिक दूर नहीं है। वह ऐसा दीखता है, मानों मदिर के झुड मे बडा नंदी बैठा हो। निकट मे ही बागमती बहती है।

---

1. **टूटा मंदिर, बुलंद ख्याल** ('नवनीत', नवम्बर, १९६७) : गुलाम अहमद काशाना

2 **जीवन-लीला** : काका कालेलकर; पृ० १६३

गुह्येश्वरी और पशुपतिनाथ के बीच से यह धारा बहती है। इसी कारण उसकी महिमा है।

पशुपतिनाथ से सीधे पश्चिम की ओर शिशु-भगवान का दर्शन होता है। शिशु-भगवान की तलहटी मे ध्यानी बुद्ध की एक बडी मूर्ति सूर्य के ताप मे तपस्या करती है। टेकरी पर एक मदिर है। उसमे तीन मूर्तियाँ हैं—पहली बुद्ध भगवान की, दूसरी धर्म भगवान् की और तीसरी सघ भगवान की। हरएक के सामने घी का दीया जलता है ; और एक कोने मे लकडी के बनाए हुए चौखट मे पीतल की एक पोली लाट खडी कर रखी है, जिसपर ऊँ　　माने पामे हुम' (ऊँ मणिपद्मेऽहम्) का पवित्र मत्र कई बार खुदा हुआ है। बौद्ध-प्रार्थना का रूप है—बुद्धं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि। संघ शरणं गच्छामि। और ये तीन मूर्तियाँ इन्ही तीन बुद्ध, धर्म, और शरण का प्रतीक है।

(२४) **सांची, भरहुत और मथुरा की शिल्पकला**—सांची, भरहुत, मथुरा, अजंता, एलोरा आदि की शिल्पकला मे लक्ष्मी की अत्यंत सुन्दर एव मनोहर मूर्तियाँ मिली हैं। सांची के शुग-कालीन स्तूप मे एक स्थान पर लक्ष्मी की कमलालय-तप-मूर्ति बहुत ही सुन्दर है। वह घने कमल-वन मे खडी है और उनके दोनो हाथो मे उत्फुल्ल कमल के फूल हैं। तोरण-द्वार पर भी लक्ष्मी के विभिन्न रूप—राजलक्ष्मी, पद्मलक्ष्मी, पद्म श्री—अकित हैं।

भरहुत की मूर्तियो मे श्रीमा अकेली हैं। उनके उठे हुए दाहिने हाथ में कमल है। लक्ष्मी से सबधित सौदय और ऐश्वय की अवधारणा का भी उसमे अतर्भाव है। स्तूप-वेदिका पर राजलक्ष्मी की आकषक आकृति उत्कीण है।

मथुरा मे प्राप्त लक्ष्मी की शिल्प-कृति सबसे अधिक कलात्मक एवं मनोहारिणी है। इसमे लय और गति का सुन्दर समन्वय द्रष्टव्य है। कुशल शिल्पी ने उस भगवती सौदय को प्रस्तर मे मूर्तिमान कर अपनी कला-शक्ति का परिचय दिया है। यह मूर्ति लखनऊ के राजकीय सग्रहालय मे सुरक्षित है। यह दूसरी सदी की कृति मानी गई है।

सांची-भरहुत-शैली का शिल्पाकन अमरावती मे हुआ है। यहाँ एक रमणी की मनोहर मूर्ति है, जिसको श्री-मूर्ति कहा जाता है। इसके चारो ओर सघन कमल के वन हैं। एक कमल-पुष्प पर लक्ष्मी घुटने पर हाथ रखकर बैठी हैं।

दक्षिण-भारत में कदल-स्थान मे क्षीरसागर मे कमल-शैय्या पर लेटी हुई लक्ष्मी की मूर्ति कलात्मक और आकर्षक है।

जयपुर मे प्राप्त एक प्रतिमा मे दो हाथियो के बीच लक्ष्मी उत्कीर्ण हैं। दोनो हाथी अपनी सूँढ़ों मे कमल लिए अभिषेक कर रहे हैं।

साँची की शिल्पकला की विशेषता :

भरहुत से एक कदम आगे बढ़कर साँची के शिल्प-चित्र मे उभरी कला यौवन मे मदमाती, लडखडाती चलती हुई रूपगर्विता नायिका की तरह अपनी सभी कलाओ से पूर्ण हो चुकी थी। जहाँ भरहुत के शिल्प-चित्र अधिक सपाट हैं, वहाँ साँची मे वे विकासशील तथा सजीव नजर आते हैं।

साँची के शिल्प-चित्रो मे मानवीय जीवन के तीन स्तर दिखाई पडते है। एक स्तर उन महान वीतराग तपस्वी, संन्यासी एव भिक्षु लोगो का है, जो इस ससार मे रहते हुए इतर जगत मे विचरते थे। उनके सामने ऐहिक सुख-सतोष और प्रयत्नो का कोई अर्थ नही था। वे एक महान प्रयत्न के लिए जीते थे—सासारिक अस्तित्व से मानवता को छुटकारा कैसे दिलाया जा सके। इस प्रकार के घनघोर तपस्या मे रत तपस्वियो के दुर्लभ चित्र यहाँ देखने को मिलते है। इनमे एक वर्ग अग्नि-पूजको का था, जो शाश्वत अग्नि को हमेशा प्रज्वलित रखना चाहते थे। साँची के पश्चिमी द्वार के तोरण के बाएँ स्तभ के भीतरी भाग में अग्नि-पूजन का एक विचित्र शिल्प अंकित है। चित्र मे दो पर्णकुटियाँ बनी हैं। एक के सामने एक तपस्वी ध्यानलीन बैठा है। दूसरी कुटी मे एक तपस्विनी है। दोनो कुटियो के बीच एक अग्नि-पात्र और हवन के लिए लकडी का चम्मच रखा है।

जीवन का दूसरा स्तर राजाओ और श्रीमन्तो का था। एकात के क्षणो मे कामी राज-परिवार का चित्रण साँची के चित्रो मे कई बार हुआ है। एक जगह चित्रण किया गया है कि राजा रानी के साथ बैठा है। राजा के हाथ मे मदिरा का पात्र है और रानी हाथ मे एक गोल आईना लिए बैठी है। दाहिनी ओर राजा और रानी प्रेमालिंगन मे बेखबर हैं। दोनो दृश्यो के बीच एक वृक्ष बना है।

तीसरा स्तर सामान्य जनता का है। वन-जीवन की झाँकी साँची के कुछ दुर्लभ शिल्प-चित्रो मे मिलती है। पूर्वी द्वार-तोरण के बाएँ स्तंभ के भीतरी भाग मे दो छोटे-छोटे मकान बने हैं, जिनकी बगल मे एक ऊँची अट्टालिका

है। घर में सेवक कार्य मे व्यस्त है। एक स्त्री ऊखल में अनाज डालकर दोनो हाथो से कूट रही है। दूसरी स्त्री कूटे हुए अनाज को सूप में पछारकर दाने को भूसी से अलग कर रही है। तीसरी स्त्री सिल पर मसाला पीस रही है। एक युवा सेवक बगल मे बैठा हुआ मसाला पीसनेवाली स्त्री का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा कर रहा है।

सांची के दाहिने द्वार-तोरण के दाहिने स्तंभ पर अंकित दृश्य अचानक ऋग्वैदिक अतीत की ओर खींच ले जाता है, जिसमे वर्णन है कि उषा लज्जा का परित्याग कर अपना वक्ष खोलकर वेश्या की भाँति नृत्य कर रही है।

साँची के पूर्वीय द्वार-तोरण पर अंकित एक दृश्य मे गुरु के अग्निहोत्र की व्यवस्था करते हुए शिष्य दिखाए गए हैं।

(२५) **भुवनेश्वर**—देवताओ की क्रीडा-भूमि उत्कल मे, भुवनेश्वर, जगन्नाथ-पुरी और कोणार्क के देवायतनो का महत्त्व प्रतिमा को लेकर है। आठवी से बारहवी सदी के बीच यहाँ विकसित होती हुई कला ने बड़े मनोहारी दृश्य उपस्थित किए थे। उस युग के शिल्पो मे चित्रित काम-क्रीडा के दृश्य लबे अर्से से आधुनिक कला-मर्मज्ञो की चिंता के विषय रहे हैं। तमाम व्याख्याएँ दी गई हैं और उन्हे तर्क की कसौटी पर कसा गया है। डॉक्टर नीहाररजन राय ने इस विषय पर बड़ा ही संगत मतव्य प्रकट किया है। इनके अनुसार जहाँ पढ़े-लिखे लोग देवा-यतनो के चित्रणो मे लज्जा अनुभव करने लगते हैं, वही एक सामान्य उडिया ग्रामीण पर ऐसी कोई प्रतिक्रिया नही होती।[1]

जन-जीवन की झाँकियाँ सर्वाधिक मात्रा मे हमे परशुरामेश्वर, स्वर्ण-जटेश्वर, लिंगराज और राजा-रानी-मदिरो के अतिरिक्त यत्र-तत्र तथा भुवनेश्वर-सग्रहालय मे देखने को मिलती हैं।

राजपूत-काल मे भी जीवन का आधार और सामाजिक व्यवस्था का मेरु-दड परिवार ही था। परशुरामेश्वर-मदिर मे एक राज-दम्पती का बहुत ही भव्य चित्रण किया गया है। एक स्थान पर एक ही स्त्री छोटे बच्चे के

---

1. शिल्पों में झाँकता जीवन—भुवनेश्वर (डॉ० रामचन्द्र वाजपेयी)
—सा० हिन्दुस्तान १९ मार्च १९६६

साथ मनोविनोद कर रही है। लिंगराज-मंदिर के एक शिल्प-चित्र में केश-प्रसाधन का दृश्य अंकित है। सेविका गृह-स्वामिनी के केशो को सँवारने में व्यस्त है। स्वामिनी के बाल सँवारती हुई सेविका का अलंकरण और केश-विन्यास स्पष्ट कर देता है कि वह अपने काम मे दक्ष और सुसंस्कृत दासी है। लिंगराज-मंदिर में अलसाई हुई सुंदरी का अंकन कलाकार की पैनी दृष्टि का परिचायक है। स्मितवदना, संगीत की लय पर झूमती तथा नृत्य करती सुंदरियाँ लिंगराज-मंदिर के दर्शक को बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। राजा-रानी-मंदिर मे वृक्ष की डाल पकडे हुए, शरीर से विपरीत दिशा मे विचित्र भंगियो मे खडी सुंदरी की मांग पर चोंच मारता हुआ मयूर और ऊपर ऊँचाई पर पेड की डाल पर बैठा एक बंदर नागरिक सौष्ठव और वन्य शालीनता का अद्भुत सम्मिलन-स्थल है। सुंदरी के अलंकार, केश-विन्यास, भव्य जूडा आदि आधुनिकाओ को भी मात कर सकते हैं।

भुवनेश्वर के शिल्प-चित्रो मे तीन मनोरम-दृश्य अंकित हैं। इनमें एक परशु-रामेश्वर-मंदिर मे है। इस शिल्प मे एक व्यक्ति, कोई चीज टोकरी मे भर रहा है। दूसरा व्यक्ति हाथ से कोई वजनी चीज उठाए हुए है। तीसरा व्यक्ति उसे एक हाथ से पकडे है। इस शिल्प का संदर्भ दैनिक जीवन की छवि अंकित करने के अतिरिक्त भी कुछ है। एक शिल्प-चित्र लिंगराज-मंदिर में कृष्णलीला का परंपरागत चित्र प्रस्तुत करता है।

उपसंहार—कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हिंदू, बौद्ध और जैन-मंदिरो तथा स्तूपो का यहाँ संक्षिप्त वर्णन किया गया है, किन्तु ऐसे तो प्रायः समस्त प्रमुख जैन-मंदिर, मूर्तिकला, चित्रकला एवं स्थापत्य-कला की दृष्टि से उल्लेखनीय होने के कारण भारत के गौरव के प्रतीक हैं। अतः इसमे संदेह नहीं कि प्रतीक-पूजा के प्रचार से भारत मे चित्र, मूर्ति तथा स्थापत्य-कला के विकास में सहायता मिली है। इसी कारण हिंदू, जैन और बौद्ध-मंदिरो की कला की तुलना मे गिरजाघर (चर्च) और मस्जिदो की कला फीकी पड गई है।

कुछ सहायक संदर्भ-ग्रंथ

१. ऋग्वेद-सहिता : प० रामगोविंद त्रिवेदी
२. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
३ ऋग्वेद का भाषा-भाष्य : पं० युधिष्ठिर मीमासक
४. ऋग्वेद का भाषा-भाष्य : प० जयदेव शर्मा
५ ऋग्वेद-सायण-भाष्यावलम्बी अनुवाद : आचार्य श्रीराम शर्मा
६ यजुर्वेद-भाष्य : ऋ० कु० रामस्वरूप शर्मा
७. ,, ,, : स्वामी दयानद सरस्वती
८. ,, ,, : प० जयदेव शर्मा
९. ,, ,, : आचार्य श्रीराम शर्मा
१०. सामवेद-सहिता : स्वामी श्रीभगवदाचार्य
११. ,, ,, : प० जयदेव शर्मा
१२. ,, ,, : आचार्य श्रीराम शर्मा
१३. (क) अथर्ववेद-सहिता : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
(ख) ,, ,, : प० जयदेव शर्मा
(ग) ,, , : आचार्य श्रीराम शर्मा
१४ वेदवाणी का विशेषाक : प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
१५. वैदिक सपत्ति : प० रघुनदन शर्मा
१६. ऐतरेय ब्राह्मण : पं० गगाप्रसाद उपाध्याय
१७ Rigveda Samhita : H. Wilson
१८. Selections from Rigveda : V G. Parniki
१९. Religion and Philosophy of Rigveda . Dr N. J. Sharda.
२० Pre-Historic Indus : Swami Shankaranand
२१. Indus People Speak : ,, ,,

२२. Chips from a German workshop : Max Muller
२३. Vedic Mythology : Macdonel
२४. Elements of Hindu Iconography : ,, ,,
२५. Unpublished Upanishads : Adyar Library, Madras
२६. 100 Upanishads : ,, ,, ,,
२७. दशोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर
२८. श्वताश्वतर उपनिषद् : ,, ,,
२९. ईशावास्याद्युपनिषद् स्वामी विद्यानन्द
३०. छान्दोग्योपनिषद् : ,, ,,
३१. बृहदारण्यक उपनिषद् : ,, ,,
३२. दशोपनिषद् : महात्मा नारायण स्वामी
३३. १०८ उपनिषद् : आचार्य श्रीराम शर्मा
३४. शैवमत : डॉ० यदुवंशी
३५. भारतीय प्रतीक-विद्या : डॉ० जनार्दन मिश्र
३६ गणेश : श्री संपूर्णानन्द
३७. पाणिनिकालीन भारत : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
३८. भक्ति का विकास : डॉ० मुंशीराम शर्मा
३९. हिंदुत्व : श्री रामदास गौड़
४०. मानव-धर्मशास्त्र : श्री इंदिरारमण शास्त्री
४१. पुराण-तत्त्व-मीमांसा : श्री कृष्णमणि त्रिपाठी
४२. पूजा-तत्त्व : म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज
४३ वाम मार्ग : श्री वंशीधर शुक्ल
४४ वैष्णव-धर्म : प्रा० बलदेव उपाध्याय
४५ निर्गुण-साहित्य और संस्कृति की पृष्ठभूमि : डॉ० मोती सिंह
४६ बौद्धधर्म और बिहार : श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'
४७. उत्तर-भारत की संत-परंपरा : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
४८. राधास्वामी-योग (भाग १)

४९. साधना के अनुभव : डॉ० चतुर्भुज सहाय
५०. विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे चित्रकला : श्री बदरीनाथ मार्तण्ड
५१. अजंता के चित्रकूट : रामकृष्ण दास
५२. मोहंजोदडो से कांगडा तक : श्री श्यामाप्रसाद चक्रवर्ती
५३. देववाद का वैज्ञानिक स्वरूप : डॉ० चमनलाल गौतम
५४. वाल्मीकि-रामायण : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
५५. ,, ,, : 'वेदवाणी' का विशेषांक
५६. महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर
५७. महाभारत-मीमांसा : श्री वैद्य

नोट—नवनीत, कादबिनी, धर्मयुग, हिंदू-विश्व, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि पत्रिकाओ के कतिपय विद्वत्तापूर्ण लेखो से भी हमे सहायता मिली है। हम इन सबके लेखकों के प्रति आभारी है।



अनुक्रमणिका

